विषय सूची

१. राजनीतिक चिंतन : अर्थ, प्रकृति और महत्व	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
२. शक्ति	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
३. सत्ता	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
४. नागरिकता	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
५. अधिकार व स्वतंत्रता	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
६. समानता व न्याय	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
७. विशिष्ट वर्ग	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
८. राजनीतिक सहभागिता	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
९. राष्ट्र व राज्य	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
१०. सरकार के रूप : एकात्मक व संघात्मक	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
११. सरकार के रूप : संसदीय व अध्यक्षात्मक	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
१२. सरकार के रूप : प्रजातंत्रीय एवं अधिनायकतंत्रीय	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
१३. भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताएं	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
१४. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
१५. राष्ट्रीय व क्षेत्रीय राजनीतिक दल	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
१६. भारत में चुनाव प्रक्रिया	लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

रूढिवादी व आलोचनात्मक राजनीतिक चिंतन से परिचित होना
राजनीतिक चिंतन की जानकारी के स्रोत पता करना

१.१ परिचय :

किसी भी देश में शासन चलाने के लिए कोई न कोई राजनीतिक सिद्धांत अपनाया जाता है। वह सिद्धांत परंपरागत राजा-महाराजाओं की परंपरा, तानाशाही या प्रजातंत्र में से कोई भी हो सकता है। इन सिद्धांतों पर लगातार चिंतन करना जरूरी है, क्योंकि परिस्थितियां लगातार बदलती हैं। इसमें अध्ययन किया जाता है कि राजनीतिक सिद्धांत का वर्तमान परिस्थितियों में कितना महत्व है तथा उनमें किस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है। उन परिवर्तनों को लागू करने के लिए किस तरह की नीतियां अपनाई जाएं, यह भी राजनीतिक चिंतन का भाग होता है। अत: राजनीतिक नीतियों के संबंध में आरंभ से सुधार तक प्रक्रिया पर किया जाने वाला विचार-विमर्श राजनीतिक चिंतन कहलाता है।

प्रस्तुत अध्याय में हम राजनीतिक चिंतन का अर्थ जानेंगे। इसके पक्ष तथा विरोध में दी गई दलीलों का पठन करेंगे तो साथ ही उसकी प्रकृति और महत्व की भी जानकारी लेंगे।

१.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में हम राजनीतिक चिंतन के अर्थ, प्रकृति व महत्व के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

-राजनीतिक चिंतन का अर्थ
-राजनीतिक चिंतन का प्रादुर्भाव
-राजनीतिक चिंतन व राजनीतिक परिस्थितियां
-राजनीतिक चिंतन की प्रमुख समस्याएं
- रूढिवादी व आलोचनात्मक राजनीतिक चिंतन
-राजनीतिक चिंतन की जानकारी के स्रोत

१.२.१ राजनीतिक चिंतन का अर्थ :

'सामान्यतया राजनीतिक चिंतन का उद्देश्य या तो वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियों का समर्थन करना होता है या उन पर प्रहार करना।' - गैटैल

राजनीतिक चिंतन के संबंध में बेकन ने लिखा है : राजनीतिक चिंतन ईश्वर को अर्पित की हुई कन्या के समान बांझ है।

लेस्ली स्टीफेन ने तो यहां तक कहा है कि, 'वे देश सौभाग्यशाली हैं जिनके पास कोई राजनीतिक दर्शन नहीं है क्योंकि राजदर्शन प्राय: निकट भविष्य में होने वाली क्रांति का सूचक होता है।' प्रोफेसर डनिंग का कहना था कि, 'जब लोगों में राजनीतिक सिद्धांत बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो तो यह समझ लेना चाहिए कि राज्य का संचालन ठीक तौर से नहीं हो रहा है।' राजनीतिक विचारकों की आलोचना करते हुए बर्कली लिखते हैं, 'राजनीतिक तत्व-चिंतन करने वाले दार्शनिक उन व्यक्तियों के समान हैं जो पहले तो पैरों से धूल उड़ाते हैं और बाद में यह कहते

हैं कि उन्हें कुछ दिखाई नहीं देता।' इस प्रकार राजनीतिक चिंतन के अध्ययन के आलोचकों की दृष्टि में राजदर्शन कोरा विचारात्मक और काल्पनिक है, यह यथार्थ की उपेक्षा करता है। इसके द्वारा जटिल प्रश्नों के कोई अंतिम और पूर्ण उत्तर नहीं दिए जा सकते।

इन आलोचनाओं में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य है। तथापि राजनीतिक चिंतन के अध्ययन की उपयोगिता और उसके महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। राजनीतिक सिद्धांतों के आधार पर संपादित क्रांतियों से अंततोगत्वा मानव-जाति को लाभ ही हुआ है और लोकतंत्र, वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं अंतरराष्ट्रीय शांति की ओर हुई प्रगति का बहुत कुछ श्रेय प्रबुद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों को है।

राजचिंतन के महत्व को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है :

1. राजनीतिक चिंतन हमारी, राज्य संबंधी जिज्ञासा को बहुत कुछ शांत करने में सहायक होता है। राज्य की उत्पत्ति, राज्य का विकास, राज्य के लक्ष्य और प्रयोजन संबंधी प्रश्नों को समझने में राजदर्शन हमारा मार्ग प्रशस्त करता है। राजनीतिक चिंतन के इतिहास को पढ़ने से हमें राजनीतिक प्रश्नों को समझाने और उनका समाधान ढूंढने की दिव्य दृष्टि मिलती है।

2. राजदर्शन के अध्ययन से हमें भूतकालिन बौद्धिक वातावरण का ज्ञान होता है। हमें अतीत की राजनीतिक घटनाओं और आंदोलनों का पता लगता है। इस परिप्रेक्ष्य में गैटेल का कथन उल्लेखनीय है : 'राजनीतिक सिद्धांत से इतिहास की व्याख्या में बहुमूल्य सहायता मिलती है। इसके अध्ययन से अतीत के मानसिक वातावरण को समझने की दृष्टि पैनी होती है और महत्वपूर्ण राजनीतिक आंदोलनों को प्रेरणा देने वाले उद्देश्यों और भावनाओं का पता लगता है। अतीत को समझने के लिए मनुष्यों के कार्यकलाप का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं बल्कि यह जानना भी आवश्यक है कि उनके विश्वास और आशएं क्या थीं। अतीत की घटनाओं का जहां तक मनुष्य की इच्छा से संबंध था, वहां तक उस इच्छा को प्रेरित करने वाले आदर्शों को समझना आवश्यक है। संस्थाओं का जो रूप होता है वह उन विचारों से निर्मित होता है जिन्हें वह मूर्त रूप देने का प्रयत्न करती है। कोई व्यक्ति मध्य युग के इतिहास को तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह पोप तथा सम्राट के बीच हुए राजनीतिक विवाद से भलीभांति परिचित न हो। इसी प्रकार हमें अमरीकी इतिहास के मध्ययुग का सही ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक हम प्रभुत्व के सिद्धान्त पर आधारित उत्तर या दक्षिण के बीच के झगड़े को नहीं समझ लेते।'

3. राजनीतिक चिंतन के अध्ययन से वर्तमान इतिहास की घटनाओं और समस्याओं के समझने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याएं अतीत की परिस्थितियों से उत्पन्न होती है। इसलिए अतीत के राजनीतिक सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करके ही हम वर्तमान को भली प्रकार समझ सकते हैं।

4. राजनीतिक चिंतन के अध्ययन द्वारा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली राजनीतिक शब्दावली एवं परिभाषाओं का यथार्थ ज्ञान होता है। राजनीति के क्षेत्र में हमारा ज्ञान परिपक्व होता है।

5. राजनीतिक विचार मानव इतिहास पर गहरा प्रभाव डालते हैं। ये सामाजिक क्रांतियों के प्रेरक होते हैं और नवीन राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। फ्रैंच राज्य क्रांति और बोल्शेविक क्रांति सामयिक राजचिंतन का ही परिणाम रही हैं। इस प्रकार की क्रांतियां मानव समाज की उन्नति करने वाली सिद्ध हुई हैं।

6. राजनीतिक चिंतन भविष्य के लिए हमारे मार्गदर्शक के रूप में भी कार्य करता है। राजनीतिक विचारकों

द्वारा समय-समय पर सामाजिक व्यवस्थाओं का निरूपण किया गया है तथा उन्हें प्राप्त करने हेतु जिन साधनों की ओर संकेत किया गया है, उनका यह कार्य हमें भविष्य में अपने सामाजिक विकास की दिशा निर्धारित करने में सहायता करता है। प्लेटो, मार्क्स और गांधी जैसे विचारकों ने न केवल राजनीतिक विचार ही प्रस्तुत किए वरन नूतन राजनीतिक व्यवस्था के प्रतिमान भी प्रस्तुत किए। उन्होंने समाज के राजनीतिक पक्ष पर ही नहीं अपितु अन्य पक्षों पर भी अपने विचार प्रतिपादित किए और एक संपूर्ण समाज व्यवस्था का रेखाचित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। हम आवश्यकतानुसार उन्हें अपनाकर नए समाज के निर्माण में उनसे सहायता प्राप्त कर सकते हैं। राजनीतिक चिंतन का अध्ययन इस दृष्टि के लिए भी हमारे लिए बहुत उपयोगी है।

7. वर्तमान समय की राजनीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों को समझने के लिए भी अतीत के राजनीतिक चिंतन की जानकारी आवश्यक है। आज की समस्याएं अतीत की परिस्थितियों की उपज है और जिन राजनीतिक सिद्धान्तों पर आज अमल किया जा रहा है वे अतीत के चिंतन के विकास के परिणाम हैं। शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का संयुक्त राज्य अमेरिका के वास्तविक शासन पर निरंतर प्रभाव पड़ता आया है और शक्ति संतुलन का सिद्धान्त आज भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति का आधारभूत सिद्धान्त बना हुआ है।

8. अंत में, राजनीतिक चिंतन एक अत्यंत उच्च कोटि की मानसिक सिद्धि है। अन्य प्रकार के दार्शनिक चिंतन की भांति, इसका भी, सिद्धान्तों की व्यावहारिकता के अतिरिक्त, अपना एक विशेष आकर्षण और मूल्य है। बुद्धिमान लोग जिस सत्ता के अंतर्गत जीवन बिताते हैं, उसको समझने, उसके संगठन और कार्यों का विश्लेषण करने तथा राजनीतिक जीवन के सर्वोत्तम रूप के संबंध में चिंतन करने के इच्छुक रहते हैं। प्लेटो, अरस्तू, एक्विनाज, लॉक, रूसो, कांट, मिल आदि विश्व के महानतम विचारकों ने राजनीतिक पहलू पर ध्यान केंद्रित किया, इसी से प्रकट होता है कि यह एक महत्वपूर्ण मानसिक साधना है।

गैटेल के शब्दों में 'राजनीतिक चिंतन एक अति उच्च कोटि की मानसिक सिद्धि को व्यक्त करता है। सभी युगों के अनेक महानतम विचारकों ने दर्शन के राजनीतिक पहलू पर अपना ध्यान केंद्रित किया – यह तथ्य मानसिक साधना के रूप में इसके महत्व का प्रमाण है।' वेपर के शब्दों में 'राजदर्शन अनेक कालों का परिमार्जित विवेक है।'

१.२.२ राजनीतिक चिंतन का प्रादुर्भाव -

मनुष्य को छोड़कर लगभग सभी प्राणी अपने प्राकृतिक वातावरण की कृपा पर जीवित रहते हैं। जिन परिस्थितियों में वे परिपोषित होते हैं उनके निर्माण में स्वयं उनका कोई हाथ नहीं होता, न वे अपने प्रयत्न से इनमें विशेष परिवर्तन कर सकते हैं। वे न अपना को उद्देश्य बनाकर जीवन बिता सकते हैं। वे प्रकृति निर्मित परिस्थितियों में ही पूरा जीवन बिताते हैं।

इसके विपरीत मनुष्य अपने वातावरण में परिवर्तन कर सकता है और यही कारण है कि वह आज सब प्राणियों से आगे है। आदिम काल में वह भी निम्न कोटि के प्राणियों की भांति प्रकृति की कृपा पर जीवित रहता था और प्राकृतिक विकास के नियमों के अनुसार परिवर्द्धित होता था। लेकिन आज मनुष्य के जीवन पर अनेक ऐसी परिस्थितियों का प्रभाव है जिनको बदलने में वह सक्षम है। जिस प्रकार मनुष्य ने प्रकृति का परीक्षण किया, उसके नियमों को समझा, उसकी शक्तियों को अपने वश में किया और उसके साधनों का प्रयोग किया, उसी प्रकार उसने अपने विश्वासों, सामाजिक रीति-रिवाजों और संस्थाओं पर संदेह प्रकट करना आरंभ किया, उसके स्वभाव की परीक्षा की, उसकी सत्ता को चुनौती दी और अंत में समझ-बूझकर परिवर्तन और प्रगति करने का यत्न किया। धीरे-

धीरे उसे सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं के अस्तित्व का बोध हुआ और यह समझ में आया कि उनमें अपने उद्देश्य के अनुकूल परिवर्तन और सुधार करने की संभावना है।

मनुष्य की सामाजिक संस्थाओं में राज्य सबसे अधिक व्यापक और शक्तिशाली है। जहां भी मनुष्य रहता है वहां किसी न किसी प्रकार का संगठन, सत्ता होती है तथा विधान और नियम लागू किए जाते हैं। इसलिए मानवीय विकास की प्रक्रिया में यह अनिवार्य था कि मनुष्य इस संस्था (राज्य) की जांच करे, उसकी उत्पत्ति का पता लगाए, उसकी सत्ता को चुनौती दे अथवा उसका समर्थन करे और उसके कार्यक्षेत्र के संबंध में वाद-विवाद करे। इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप राजनीतिक चिंतन का जन्म हुआ। अब मनुष्य सरकार और विधि की, जिनका जन्म और विकास पहले अचेतन और नियंत्रित ढंग से हुआ था, अपनी बुद्धि से समीक्षा करने लगा। जैसे-जैसे निरीक्षण और तार्किक विश्लेषण शक्तियां बढ़ती गईं, वैसे ही राजनीतिक चिंतन का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। राज्य के ब्रह्म स्वरूप अर्थात संगठन और कार्यकलाप के परिवर्द्धन के साथ-साथ उनके सैद्धान्तिक पक्ष का भी विकास हुआ - मनुष्यों के विचारों और परंपराओं तथा साहित्य में यह पक्ष प्रतिबिंबित होने लगा।

राजनीतिक चिंतन क्या है ? (राजनीतिक चिंतन की विषय-वस्तु)

सीएल वेपर के अनुसार, 'राजनीतिक चिंतन राज्य, उसकी संरचना, प्रकृति और उसके ध्येय से संबंधित चिंतन है।' राज्य हमारे सामाजिक जीवन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रभावी अंग है। सभी मनुष्य किसी न किसी राज्य में रहते हैं और सदैव से राजसत्ता के अधीन रहते आए हैं। अरस्तू ने सत्य ही कहा है कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और राज्य व्यक्ति से भी पुराना है।

राज्य एवं उसके सामाजिक संस्थानों का सामाजिक जगत से क्या संबंध है, राज्य का प्रादुर्भाव कब और क्यों हुआ, राज्य का स्वरूप एवं इसकी उपयोगिता क्या है, राज्य का लक्ष्य या कार्यक्षेत्र क्या और कहां तक है, राज्य की प्रभुसत्ता का स्वरूप कैसा है - आदि प्रश्नों पर शताब्दियों से चिंतन होता आ रहा है और आज भी चिंतन-मनन हो रहा है। इन सबके कल्पविकल्प को हम राजनीतिक चिंतन कहते हैं। संक्षेप में, राज्य संबंधी मौलिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श एवं मीमांसा करना ही राजनीतिक चिंतन है और यह चिंतन उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं राज्य।

राज्य के अध्ययन में प्रमुख स्थान शासक और शासितों के संबंध का है, जो मानक जीवन का एक अटल सत्य है और उसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहलू है। प्रत्येक काल और विश्व के सभी भागों में मनुष्य किसी न किसी प्रकार के शासन के अधीन रहे हैं। राज्य अथवा शासन संस्थाओं द्वारा शासितों पर प्रयोग की जाने वाली राज सत्ता का क्या औचित्य है, यह राजनीतिक चिंतन का अन्य प्रमुख प्रश्न रहा है। फिलिस डॉयल ने लिखा है, 'मनुष्य की प्रकृति तथा उसके कार्य, शेष विश्व से उसका संबंध जिसमें संपूर्ण जीवन की विवेचना स्वत: निहित है और इन दोनों बातों का परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली मनुष्य की अपनी सह-जातियों के संबंध की समस्या ही राजनीतिक दर्शन का प्रमुख विषय है और इसके अंतर्गत राज्य की प्रकृति, उसका लक्ष्य तथा उसके कार्य समाविष्ट हैं।'

१.२.३ राजनीतिक चिंतन और राजनीतिक परिस्थितियां -

गैटेल के अनुसार, 'किसी युग के राजनीतिक विचारों और वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियों में गहरा संबंधी होना चाहिए।' अधिकतर राजनीतिक चिंतन के प्रादुर्भाव के पीछे दो कारण रहे हैं - या तो उनका जन्म

तत्कालीन मनीषियों ने आदर्श राज्य के संबंध में चिंतन किया है अथवा अपने आदर्शों के आधार पर राजनीतिक संस्थाओं का काल्पनिक चित्र खींचा है। किन्तु ध्यान से समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इस प्रकार के राजनीतिक विचार या सिद्धान्त भी अपने समय के राजनीतिक आदर्शों पर आधारित थे और उनका उद्देश्य तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न विशेष दोषों को दूर करना ही था। एथेन्स के लोकतंत्र द्वारा सुकरात को विषपान का दंड दिए जाने की घटना ने प्लेटो को बड़ा मर्मांतक आघात पहुंचाया था। इसलिए उसने अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में तत्कालीन लोकतंत्र की कटु आलोचना की और एक ऐसी आदर्श नगर व्यवस्था प्रस्तुत जिसमें शासक व्यक्ति एक सुनियोजित एवं निश्चित ढंग से प्रशिक्षित दार्शनिक हो। टॉमस मोर की यूटोपिया (आदर्श समाज) के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। इंग्लैंड में जब कृषि के स्थान पर भेड़ पालने के उद्योग का विकास हुआ तो गहरी सामाजिक उथल-पुथल और अशांति उमड़ पड़ी, यही अशांति यूटोपिया की पृष्ठभूमि है। साधारणतया राजनीतिक सिद्धान्त वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियों के ही सीधे परिणाम होते हैं। वे वास्तविक राजनीतिक विकास के पीछे निहित विचारों और उद्देश्यों का ही प्रतिबिंब होते हैं और उन्हीं का निर्वाचन करते हैं। मनुष्य जिस चीज को अपनी संस्थाओं की तात्विक विशेषता और आत्मा समझते हैं उसी का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। वे अपने युग की परिस्थितियों और बौद्धिक दृष्टिकोण के द्योतक होते हैं। साथ ही राजनीतिक सिद्धान्तों का राजनीतिक विकास पर भी प्रभाव पड़ता है। वे परिस्थितियों की उपज मात्र नहीं होते, बल्कि मनुष्य को युगीन राजनीतिक संस्थाओं में रूपांतर करने के लिए भी प्रेरित करते हैं। कभी कभी राजनीतिक सिद्धान्त का पहले जन्म होता है और फिर उसके अनुरूप संस्थाएं बनती हैं और कार्य होने लगता है। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्त कारण भी होते हैं और परिणाम भी।

राजनीतिक सिद्धान्त का अपने समय की राजनीतिक संस्थाओं से ही नहीं बल्कि अन्य प्रकार की विचारधाराओं से भी संबंध होता है। जिस प्रकार हम किसी व्यक्ति के राजनीतिक या आर्थिक जीवन को उसे अन्य हितों से अलग करके नहीं समझ सकते वैसे ही राजनीतिक चिंतन को विज्ञान, दर्शन, नैतिकता, धर्म, आर्थिक सिद्धान्त, साहित्य और यहां तक कि परम्पराओं, मतवादों, दुर्भावों और अंधविश्वासों से अलग नहीं किया जा सकता। राजनीतिक चिंतन का स्वरूप बहुत कुछ मानसिक विकास की अवस्था पर निर्भर होता है। उदाहरण के लिए मध्य युग के राजनीतिक चिंतन पर तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्तों का मुख्य प्रभाव था और आधुनिक काल की राजनीतिक विचारधाराओं पर आर्थिक सिद्धान्तों का बहुत प्रभाव है। इसलिए राजनीतिक चिंतन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करते समय हमें वास्तविक राजनीतिक संस्थाओं के विकास पर ही नहीं अपितु अन्य क्षेत्रों में मनुष्यों के विचारों की प्रगति को भी ध्यान में रखना चाहिए।

राजनीतिक सिद्धान्त सदैव परिस्थितियों की उपज ही नहीं होते अपितु ये नवीन राजनीतिक परिस्थितियों को जन्म भी देते हैं। रूसो न होता तो फ्रांस राज्य क्रांति न होती। उसने अपनी पुस्तक सामाजिक संविदा में सामाजिक संविदा सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा फ्रांस राजसत्ता के प्रति व्याप्त असंतोष को बल प्रदान किया और फ्रांस राज्य क्रांति को गति प्रदान की।

कहने का तात्पर्य यह है कि अतीत में वास्तविक परिस्थितियों तथा विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर राजनीतिक चिंतन का विकास हुआ, वर्तमान काल में उसका संबंध उन समस्याओं से है जिनका हमें दिन-प्रतिदिन सामना करना पड़ता है।

१.२.४ राजनीतिक चिंतन की प्रमुख समस्याएं :

यदि हम उन समस्याओं का विश्लेषण करें जो राजनीतिक चिंतन का विषय रही हैं तो ज्ञात होगा कि किसी एक युग में जिन समस्याओं पर जोर दिया गया वे दूसरे युगों की समस्याओं से बहुत भिन्न थीं। मध्ययुग में राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ताओं के बीच प्रभुत्व के लिए चलने वाला संघर्ष विवाद का मुख्य केंद्र था, 17वीं और 18वीं शताब्दी में राजतंत्रीय तथा लोकतांत्रिक सिद्धान्तों में लोगों को अधिक रूचि थी, वर्तमान युग में राज्य के कार्यक्षेत्र को विशेष महत्व दिया जा रहा है और विशेषकर राजनीतिक तथा आर्थिक हितों के बीच संघर्ष विवाद का विषय बना हुआ है।

विभिन्न युगों की राजनीतिक परिस्थितियां एक-दूसरे से इतनी भिन्न होती हैं कि एक समय किसी समस्या का जो अर्थ होता है वह दूसरे युग में पूर्णतया बदल जाता है। उदाहरण के लिए 18वीं शताब्दी के उदारवादी विचार व्यक्तिवाद के पक्ष में इसलिए थे कि वे गैर-जिम्मेदार और निरंकुश राजाओं द्वारा नियंत्रित राज्यों के कार्यक्षेत्र को सीमित करना चाहते थे। किन्तु आज इसी प्रकार का विचारक मर्यादित समाजवादी दृष्टिकोण को अपना सकता है और राजकीय नियमन तथा नियंत्रण के प्रसार के पक्ष में हो सकता है। जब राजशक्ति राजाओं के हाथ से निकलकर जनता के हाथों में आ गई तो फिर उससे डरने का कारण भी जाता रहा और इसलिए लोग सोचने लगे कि राजा कोई अत्याचारी नहीं है जिसके कार्यों पर अंकुश लगाया जाए, बल्कि जनता का सेवक है और उसके कार्यों से सार्वजनिक कल्याण की अभिवृद्धि होती है। इसलिए उसके कार्यक्षेत्र को विस्तृत करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ऐसे बहुत कम विचारक हुए हैं जिन्होंने राज्य विषयक एक व्यापक, अविरल और सुसंगत सिद्धान्त का निर्माण करने का प्रयत्न किया हो। साधारणतया लोगों की रूचि राजनीतिक जीवन के किसी ऐसे विशेष पहलू में रही है जो उसके समय में महत्व को समझा जाता था। इसलिए उन समस्याओं की, जिनकी राजनीतिक सिद्धान्तों ने हल करने का प्रयत्न किया है, एक संपूर्ण और युक्तिसंगत रूपरेखा प्रस्तुत करना बहुत कठिन है। यहां पर कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा, विशेषकर उनका जिनके विषय में बार-बार चिंतन किया गया है :

1. राज्य की उत्पत्ति की समस्या : राजय की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचारकों ने बहुत ध्यान दिया है। प्राचीन काल में जब लोगों की विवेचन शक्ति अविकसित थी और ऐतिहासिक ज्ञान भी नहीं के बराबर था, राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति का कारण ढंढ निकालने के अनेक प्रयत्न किए गए। जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए उनमें तीन प्रमुख थे - पहला दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त था। इसके प्रतिपादकों का कहना था कि राज्य ईश्वर की सत्ता से कायम किया गया था। दूसरा, शक्ति सिद्धांत था। इसको मानने वालों का मत था कि शक्तिशाली शक्तियों ने बलपूर्वक दुर्बलों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। तीसरा, सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत था। इसके अनुसार व्यक्तियों ने जान-बूझकर ऐच्छिक समझौते अथवा सम्मति से राज्य का निर्माण किया। ये सिद्धांत संतोषजनक नहीं कहे जा सकते। अभी हाल ही में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के प्रादुर्भाव और विकासवाद के सिद्धान्त के प्रचार के कारण राज्य की उत्पत्ति का संतोषजनक सिद्धान्त प्रतिपादित करना संभव हो सकता है। फिर भी राजनीतिक जीवन के अत्यंत प्रारंभिक काल के विषय में हमारा ज्ञान अभी अधूरा है और इसलिए अनेक प्रश्न अब भी विवादग्रस्त हैं, तो भी सामान्यतया आधुनिक विकासवादी सिद्धांत के आधार पर यह माना जाता है कि राज्य का निर्माण न तो ईश्वर द्वारा हुआ और न ही मनुष्य ने जान-बूझकर विजय अथवा समझौत से उसका निर्माण किया गया बल्कि मनुष्य की व्यवस्था और सुरक्षा की स्वाभाविक आवश्यकता के परिणामस्वरूप

राज्य की संस्था का शनैः-शनैः विकास हुआ।

2. राज्य के प्रति भक्ति का महत्वपूर्ण प्रश्न : उत्पत्ति के प्रश्न के साथ राज्य के प्रति भक्ति का महत्वपूर्ण प्रश्न संबद्ध है। कुछ अराजकतावादियों को छोड़कर सभी लेखक किसी न किसी प्रकार की राजशक्ति की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, किन्तु इस राजशक्ति के स्वभाव और रूप के संबंध में वे एकमत नहीं हो सके हैं। इससे वैधता का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है जिसे संपूर्ण राजनीतिक चिंतन की आत्मा कहना चाहिए। रूसो ने इस प्रश्न को अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार रखा, 'मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है जबकि वह सर्वत्र बंधन में पड़ा हुआ दिखाई देता है। इस चीज को वैध कैसे बनाया जा सकता है?'

इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिए गए हैं। कुछ सैद्धांतिकों के अनुसार राज्य के प्रति व्यक्ति की भक्ति ईश्वरीय विधान पर आधारित है। एडमण्ड बर्क का कहना था कि ईश्वर ने हमें हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं बल्कि दैवी योजना के अनुसार हमारे अपने-अपने स्थानों पर नियुक्त और विनियोजित किया है और उसका यह कठोर विधान है कि हम अपने स्थान से संबद्ध कार्य (स्वधर्म) को संपादित करें। कुछ विद्वानों जिनमें अरस्तू भी सम्मिलित है, का कहना है राज्य मनुष्य की जन्मजात राजनीतिक प्रवृत्ति का आवश्यक परिणाम है। उपयोगितावादियों ने उपयोगिता के आधार पर राज्य को उचित ठहराया है। ट्रीटस्के आदि विचारकों ने निःसंकोच भाव से शक्ति को राज्य की सत्ता का आधर माना है। उनके मतानुसार शक्ति ही राज्य का अधिकार है। कुछ अन्य विद्वान राज्य को मनुष्य की वास्तविक इच्छा का मूर्त रूप मानते हैं। इस मत के अनुसार राज्य व्यक्ति की इच्छा से सार्वभौम तथा स्थाई तत्व का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए राज्य की आज्ञा का पालन करते समय व्यक्ति वास्तव में अपनी सर्वोत्तम वृत्तियों का ही अनुगमन करता है।

3. राज्य के आकार की समस्या - एक विचारणीय प्रश्न रहा है कि राज्य का आकार कितना हो। प्राचीन यूनानी विचारक राज्य के सीमित आकार और उसकी सीमित जनसंख्या के पक्ष में थे। प्लेटो ने लॉज में अपने आदर्श नगर राज्य के निवासियों की संख्या 54 निश्चित की थी। प्राचीनकाल में छोटे-छोटे नगर राज्य थे। रोमन साम्राज्य की स्थापना के बाद छोटे राज्यों का स्थान विशाल राज्यों ने ले लिया। मध्ययुग के अंत में राष्ट्रीय राज्यों का जन्म हुआ और आज महाविनाश के इस युग में विश्वशांति के समर्थन उनके विचारक विश्व राज्य की स्थापना पर बल दे रहे हैं।

4. राज्य के लक्ष्य की समस्या - राजनीतिक चिंतन की यह एक प्रमुख समस्या है कि राज्य का लक्ष्य क्या हो? कुछ दार्शनिक राज्य को मानव की सर्वोच्च कल्याणकारी सर्वोत्कृष्ट मानवीय संस्था मानते हैं। इसके विपरीत अराजकतावादी राज्य को मानव-विनाशक संस्था मानते हुए इसकी शीघ्र-अतिशीघ्र समाप्ति चाहते हैं। वे राज्य को 'मानव मस्तिष्क पर एक घोर कलंक और उसके वक्ष स्थल पर एक भारी भार' समझते हैं। इन दो परस्पर विरोधी ध्रुवों के बीच कुछ ऐसे मध्यमार्गी हैं जो राज्य को बुरा मानते हुए भी उसके अस्तित्व को आवश्यक समझते हैं किन्तु ये लोग उसके कार्यक्षेत्र को सीमित कर देना चाहते हैं। ये लोग जनपालक के रूप में राज्य की समाप्ति तथा जनरक्षक के रूप में उसे आवश्यक समझते हैं।

5. कानून के स्वरूप की समस्या - कानून के संबंध में उठने वाले प्रमुख प्रश्न हैं - कानून का स्वभाव क्या है? कानून निर्माण का अधिकार किसे है? कानून शासक की इच्छा की अभिव्यक्ति है या जनता की सामान्य इच्छा की? कानून, स्वतंत्रता और व्यक्ति में क्या संबंध है?

6. संप्रभुता संबंधी समस्या - राजनीतिक चिंतन का एक प्रमुख प्रश्न संप्रभुता से संबंधित है। प्राचीन

विचारक विधि को प्रभुत्व संपन्न मानते थे, किन्तु राष्ट्रीय राजतंत्रों के उदय होने पर शासक को राज्य का प्रतीक माना जाने लगा और प्रभु तथा प्रजा के बीच संबंध को राज्य का मुख्य संबंध स्वीकार किया गया। आगे चलकर जब राजा की शक्ति को पर प्रहार हुआ तो लोक प्रभुत्व के सिद्धांत की उत्पत्ति हुई जिसके अनुसार राजनीतिक शक्ति को समस्त नागरिकों में सामूहिक रूप से निहित माना गया और शासक के वैयक्तिक रूप से नहीं, बल्कि राज्य को वैध पुरुष के रूप में प्रभु स्वीकार किया गया। किन्तु लोक प्रभुत्व का स्वभाव अस्पष्ट और विधि की परिधि से परे था, इसलिए 19वीं शताब्दी में प्रभुत्व को निश्चित स्थान में स्थित करने के अनेक प्रयत्न किए गए। उस समय तक संविधान द्वारा शक्तियों का पृथक्करण होने लगा था। इसी पृथक्करण के आधार पर सरकार के विभिन्न अंगों में प्रभुत्व को स्थित करने का यत्न हुआ। लास्की ने तो यहां तक कह डाला कि यदि सर्वप्रभुत्व संपन्नता की समस्त धारणा का परित्याग कर दिया जाए तो वह राजनीतिशास्त्र के लिए चिरस्थायी लाभकारी सिद्ध होगा।

7. राज्य के कार्यकलापों के निर्धारण के बारे में समस्या : राज्य के कार्यकलापों के निर्धारण के संबंध में भी राजनीतिक चिंतकों में गहरा मतभेद रहा है। एक ओर ऐसे व्यक्तिवादी हैं जो राजसत्ता के न्यूनतम प्रयोग के पक्ष में हैं तो दूसरी ओर समाजवाद के समर्थक हैं। इन दो अतिवादी विचारधाराओं के बीच में अनेक मत-मतान्तर हैं। राज्य के कुछ काम ऐसे हैं जिन्हें सभी लोग राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक मानते हैं किन्तु बहुसंख्यक ऐच्छिक कार्यों के संबंध में भारी विवाद चल रहा है।

8. सरकार संबंधी समस्या : सरकार राज्य की आत्मा है। यह राज्य का क्रियात्मक रूप है। यह वह मशीन है जो राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करती है। सरकार का संगठन कैसा होना चाहिए? सरकार के तीनों अंगों - कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका में परस्पर क्या संबंध होने चाहिए? आदि प्रश्न राजनीतिक मनीषियों को प्रारंभ से ही सोचने के लिए मजबूर करते रहे हैं।

9. अतंरराष्ट्रीय संबंधी समस्या - अनेक विचारकों ने राज्य के पारस्परिक संबंधों पर भी बहुत कुछ चिंतन किया है। फिर भी राजनीतिक चिंतन की यह प्रमुख समस्या रही है कि विविध राज्यों में परस्पर उचित संबंधों का क्या आधार होना चाहिए? राज्यों में आपसी सहयोग कैसे विकसित किया जाए?

संक्षेप में, उपरोक्त समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में हमें राजनीतिक चिंतन के स्वरूप और स्वभाव की झांकी मिलती है। इन समस्याओं पर राजनीतिक विचारकों ने अपनी-अपनी व्यक्तिगत रूचि और परिस्थितियों के अनुसार विचार प्रकट किए हैं। सभी विचारकों ने सभी समस्याओं पर चिंतन भी नहीं किया। कभी-कभी तो न केवल दार्शनिक विशेष अपितु युग विशेष तक किसी एक विशिष्ट समस्या के समाधान में लगे रहे हैं। जैसा कि फिलिस डॉयल ने लिखा है, 'कभी मानव स्वभाव जैसे कि पुनरूत्थान युग में, कभी धर्मशास्त्र जैसे कि मध्य युग में अथवा कभी राज्य की प्रकृति जैसे कि प्लेटो के समय में यूनान में, मानव चिंतन-मनन का सर्वोपरि केंद्र बिन्दु रहा है।'

१.२.५ रूढ़िवादी (पुरातनपोषी) और आलोचनात्मक (प्रगतिशील) राजनीतिक चिंतन :

सामान्यतया राजनीतिक चिंतन का उद्देश्य या तो विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियों का समर्थन करना होता है अथवा उन पर प्रहार करना, इसलिए मोटे तौर पर हम उसे दो भागों में बांट सकते हैं - रूढ़िवादी (पुरातनपोषी) और आलोचनात्मक (प्रगतिशील)। पुरातनपोषी सिद्धांतों का प्रादुर्भाव तब होता है जब लोग जिस राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत रहते हैं, उसको उचित ठहराने और कायम रखने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों को जन्म देने और उनका समर्थन करने वाले वे वर्ग होते हैं जिनके हाथों में राज्य की शक्ति होती है

और जिनको विद्यमान राजव्यवस्था से लाभ होता है। वे उस मानसिक प्रवृत्ति का भी प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके कारण लोग कानून तथा व्यवस्था से प्रेम करते और गड़बड़ी तथा परिवर्तन से घबराते हैं। इस प्रकार के सिद्धांत का सर्वोत्तम उदाहरण दैवी अधिकारों का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार विद्यमान सत्ता का प्रतिरोध करना अपराध ही नहीं बल्कि पाप भी था, इसलिए यह राज्य के अधिकारियों तथा चर्च के नेताओं, दोनों के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। राजनीतिक चिंतन के इतिहास में इस सिद्धान्त के स्वेच्छाचारी शासन के समर्थक और सुधार के विरोधी की भूमिका अदा की।

पुरातनपोषी सिद्धांतों के समर्थक के हृदय में बदलती हुई परिस्थितियों को देखकर जो भाव उत्पन्न होते हैं वे साधारण खेद से लेकर घबराहट तक पहुंच जाते हैं। वे अतीत के एक स्वर्णयुग का चित्र खींचने और विश्वास करने लगते हैं कि संसार नाश की ओर जा रहा है और लौटकर अच्छे पुराने युग में पहुंचने की कामना करने लगते हैं। इसी रूप में पुरातनपोषी सिद्धान्त प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं और बहुधा विलुप्त हो जाते हैं, यद्यपि परिवर्तन को रोकने के लिए वे अंत तक लड़ते और कठिनाई से मरते हैं।

'आलोचनात्मक सिद्धांतों' का प्रादुर्भाव विद्यमान व्यवस्था के विरोध के रूप में होता है और वे विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियों को बदलने के प्रयासों का समर्थन करते हैं। ऐसे सिद्धांतों में कुछ तो आदर्ण व्यवस्था के दार्शनिक और काल्पनिक चित्र होते हैं जिनका न तो वास्तविक जीवन से कोई संबंध होता है और न व्यवहार में लाए जाने की कोई संभावना होती है। किन्तु दूसरी ओर सुधारकों के ठोस आदर्श भी देखने को मिलते हैं जिनका उद्देश्य कुछ प्रचलित दोषों को दूर करके अपेक्षित ढंग से पुनर्निर्माण करना होता है। इन दूसरे ढंग के सिद्धांतों में से कुछ तो राजनीतिक संगठन के किसी एकाकी पहलू में परिवर्तन करना और सरकार के कार्यों में थोड़ा-बहुत हेर-फेर करना चाहते हैं और कुछ राजनीतिक पुनर्संगठन की व्यापक योजनाएं प्रस्तुत करते अथवा नितांत नए ढंग की राजनीतिक व्यवस्था का सृजन करना चाहते हैं। उनके समर्थकों में से कुछ तो धीरे-धीरे और वैध तरीकों से काम करना पसंद करते हैं और कुछ तात्कालिक क्रांतिकारी तरीकों में विश्वास करते हैं।

यह स्पष्ट है कि आलोचनात्मक सिद्धांतों का तब तक प्रादुर्भाव और व्यापक प्रचार नहीं हो सकता जब तक लोगों की राजनीतिक चेतना का काफी सीमा तक विकास नहीं हो जाता और जब तक उनको विचार तथा विवाद की स्वतंत्रता उपलब्ध नहीं होती। ऐसे सिद्धांतों का समर्थन बहुधा वे लोग करते हैं जिनके हाथों में राजनीतिक शक्ति नहीं होती, जो विद्यमान व्यवस्था के अंतर्गत सुखी और समृद्ध नहीं होते और जिन्हें परिवर्तन द्वारा अपनी दशा में सुधार करने की आशा होती है। अपने श्रेष्ठतम रूप में आलोचनात्मक सिद्धांत रचनात्मक होता है क्योंकि वह तथ्यों का सामान्यीकरण ही नहीं करता बल्कि प्रवृत्तियों का मूल्यांकन भी करता है। आलोचनात्मक चिंतन पुराने जर्जरित विचारों का मूलोच्छेदन करके उनके स्थान पर भविष्य के लिए नए आदर्श प्रस्तुत करता है। ऐसे सिद्धांत विद्यमान सत्ताधारियों के लिए घातक होते हैं, इसलिए मानव इतिहास के अधिकांश काल में उनका विरोध व दमन किया गया है।

आलोचनात्मक राजनीतिक चिंतन का एक उदाहरण लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा और प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत था। यह सिद्धांत 17वीं शताब्दी की इंग्लैंड की क्रांति और 18वीं शताब्दी की अमेरिकी तथा फ्रांसिसी क्रांतियों का आधार बना। इसने राजाओं के दैवी अधिकारों के सिद्धांत का खंडन किया और क्रांति तथा लोक-प्रभुत्व को उचित ठहराया। आधुनिक समाजवादी सिद्धांत आलोचनात्मक चिंतन के अन्य उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

पुरातनपोषी तथा आलोचनात्मक दोनों ही राजनीतिक सिद्धांतों में शक्ति तथा कमजोरियां होती हैं। पुरातनपोषी सिद्धांत सार्वजनिक शांति और स्थिरता कायम रखने में बड़े सहायक होते हैं, लेकिन बहुधा वे बहुअपेक्षित सुधारों को रोकने अथवा उनके आने में विलंब उत्पन्न करते हैं। आलोचनात्मक सिद्धांत गतिहीनता को दूर करने तथा स्वस्थ राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक होते हैं। राजनीतिक चिंतन में पुरातनपोषी तथा उग्रवादी विचारों की अवांछनीय कट्टरता से बचना और दोनों के बीच उचित संतुलन कायम रखना कठिन होता है। परिणाम यह होता है कि जब एक दिशा में अति हो जाती है तो उसके विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया दूसरे छोर से जा टकराती है।

१.२.६ राजनीतिक चिंतन की जानकारी के साधन -

अतीत के राजनीतिक चिंतन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें अनेक साधनों का सहारा लेना पड़ेगा। किसी भी काल में राज्य विषयक सिद्धांत सरल और सर्वमान्य सिद्धांतों की शृंखला के रूप में प्रकट नहीं हुआ। कतिपय प्रश्नों पर इतना मतैक्य देखने को मिलता है कि उस समय के राजनीतिक सिद्धांतों के संबंध में निश्चयपूर्वक कहना अनुचित नहीं होगा, किन्तु अन्य प्रश्नों पर विरोधियों में गहरा मतभेद था और उस मतभेद का आधार भी स्पष्ट था। कुछ प्रश्नों पर लोगों ने अपूर्ण और अनिर्णायक ढंग से विचार किया, इसलिए उनके संबंध में अनेक प्रकार के मतभेद देखने को मिलते हैं। अत: राजनीतिक चिंतन का अध्ययन करते समय हमें मुख्यत: उन सिद्धांतों पर ध्यान देना चाहिए जिनका इतना व्यापक प्रभाव था कि वे अपने समय के बौद्धिक वातावरण का अंग बन चुके थे और उन पर परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए जो प्रत्येक युग की प्रधान समस्याओं के चारों ओर केंद्रित थे।

राजनीतिक सिद्धांतों की जानकारी का मुख्य साधन उन दार्शनिकों की रचनाएं हैं जिन्होंने अपने युग के राजनीतिक चिंतन को व्यवस्थित ढंग से लेखबद्ध किया। प्लेटो से लेकर वर्तमान समय तक ऐसे विचारकों की लंबी सूची है। कुछ ने केवल राजनीति दर्शन पर अपना ध्यान केंद्रित किया और कुछ ने संपूर्ण दर्शन को लिया और उसके अंतर्गत प्रसंगवश राज्य विषयक सिद्धांत पर प्रकाश डाला। ऐसे लेखकों ने अपनी रचनाओं में अपने पूर्वगामियों और समसामयिकों के विचारों को ही सुसम्बद्ध नहीं किया बल्कि बहुधा नए सिद्धांत भी प्रतिपादित किए जो आगे चलकर सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत किए गए।

किन्तु अनन्य रूप से इस साधन पर निर्भर रहना उचित नहीं है, क्योंकि इससे हमें केवल राजनीतिक साहित्य का इतिहास उपलब्ध हो सकता है, राजनीतिक चिंतन का नहीं। राजनीतिक दार्शनिक व्यावहारिक राजनीतिक जवीन से इतने दूर रहते हैं अथवा अपनी संस्थाओं से इतने अधिक चिपटे हुए होते हैं कि उनके लिए सही दृष्टिकोण अपनाना कठिन होता है। कुछ विचारकों पर अतीत के सिद्धांतों का अथवा अपने निजी पूर्वाग्रहों का इतना प्रभाव होता है कि वे अपने समय के राजनीतिक चिंतन का सच्चा चित्र नहीं प्रस्तुत कर सकते। इसलिए तत्कालीन सामान्य मानसिक पृष्ठभूमि के प्रसंग में राजनीतिक चिंतन का इतिहास समझने के लिए हमें इसके अतिरिक्त अन्य साधनों का सहारा लेना पड़ेगा।

राज्यों के आधिकारिक प्रलेख भी राजनीतिक चिंतन की जानकारी के मूल्यवान साधन होते हैं। लिखित संविधान, परिनियम, अध्यादेश, न्यायालयों के निर्णय, अधिकार पत्र, विभागीय रिपोर्ट, संधियां, राजनयिक पत्र-व्यवहार, राजकीय कागजात आदि इस कोटि में आते हैं। यद्यपि राज्यों के कार्य सदैव इनके अनुरूप नहीं होते, फिर भी उनसे हमें राजनीतिक सिद्धांतों के समझने में बहुमूल्य सहायता मिलती है।

१.३ सारांश :

राजनीतिक विकास के संबंध में दीर्घकाल से दो-दो विरोधी सिद्धांत चले आ रहे हैं। एक सिद्धांत के अनुसार सरकार का रूप मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं होता, बल्कि एक अनिवार्य स्वाभाविक विकास का परिणाम होता है, मनुष्य के उद्देश्यों और आकांक्षाओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बर्क ने सामाजिक जीवन के उलझे हुए तथ्यों को सुलझाने का कुछ प्रयत्न किया, लेकिन अंत में निराश होकर कहा कि 'मुझे विश्वास है कि मनुष्य का इतिहास अभी इतना पूर्ण नहीं हुआ है और न शायद कभी भी हो सकेगा कि उसके आधार पर हम राज्यों के भाग्य को प्रभावित करने वाले आंतरिक कारणों के संबंध में कोई निश्चित सिद्धांत स्थिर कर सकें। इसलिए विवश होकर हमें यही मानना पड़ता है कि इस संबंध में इच्छा ही सब कुछ है अथवा यदि हम अधिक पवित्र भावना और बुद्धि से काम लें तो इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि इन चीजों में ईश्वर समय-समय पर हस्तक्षेप करता है और सब कुछ उसी की दुर्दमनीय इच्छा का परिणाम है।' यदि इस मत को सत्य मान लिया जाए तो फिर साहित्यिक महत्व को छोड़कर राजनीतिक महत्व के अध्ययन का अन्य कोई मूल्य नहीं रह जाता।

दूसरे सिद्धांत के अनुसार सरकार एक ऐसी समस्या है जिससे मनुष्य की रचनात्मक बुद्धि की परीक्षा होती है, मनुष्य यह पता लगाता है कि सरकार का सर्वोत्तम रूप क्या हो और उसकी प्राप्ति के लिए कौन-कौन से साधन अपनाए जाएं। यदि यह मत सत्य है तो फिर राजनीति दर्शन के अध्ययन से अधिक मूल्यवान और किसी चीज का अध्ययन नहीं हो सकता।

यदि हम इन सिद्धांतों के शुद्ध तार्किक परिणामों पर विचार करें तो देखेंगे कि इनमें से कोई भी मान्य नहीं हो सकता, फिर भी मानना पड़ेगा कि इनमें समन्वय में ही तात्विक सत्य निहित है।

'मनुष्य दीर्घकाल तक भौतिक शक्तियों का शिकार रहा, किन्तु बुद्धि और चिंतन के सहारे उसने अपने को हवा, तूफान और समुद्रों का स्वामी बना लिया है। क्या वह उसी चिंतन के सहारे सभ्यताओं का ध्वंस करने वाले सामाजिक संघर्षों से ऊपर उठकर अपने सामाजिक भाग्य का स्वामी नहीं बन सकता?'

१.४ सूचक शब्द :

राजनीतिक चिंतन : राजनीतिक चिंतन एक अति उच्च कोटि की मानसिक सिद्धि को व्यक्त करता है। सभी युगों के अनेक महानतम विचारकों ने दर्शन के राजनीतिक पहलू पर अपना ध्यान केंद्रित किया - यह तथ्य मानसिक साधना के रूप में इसके महत्व का प्रमाण है।

राजनीतिक सिद्धांत : राजनीतिक सिद्धांत से इतिहास की व्याख्या में बहुमूल्य सहायता मिलती है। इसके अध्ययन से अतीत के मानसिक वातावरण को समझने की दृष्टि पैनी होती है और महत्वपूर्ण राजनीतिक आंदोलनों को प्रेरणा देने वाले उद्देश्यों और भावनाओं का पता लगता है। अतीत को समझने के लिए मनुष्यों के कार्यकलाप का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं बल्कि यह जानना भी आवश्यक है कि उनके विश्वास और आशाएं क्या थीं। अतीत की घटनाओं का जहां तक मनुष्य की इच्छा से संबंध था, वहां तक उस इच्छा को प्रेरित करने वाले आदर्शों को समझना आवश्यक है। संस्थाओं का जो रूप होता है वह उन विचारों से निर्मित होता है जिन्हें वह मूर्त रूप देने का प्रयत्न करती है। कोई व्यक्ति मध्य युग के इतिहास को तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह पोप तथा सम्राट के बीच हुए राजनीतिक विवाद से भलीभांति परिचित न हो। इसी प्रकार हमें अमरीकी इतिहास के मध्ययुग का सही ज्ञान

तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक हम प्रभुत्व के सिद्धान्त पर आधारित उत्तर या दक्षिण के बीच के झगड़े को नहीं समझ लेते।

राजनीतिक चिंतन का अध्ययन : राजनीतिक चिंतन के अध्ययन से वर्तमान इतिहास की घटनाओं और समस्याओं के समझने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याएं अतीत की परिस्थितियों से उत्पन्न होती है। इसलिए अतीत के राजनीतिक सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करके ही हम वर्तमान को भली प्रकार समझ सकते हैं। राजनीतिक चिंतन के अध्ययन द्वारा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली राजनीतिक शब्दावली एवं परिभाषाओं का यथार्थ ज्ञान होता है। राजनीति के क्षेत्र में हमारा ज्ञान परिपक्व होता है।

राजनीतिक सिद्धान्त व परिस्थितियां : राजनीतिक सिद्धान्त सदैव परिस्थितियों की उपज ही नहीं होते अपितु ये नवीन राजनीतिक परिस्थितियों को जन्म भी देते हैं। रूसो न होता तो फ्रांस राज्य क्रांति न होती। उसने अपनी पुस्तक सामाजिक संविदा में सामाजिक संविदा सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा फ्रांस राजसत्ता के प्रति व्याप्त असंतोष को बल प्रदान किया और फ्रांस राज्य क्रांति को गति प्रदान की। कहने का तात्पर्य यह है कि अतीत में वास्तविक परिस्थितियों तथा विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर राजनीतिक चिंतन का विकास हुआ, वर्तमान काल में उसका संबंध उन समस्याओं से है जिनका हमें दिन-प्रतिदिन सामना करना पड़ता है।

पुरातनपोषी तथा आलोचनात्मक राजनीतिक सिद्धांत : पुरातनपोषी तथा आलोचनात्मक दोनों ही राजनीतिक सिद्धांतों में शक्ति तथा कमजोरियां होती हैं। पुरातनपोषी सिद्धांत सार्वजनिक शांति और स्थिरता कायम रखने में बड़े सहायक होते हैं, लेकिन बहुधा वे बहुअपेक्षित सुधारों को रोकने अथवा उनके आने में विलंब उत्पन्न करते हैं। आलोचनात्मक सिद्धांत गतिहीनता को दूर करने तथा स्वस्थ राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक होते हैं। राजनीतिक चिंतन में पुरातनपोषी तथा उग्रवादी विचारों की अवांछनीय कट्टरता से बचना और दोनों के बीच उचित संतुलन कायम रखना कठिन होता है। परिणाम यह होता है कि जब एक दिशा में अति हो जाती है तो उसके विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया दूसरे छोर से जा टकराती है।

१.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. राजनीतिक चिंतन के अर्थ व प्रकृति के बारे में विस्तार से लिखें।
२. राजनीतिक चिंतन का प्रादुर्भाव व संबंधित समस्याओं के बारे में लिखें।
३. भिन्न-भिन्न प्रकार के राजनीतिक चिंतन भिन्न-भिन्न राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल होते हैं। क्या आप सहमत हैं? प्रचलित राजनीतिक चिंतनों की बहुलता के संदर्भ में चर्चा करें।
४. पुरातनपोषी व आधुनिक राजनीतिक चिंतन में समानता व अंतर बताएं।
५. राजनीतिक चिंतन संबंधी जानकारियां हमें किन-किन स्रोतों से मिलती है?

१.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।

शक्ति

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम राजनीति में शक्ति के स्थान व महत्व के बारे में चर्चा करेंगे। शक्ति का अर्थ, शक्ति की मुख्य विशेषताएं, शक्ति के आधार, शक्ति के स्रोत, शक्ति के प्रकार आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

२.० उद्देश्य
२.१ परिचय
२.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
२.२.१ शक्ति का अर्थ
२.२.२ शक्ति की मुख्य विशेषताएं
२.२.३ शक्ति के आधार
२.२.४ शक्ति के स्रोत
२.२.५ शक्ति के प्रकार
२.२.६ राजनीतिक शक्ति व सैनिक शक्ति
२.३ सारांश
२.४ सूचक शब्द
२.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
२.६ संदर्भित पुस्तकें

२.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

- शक्ति का अर्थ जानना
- शक्ति की मुख्य विशेषताएं पता करना
- शक्ति के आधार की जानकारी लेना
- शक्ति के स्रोतों से परिचित होना

शक्ति के प्रकार जानना
राजनीतिक शक्ति व सैनिक शक्ति के बारे में जानना

२.१ परिचय :

राजनीतिक शास्त्र में माना जाता है कि किसी भी राज्य या राष्ट्र का शासन चलाने के लिए कोई नेतृत्व करने वाला होना चाहिए। नेतृत्व करने वाले उस व्यक्ति में कुछ विशेष गुणों का होना जरूरी है। इनमें पहला गुण शक्ति होता है। अर्थात बिना शक्ति के शासन चलाना या व्यवस्था बनाए रखना संभव नहीं है। शक्ति में उन सभी स्त्रोतों को शामिल किया जाता है जो एक शासक अपना शासन बनाए रखने के लिए अपनाता है। इनमें साम, दाम, दंड, भेद आदि सभी शामिल होते हैं। एक तानाशाह जहां आदेश न मानने पर दंड का तरीका अपनाता है वहीं लोकतंत्र में जनता को मनाने के लिए जनमत संग्रह या मत संग्रह आदि का सहारा लिया जाता है और जनता के विचारों के अनुसार नीतियों के परिवर्तन की कोशिश की जाती है।

इस अध्याय में हम शक्ति का अर्थ, परिभाषाएं, विशेषताएं, आधार, स्त्रोत तथा उसके प्रकारों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

२.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

-शक्ति का अर्थ
-शक्ति की मुख्य विशेषताएं
-शक्ति के आधार
-शक्ति के स्रोत
-शक्ति के प्रकार
-राजनीतिक शक्ति व सैनिक शक्ति

२.२.१ शक्ति का अर्थ :

राजनीतिक विज्ञान में शक्ति का विशेष अध्ययन किया जाता है। शक्ति के प्राचीन युग से लेकर आधुनिक युग तक राजनीति के लिए आवश्यक माना गया है। शक्ति का अस्तित्व सर्वव्यापक माना जाता है। शक्ति के बिना शासन व समाज को सुव्यवस्थित नहीं रखा जा सकता। शक्ति, पद, संगठन, राजनीति व शासन में संघर्ष का प्रतीक मानी जाती है। शक्ति को राजनीति से पृथक नहीं किया जा सकता है।

शक्ति नीचे से ऊपर की ओर केंद्रीयकृत होती है। इसमें पद-सोपान व्यवस्था पाई जाती है। आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति शक्तिशाली बना रहना चाहता है। शक्ति के माध्यम से दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करना चाहता है। शक्ति में आने के बाद शक्ति से अलग नहीं होना चाहता है। शक्ति से मानवीय व्यवहार पर नियंत्रण रखा जाता है। शक्ति, राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक मुख्य विषय है। कैटलिन ने राजनीति शास्त्र को शक्ति का विज्ञान माना है। लासवैल ने भी शक्ति को राजनीति शास्त्र के अध्ययन का मूल विषय माना है। उनके अनुसार 'एक अनुभववादी व्यवस्था के रूप में राजनीति शास्त्र शक्ति की रूप रचना तथा उपयोग का अध्ययन है।' अरस्तु से

लेकर आज तक राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने शक्ति को राजनीति शास्त्र के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय माना है। फिर भी शक्ति के अर्थ के बारे में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि शक्ति शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। विद्वानों ने शक्ति, प्रभाव, सत्ता, प्रशस्तिकरण, बल तथा उत्पीड़न आदि शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के लिए किया है।

शक्ति का अर्थ विभिन्न दार्शनिकों ने निम्नलिखित तरीके से परिभाषाषित किया है :

1. हैराल्ड डी. लासवैल के अनुसार : शक्ति का अर्थ अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्ति के समूह की वह क्षमता है जो अपनी इच्छानुसार दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को बदलती है।

2. सी. जे. फ्रेडिक ने लिखा है : राजनीतिक शक्ति का अर्थ है व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की वह क्षमता जिसके अनुसार अन्य व्यक्ति अपनी इच्छानुसार न चलकर शक्ति संपन्न की इच्छानुसार व्यवहार करते हैं।

शक्ति के अर्थ के संबंध में यह माना जाता है कि असहमति को सहमति में बदलने की स्थिति का नाम ही शक्ति है। शासन व्यवस्था में शक्ति से राजनीतिक निर्णय लिए जाकर आदेश प्रसारित करने के बाद जो व्यक्ति आदेश की अवहेलना करते हैं, उनको दंडित करने की स्थिति का नाम ही शक्ति है। शक्ति मानव व मानव मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव डालती है। शक्ति एक विशेष स्थिति को प्रकट करती है जिसमें नियंत्रण को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है।

शक्ति की परिभाषाएं :

1. एम. जी. स्मिथ के अनुसार : लोगों तथा वस्तुओं के ऊपर बल या प्रोत्साहन द्वारा प्रभावशाली रूप में कार्य करने की योग्यता को शक्ति कहते हैं।

2. मैकाइवर के अनुसार : शक्ति से हमारा अर्थ व्यक्तियों या व्यवहार को नियंत्रित, विनियमित और निर्देशित करने की क्षमता से है।

3. रॉबर्ट ए. डहल के शब्दों में : शक्ति की परिभाषा प्राय: प्रभाव की एक विशेष स्थिति के रूप में की जाती है जिसमें आज्ञा का अनुपालन करने पर भारी हानि उठानी पड़ती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति वह योग्यता या सामर्थ्य है जिसके द्वारा व्यक्ति स्वेच्छा से दूसरे के कार्यों व नीतियों को इस तथ्य की सहायता से प्रभावित करता है कि यदि उसकी इच्छाओं के अनुसार कार्य न किया जाए तो अवज्ञा करने वालों को हानि उठानी पड़ सकती है। शक्ति की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इसकी विशेषताओं का अध्यन करना होगा। यह वर्णन निम्नलिखित है :

२.२.२ शक्ति की मुख्य विशेषताएं :

1. अन्यों के व्यवहार को प्रभावित करने की योग्यता : अन्य व्यक्तियों के व्यवहार, कार्यों तथा नीतियों को प्रभावित करने की योग्यता ही शक्ति की अवधारणा का मूल मंत्र है। ऐसी योग्यता या क्षमता के बिना शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। इस योग्यता या क्षमता के विभिन्न रूप हो सकते हैं, जैसे आर्थिक क्षमता, व्यक्तिगत क्षमता तथा शारीरिक क्षमता आदि। जब कोई व्यक्ति अपनी आर्थिक, बौद्धिक अथवा किसी अन्य क्षमता के कारण दूसरों से अपनी इच्छानुसार काम करवा लेता है तो वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर रहा होता है।

2. मानवीय संबंधों का विशिष्ट रूप : शक्ति, मानवीय संबंधों का एक विशेष रूप है। शक्ति के लिए एक कर्ता तथा कुछ अन्य व्यक्तियों का होना आवश्यक है ताकि कर्ता उन अन्य व्यक्तियों पर अपनी क्षमता के अनुसार

प्रभाव डाल सके तथा उनसे अपनी इच्छानुसार कार्य करवा सके।

3. शक्ति में हानि पहुंचाने की धारणा सम्मिलित : शक्ति की अवधारणा में कहीं न कहीं हानि पहुंचा सकने की धारणा भी शामिल होती है। शक्ति के पीछे मान्यता होती है कि यदि किसी व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों से कार्य करवाने की क्षमता के पीछे दबाव शक्ति नहीं है तो ऐसी क्षमता शक्ति नहीं कहलाएगी। इसी को प्रभाव का नाम दिया जा सकता है। जैसे एक कारखाने का मालिक मजदूरों को आदेश दे कि अमुक काम निश्चित समय पर पूरा करो और एक मजदूर आदेश न माने तो कारखाने का मालिक वेतन काटकर या अन्य कार्रवाई करके उसे हानि पहुंचा सकता है।

4. शक्ति स्थिति परक है : शक्ति, स्थिति तथा पद पर निर्भर है, जैसे कॉलेज का प्रधानाचार्य विद्यार्थी पर जब तक शक्ति रखता है, जब तक विद्यार्थी उस कालेज का विद्यार्थी है तथा वह उस कालेज का प्रधानाचार्य है। विद्यार्थी के कालेज छोड़ने या प्रधानाचार्य के रिटायर हो जाने पर वह शक्ति नहीं रहती।

5. शक्ति सापेक्ष होती है : शक्ति का एक अन्य लक्षण उसका सापेक्षिक स्वरूप है। एक शक्तिशाली व्यक्ति होने का अर्थ यह नहीं होता कि वह सभी पर अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता है और वह स्वयं किसी और की शक्ति के अधीन नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक शक्तिशाली की शक्ति उन क्रियाओं के क्षेत्र और प्रकार पर भी निर्भर करती है, जिन्हें वह करना चाहता है। एक व्यक्ति की शक्ति एक क्षेत्र अथवा कुछ क्षेत्रों में हो सकती है, अन्य क्षेत्रों में भी नहीं भी हो सकती। उसकी शक्ति किसी एक प्रकार के संबंध में हो सकती है, संबंधों के सभी क्षेत्रों में नहीं भी हो सकती। एक व्यक्ति सभी क्षेत्रों में शक्तिशाली नहीं हो सकता।

शक्ति का संबंध समय से भी होता है। समय बीतने के साथ यह बढ़ती जाती है अथवा कम होती जाती है। शक्ति का संबंध उन साधनों से भी होता है, जिन पर वह आधारित होती है। व्यक्ति की शक्ति मुख्यत: धन, परिवार, ज्ञान, सामाजिक स्तर, नेतृत्व क्षमता तथा व्यक्तित्व आदि पर निर्भर करती है।

6. शक्ति के दो स्वरूप – वास्तविक शक्ति तथा संभावित शक्ति : एक व्यक्ति की शक्ति की जांच करते समय उसकी शक्ति के दो पहलुओं – उसकी वास्तविक शक्ति तथा संभवित शक्ति का विश्लेषण करना पड़ता है। वास्तविक शक्ति का अर्थ व्यक्ति की वह शक्ति है जिसे शक्तिधारी द्वारा एक स्थिति में वास्तविक प्रयोग किया जा रहा हो। संभावित शक्ति उसकी वह शक्ति है जिसका प्रयोग उस सत्ताधारी द्वारा किया जा सकता हो। इनका विश्लेषण उन स्त्रोतों के संबंध में करना होता है तो उस व्यक्ति के पास होते हैं और यदि वह चाहे तो उनका प्रयोग कर सकता है।

7. शक्ति के लिए विरोधी हितों का होना अनिवार्य : शक्ति के प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि शक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्ति और उन व्यक्तियों, जिन पर वह प्रयुक्त की जा रही हो, में हितों का विरोध हो। ऐसे विरोध के अभाव में शक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

8. शक्ति का भौतिक स्वरूप नहीं : शक्ति कोई वस्तु या संपत्ति नहीं होती, जिस पर भौतिक रूप से अधिकार किया जा सकता हो। शक्ति एक भावना होती है जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है। शक्ति को न तो हम देख सकते हैं और न नाप–तोल सकते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इसका कोई भौतिक स्वरूप नहीं होता।

9. उद्देश्यपरकता : शक्ति की अवधारणा की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता इसका उद्देश्यपरकता होना है। इसका साधारण शब्दों में अर्थ हुआ है कि शक्ति का प्रयोग किसी न किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता

है। यदि शक्ति का प्रयोग उद्देश्यहीन होता है तो यह प्रभावहीन व निरर्थक होगी। अत: स्पष्ट है कि शक्ति का प्रयोग उद्देश्य प्राप्ति होना चाहिए। कार्ल ड्यूश ने कहा है, 'शक्ति के बिना इच्छा प्रभावहीन है। परन्तु इच्छा के बिना शक्ति अनियमित या अक्रमबद्ध रूप में ही प्रभावकारी होती है। यदि कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है तो शक्ति वातावरण पर कुछ अक्रमबद्ध प्रभाव उत्पन्न करने से अधिक कुछ नहीं कर सकती।'

10. शक्ति के पीछे बल प्रयोग की धमकी रहती है : रूस के प्रसिद्ध चिंतक टाल्सटाय ने कहा था, 'बहुत से आदेश दिए जाते हैं, पर इतिहास ऐसे आदेशों से बनता है जिनका कि वास्तव में पालन किया जाए।' अभिप्राय यह है कि कानून या नियम का यदि पालन न किया जाए तो बेकार है। कानूनों का पालन करने के लिए राज्य अपनी दंड-शक्ति का प्रयोग करता है। जो लोग सत्ता में हैं, वे दंड या पुरस्कार देकर अपनी बात मनवा सकते हैं। यह जरूरी नहीं कि राज्य को अपने हर आदेश का पालन कराने के लिए दमन या हिंसा का प्रयोग करना ही पड़े, पर इतना अवश्य है कि वह बल प्रयोग की क्षमता रखता है।

11. शक्ति के वास्तविक प्रयोग करने वालों का पता लगाना कठिन है : शासन प्रणाली कैसी भी हो, उस व्यक्ति या समूह का पता लगाना बड़ा कठिन है जो शक्ति का वास्तविक प्रयोग करते हैं। प्रत्येक समाज में ऐसे व्यक्ति होते हैं जो पर्दे के पीछे रहकर शासक के निर्णयों और आदेशों को प्रभावित करते हैं और अपनी इच्छानुसार ही कानून बनवाते हैं। शासकों को बनाने वाले निश्चय ही शासक से अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली होते हैं। स्टीफन एल. वास्बी ने कहा है :'समाज के अधिक शक्तिशाली लोग वे हो सकते हैं जो पर्दे के पीछे रहते हैं या जो वातावरण को तथा समय-समय पर उठने वाले प्रश्नों को नियंत्रित करते हैं। वे प्रश्नों को सुलझाने में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेते।'

12. वैधता की अवधारण : शक्ति के साथ वैधता की अवधारणा जुड़ी है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सत्ता को प्रभावी बनाने के लिए वैधता जरूरी है। डेविड हैल्ड के अनुसार, 'वैधता का मतलब यह है कि लोग जब किसी नियम या कानून का पालन करते हैं तो उनके मन में यह भावना रहती है कि कानून सही और न्यायसंगत है तथा इस योग्य है कि इन्हें माना जाए। वैध राजनीतिक व्यवस्था उसे कहेंगे जिसके पीछे जनता की सामान्य स्वीकृति हो।' शक्ति के साथ जब तक वैधता जुड़ी रहती है तब तक नियमों को मनवाने के लिए भारी हिंसा या बल के प्रयोग की जरूरत नहीं होती। लोकतंत्र में निष्पक्ष चुनावों के माध्यम से शासकों की सत्ता की वैधता मिलती है।

13. प्रयोग पर निर्भरता : शक्ति की एक अन्य विशेषता उसके प्रयोग पर निर्भर करती है। शक्ति का पता केवल मात्र उसके प्रयोग से ही लगता है। कोई व्यक्ति या संस्था शक्तिशाली है या नहीं उसके द्वारा शक्ति का प्रयोग किए जाने से ही मालूम पड़ता है। यदि एक कानून द्वारा प्राप्त शक्तिशाली व्यक्ति अपनी शक्ति का प्रयोग ही नहीं करता तो वह शक्तिशाली कैसे सिद्ध हो सकता है, जैसे भारत के राष्ट्रपति को संविधान द्वारा अनेक शक्तियां प्रदान की गई हैं, लेकिन वह शक्तियों का प्रयोग करता है। परिणामस्वरूप राष्ट्रपति को नाममात्र का अध्यक्ष और मंत्रीमंडल को वास्तविक शासक कहा जाता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शक्ति मानव संबंधों का एक रूप है जिसमें एक व्यक्ति, जिसे सत्ताधारी कहा जाता है, अपने से कम शक्तिशाली शक्तियों के व्यवहार को इच्छानुसार परिवर्तित करने की योग्यता रखता है।

२.२.३ शक्ति के आधार :

शक्ति के आधार भिन्न-झिभ्रन्न शासन प्रवृत्तियों में एक से नहीं पाए जाते। इन आधारों से शक्ति अपने अस्तित्व का प्रभाव मनुष्यों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए करती है।

प्रो. ए. सी. भंडारी एवं प्रो. अरविंद श्रीवास्तव के अनुसार : 'शक्ति के आधार निम्न प्रकार से हैं :'

अ. तानाशाही शासन में शक्ति के निम्न आधार हैं :

1. बल प्रयोग,
2. हिंसा,
3. कठोर कदम,
4. दंड,
5. भय

ब. लोकतंत्र में शक्ति के निम्न आधार हैं :

1. प्रभाव
2. नेतृत्व
3. औचित्यपूर्णता
4. आज्ञा पालन
5. सहमति।

अ. तानाशाही शासन में शक्ति के आधारों का वर्णन इस प्रकार है :

1. बल प्रयोग : शासक अपनी इच्छा को मनवाने के लिए विरोधियों, असंतुष्टों और आंदोलनकारियों पर बल प्रयोग के माध्यम से नियंत्रण रखने का प्रयास करता है, यह बल प्रयोग दो प्रकार का हो सकता है :

क. साधारण बल प्रयोग : इसमें लाठीचार्ज, अश्रुगैस, हवाई फायद आदि का सहारा लिया जाता है।

ख. असाधारण बल प्रयोग : इसमें देखते ही गोली मारने का आदेश सेना को दिया जाता है। गिरफ्तारी, तलाशी, कर्फ्यू, रेड अलर्ट, सैनिक शासन आदि का प्रयोग शासक द्वारा किया जाता है।

2. हिंसा : तानाशाही शासन में हिंसा बड़े पैमाने पर पाई जाती है। मारकाट, हत्या, नरसंहार खुलेआम किया जाता है। हिंसा के माध्यम से शासक-वर्ग और जनता के वर्ग आपस में अपने-अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं। शासक सेना के माध्यम से या अपने अनुयायियों के माध्यम से हिंसा के माध्यम से नियंत्रण स्थापित करते हैं।

3. कठोर कदम : तानाशाह शासन में कभी-कभी कठोर कदम उठाए जाते हैं। आंतरिक उपद्रव, गृहयुद्ध आदि की स्थिति में राष्ट्रव्यापी अभियान, सेना की तैनाती व फांसी आदि का सहारा लिया जाता है। ये अल्प समय के लिए भी हो सकता है और लंबे समय के लिए भी।

4. दंड : तानाशाही शासन में जनता के नागरिकों पर बिना मुकदमा चलाए ही दोषी करार दे दिया जाता है। देशद्रोही करार देकर कठोर दंड दिया जाता है। इसमें जेलों की बनावट अंधेरी गुफा के समान होती है। जेल में अपराधियों पर तरह-तरह के जुल्म किए जाते हैं। अमानवीय तरीके से कैदियों को यातनाएं दी जाती हैं।

5. भय : जिस राष्ट्र में तानाशाही शासन होता है वहां की जनता में आतंक पाया जाता है। जनता का शोषण बड़े पैमाने पर किया जताा है। जनता को किसी भी प्रकार की मदद शासक द्वारा उपलब्ध नहीं करवाई जाती बल्कि उनके नागरिक अधिकार और स्वतंत्रताओं पर भी प्रतिबंध लगा दिए जाते हैं। सेना का आतंक जनता पर छाया रहता

है।

ब. लोकतंत्र में शक्ति के आधारों का वर्णन इस प्रकार है :

1. प्रभाव : लोकतंत्र में शक्ति का मूल आधार प्रभाव से लिया जाता है। शासन की नीतियों, आदेशों, कार्यों में शक्ति का प्रभाव पाया जाता है। राष्ट्रीय नेताओं का प्रभाव, दल का प्रभाव, सत्ता का प्रभाव, मानवीय व्यवहार को प्रभावित करता है। इसमें प्रभाव के बिना शक्ति का आधार नहीं हो सकता।

2. नेतृत्व : राजनीति में शक्ति नेतृत्व का आधार माना जाता है। नेतृत्व के बिना शक्ति प्राप्ति संभव नहीं है। शासन व्यवस्था में नेतृत्व भिन्न प्रकार का पाया जाता है। नेतृत्व में आंतरिक रूप से संघर्ष की स्थिति रहती है। एक नेता के पास नेतृत्व के आश्वयक गुणों का होना आवश्यक है। साहसी, परिश्रमी, दूरदर्शी, भाषा कौशलता नेता के लिए आवश्यक माना जाता है। नेतृत्व संगठन, समूह का भी हो सकता है। इसका लक्ष्य शक्ति प्राप्ति ही माना जाता है।

3. औचित्यपूर्णता : शक्ति का आधार क्या होना चाहिए? औचित्यपूर्णता शक्ति की वैधानिकता की कसौटी परखने का पहलू माना जाता है। तर्क-वितर्क भी इसकी औचित्यपूर्णता को प्रकट करता है। शक्ति में औचित्यपूर्णता के बिना इसकी पालना कराना संभव नहीं है। शक्ति क्या है? वास्तविक शक्ति में क्या होना चाहिए? इसका निर्णय औचित्यपूर्णता के आधार पर निकालने का प्रयास किया जाता है।

4. आज्ञा पालन : शक्ति राजनीति, संगठन व शासन व्यवस्था में आदेश प्रसारित करके आज्ञापालन कराती है। जनसाधारण वर्ग में आज्ञापालन इसलिए कराया जाता है कि समाज में व्यवस्था स्थापित रहे तथा दूसरे व्यक्तियों को असुविधा का सामना नहीं करना पड़े। सभी को समान दृष्टि से आज्ञापालन करना होता है। शक्ति में डर या भय के कारण आज्ञापालन होता है।

5. सहमति : लोकतंत्र शासन-प्रणाली में प्राय: देखा जाता है कि शक्ति की पालना आपसी सहमति से ही संभव होती है। इससे दूसरे व्यक्ति भी पालना करने पर सहमत हो जाते हैं।

२.२.४ शक्ति के स्त्रोत :

शक्ति के स्त्रोतों के बारे में राजनीति शास्त्र के विद्वान एकमत नहीं हैं। नेपोलियन, हिटलर, गांधी, लिंकन, लेनिन, स्टालिन, चर्चिल, माओ, मुसोलिनी, टीटो, गोलवलकर सभी शक्तिशाली थे, लेकिन उनकी शक्तियों में भेद था। अत: बल या बल के प्रयोग, आर्थिक साधन, प्राकृतिक संपत्ति, सम्मान, सत्ता, प्रभावशाली या करिश्मावादी व्यक्तित्व, प्रभाव आदि को शक्ति का स्त्रोत बताया जा सकता है। अधिक वैज्ञानिक रूप से विद्वानों ने इन्हें आंतरिक व बाहरी स्त्रोत के दो वर्गों में रखा है। आंतरिक स्त्रोत की सूची में व्यक्तित्व, ज्ञान, आत्मनियंत्रण आदि शामिल हैं तो बाहरी स्त्रोतों में स्वामित्व, भौतिक वस्तुएं, संगठन और उसका आकार, सत्ता, सामरिक शक्ति आदि का नाम लिया जाता है।

विषय की स्पष्टता के लिए कुछ प्रमुख स्त्रोतों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है:

1. **ज्ञान :** साधारण अर्थ में ज्ञान व्यक्ति या व्यक्ति समूह को अपने लक्ष्यों को पुन: प्रबंधित करने और मिलाने की योग्यता प्रदान करता है। मनुष्य शेर, चीते, हाथी आदि से शक्तिशाली माना जाता है, क्योंकि उसके पास ज्ञान और कुशलता है। ज्ञान व्यक्ति के कष्टों को दूर करता है। यह ज्ञान का बाहरी रूप है। आंतरिक रूप में ज्ञान अपने आपको जाने पर अर्थात आत्मज्ञान पर जोर देता है। व्यक्ति में नेतृत्व करने का गुण, उसकी इच्छाशक्ति, सहन शक्ति,

अपने आपको अभिव्यक्त करने की शक्ति आदि विभिन्न तत्व शक्ति के महत्वपूर्ण पहलू हैं।

2. प्राप्तियां : ज्ञान शक्ति को मुख्य रूप से आंतरिक स्रोत माना गया है। लेकिन इसके अतिरिक्त शक्ति का निर्धारण करने वाले बाहरी तत्व भी होते हैं। इन्हें एक शब्द में प्राप्तियां कहा जाता है। इनमें भौतिक सामग्री, स्वामित्व और सामाजिक सामग्री की शक्ति, व्यक्ति द्वारा अपनाई गई प्रस्थिति और स्तर आदि शामिल होते हैं।

3. संगठन : कहावत है कि संगठन में शक्ति है। जब प्रतिद्वंद्विता करने वाली अलग-अलग इकाइयां आपस में मिलकर एक संघ बना लेती हैं तो उनकी शक्ति कई गुणा बढ़ जाती है। आधुनिक समय के मजदूर संघ या व्यापारिक वाणिज्यिक संगठन इसी सच्चाई की पुष्टि करते हैं। शक्ति की दृष्टि से राज्य ही सबसे बड़ा संघ है और इसका कारण राज्य का सबसे अधिक संगठित रूप है।

4. आकार : यह सोचा जाता है कि संगठन का आकार जितना बड़ा होगा, वह उतना ही शक्तिशाली होगा। यदि संगठन का मेल आकार के साथ हो तो कई बार ऐसा भी होता है कि संगठन का बड़ा आकार उसे उलझाकर उसकी शक्ति कम भी कर देता है या विनष्ट कर देता है। मैकाइवर ने कहा भी है, 'शक्ति की कार्य-कुशलता उन अलग-अलग हालात द्वारा घटती-बढ़ती रहती है, जिनके अधीन उसे काम करना है।'

5. सत्ता : जिन सब तत्वों के कारण शक्ति अधिक महत्वपूर्ण बनती है, उन्हें हम सत्ता कहते हैं। जब कोई व्यक्ति मंत्री, मुख्यमंत्री या प्रधानमंत्री बन जाता है तो वह बहुत अधिक शक्तिशाली हो जाता है क्योंकि सरकारी तंत्र में वह सक्रिय रूप से भागीदार बन जाता है।

6. आर्थिक साधन : जिस व्यक्ति के पास आर्थिक साधनों की बहुतायत होती है, वह चुनाव जीतकर शक्ति प्राप्त कर लेता है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद से अमेरिका आज तक इसलिए प्रभावशाली बना रह सका है क्योंकि उसके पास प्रचूर आर्थिक साधन हैं। आर्थिक सहायता के नाम अमीर देश दूसरे देशों को बहुत प्रभावित करते हैं।

7. सामरिक शक्ति : आर्थिक दृष्टि से संपन्न राष्ट्र ही आधुनिकतम सामरिक शस्त्रास्त्रों का जखीरा खड़ा करके स्वयं शक्तिशाली बन जाते हैं और संसार के अन्य देशों की सामरिक क्षमता पर रोक लगाने का काम वे शस्त्र नियंत्रण के नाम पर करते हैं। आज अमेरिका यही कर रहा है।

8. वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति : वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति आज के संघर्षपूर्ण युग में किसी भी राज्य को शक्तिशाली बना सकती है। लेकिन इसके लिए बड़े पैमाने पर आर्थिक एवं वित्तीय साधन जरूरी होते हैं क्योंकि वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति में अरबों-खरबों डालर व्यय हो जाते हैं। अमेरिका के शक्तिशाली होने का एक कारण यह भी है।

9. प्रेम और प्रभाव : प्रेम और प्रभाव भी शक्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। महात्मा गांधी ने प्रेम पर आधारिक सत्याग्रह से देशवासियों को संगठित कर दिया था।

10. करिश्मावादी नेतृत्व : कोई नेता अपने त्याग, बलिदान, सेवा, कार्यक्षमता, दूरदृष्टि, संगठन-कुशलता, लोक-संग्राहक प्रवृत्ति आदि द्वारा इतने महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बन जाते हैं कि आम आदमी, उनके पीछे खिंचता चला जाता है। इस शताब्दी में भारत में लोकमान्य तिलक, सुभाषचंद्र बोस, नेहरू, सरदार पटेल आदि ऐसे ही नेता थे।

11. विश्वास : शक्ति का एक और महत्वपूर्ण स्रोत विश्वास है। अगर किसी देश के निवासी अपनी सरकार के प्रति वफादार नहीं हैं तो उनके विरुद्ध शक्ति का बड़े से बड़ा शक्ति प्रयोग भी कारगर सिद्ध नहीं होगा। वियतनाम में अमेरिका को, अफगानिस्तान में सोवियत संघ को तथा भारत में ब्रिटिश राजसत्ता को इसलिए मुंह की

खानी पड़ी क्योंकि उनमें जनता का विश्वास नहीं था।

12. व्यक्तित्व : व्यक्तित्व के बिना सत्ता प्राप्ति में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। साधारण व्यक्ति का प्रभाव इतना नहीं होता जितना असाधारण व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का होता है। व्यक्तित्व में निम्न बातें शामिल हैं – निर्णय लेने की क्षमता, चतुराई, साहस, चरित्र, भाषा, दूरदर्शिता, आदेश देने की क्षमता, अनुयायियों को पक्ष में करने की कला आदि।

13. संचार के साधन : लोकतांत्रिक देशों में जिस व्यक्ति के पास संचार के साधन होते हैं वह अन्य व्यक्तियों की तुलना में सबसे ज्यादा शक्तिशाली माना जाता है। निर्वाचन के समय सभी व्यक्ति अपनी–अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। चुनाव प्रचार, समाचार पत्र, टेलीविजन, साक्षात्कार आदि के माध्यम से जनमत तैयार किया जाता है।

२.२.५ शक्ति के प्रकार :

शक्ति के अनेक रूप होते हैं। गोल्ड हेम व एडवर्ड शिल्य ये मानते हैं कि 'एक व्यक्ति की शक्ति उतनी ही मानी जाती है जितनी मात्रा में वह अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे के व्यवहार को परिवर्तित करता है।'

1. व्यवहार परिवर्तन के आधार पर : इसमें शक्ति तीन प्रकार की होती है :

क. बल : एक व्यक्ति अपनी बात मनवाने के लिए बल का प्रयोग करता है। इससे अन्य व्यक्ति के व्यवहार में निश्चित रूप से परिवर्तन आता है। हिंसा, लूटमारी, जासूसी, षडयंत्र आदि बल प्रयोग के रूप में लिए जाते हैं।

ख. प्रभुत्व : शक्ति पर एकाधिकार जरूरी है अन्यथा दूसरे व्यक्ति उसे शक्तिहीन करने का प्रयास करते रहते हैं। इसमें व्यक्तिगत प्रभाव, धन का प्रभाव, साधनों का प्रभाव शक्ति पर स्वामित्व बनाए रखने में सहायक माने जाते हैं। शक्ति में आने के बाद उसे निरंतर बनाए रखना ही प्रभुत्व है।

ग. छल योजना : शक्ति के माध्यम से दूसरे व्यक्तियों पर व्यवहार परिवर्तन करने के लिए अनेक तरीके अपनाए जाते हैं। धोखा, घोटाले, रहस्य, चालकी, कपट आदि का सहारा लिया जाता है। एक व्यक्ति दूसरे पर निगरानी रखते हुए उसे अपने जाल में फंसाने के लिए योजनाएं बनाते हैं।

2. औचित्यपूर्णता के आधार पर : एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर औचित्यपूर्णता के आधार पर वास्तविक शक्ति के लिए संघर्ष करता है। तर्क, नैतिकता, सच्चाई आदि का सहारा लेकर शक्ति की औचित्यपूर्णता का आधार क्या होना चाहिए ताकि उसकी पालना कराई जा सके।

मैक्स बेबर ने इसके तीन आधार बताए हैं :

क. कानूनी शक्ति में यह आवश्यक है कि जब उच्च स्तर के व्यक्ति द्वारा निर्मित कानूनों को, आदेशों को निम्न स्तर के अधीनस्थ लोगों पर पालना के लिए प्रसारित किया जाता है तो अधीनस्थ लोगों का कानून की सत्ता में विश्वास होता है, इसलिए उनकी पालना होती है।

ख. परंपरागत शक्ति में यह आवश्यक होता है कि उच्च स्तर पर आसीन व्यक्ति परंपराओं का सहारा लेते हुए आदेश निम्न स्तर के लोगों को देता है। तब शक्ति का परंपराओं के आधार पर औचित्यपूर्ण पालन कराया जाता है।

ग. इसमें व्यक्तिगत गुण व्यक्तित्व के आधार पर आदेशों की पालना कराई जाती है। तब अनुयायियों के द्वारा स्वामीभक्ति के रूप में पालना की जाती है। तब उसकी भूमिका सराहनीय होती है। ऐसी स्थिति में करिश्मावादी

शक्ति की पालना स्वीकार की जाती है।

वायर्सटेड ने शक्ति के आधार इस प्रकार बताए हैं :

1. शक्ति की अदृष्यता अज्ञात होती है तो उसे प्रच्छन्न शक्ति ही माना जाता है। जब यह प्रकट होती है तो उसे सत्ता या बल के रूप में ही माना जाता है।

2. बल प्रयोग में शक्ति के दो रूप होते हैं - दमनकारी शक्ति, अदमनकारी शक्ति।

3. औपचारिक शक्ति, अनौपचारिक शक्ति।

4. प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष शक्ति के रूप में।

5. शक्ति प्रवाह के यप में -एक पक्षीय, द्विपक्षीय, बहुपक्षीय।

6. केंद्रीयकृत व विकेंद्रीयकरण के रूप में।

7. राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय शक्ति के रूप में।

२.२.६ राजनीतिक शक्ति व सैनिक शक्ति :

राजनीतिक शक्ति व सैनिक शक्ति का अलग-अलग अस्तित्व है। दोनों के प्रयोग की असमानताएं भी हैं। दोनों के आधार व स्रोत अलग-अलग हैं तो दोनों में घनिष्ठ संबंध भी पाया जाता है :

क. राजनीतिक शक्ति : प्रजातंत्र में राजनीतिक शक्ति का अर्थ समानता, स्वतंत्रता एवं न्याय की स्थापना के लिए किया जाता है। आधुनिक युग में लोकतंत्र की स्थापना में हिंसा का प्रयोग वर्जित है। निरंकुश तानाशाही, सर्वाधिकारवादी तत्वों को लोकतंत्र में कोई स्थान नहीं दिया जाता। शांतिपूर्ण तरीकों से नीतियों व अध्यादेशों की पालना करवाई जाती है। राजनीतिक शक्ति मर्यादाओं के बीच रहकर स्थापित की जाती है। राजनीतिक शक्ति की पालना आपसी सहमति से होती है।

मार्गेन्थो ने लिखा है - राजनीतिक शक्ति एक मनोवैज्ञानिक शक्ति होती है। उसमें मनुष्य दूसरे मनुष्यों की क्रियाओं और मस्तिष्क पर नियंत्रण रखता है।

राजनीति में संघर्ष, गुटबाजी, सौदेबाजी, अवसरवादिता, असंतुष्टता, पद की लालसा आदि राजनीतिक शक्ति के लिए संघर्ष का प्रतीक मानी जाती है।

ख. सैनिक शक्ति : प्राचीन समय से राजतंत्र के युग से ही सैनिक शक्ति का प्रयोग सम्राटों द्वारा किया जाता रहा है। सम्राट अपनी सैनिक शक्ति के कारण साम्राज्य स्थापित करने तथा उसे बनाए रखने में लंबे समय तक इसलिए सफल हुए थे कि उनके पास सैनिक शक्ति सुदृढ़ थी।

वर्तमान में पाकिस्तान व बांग्लादेश में कथित तौर पर लोकतंत्र होते हुए भी सैनिक शक्ति ने लंबे समय तक कायम रहकर मनमाने तरीके से कार्य करने का प्रयास किया है। इसमें दमन, शोषण, दंड, अत्याचार, हिंसा राष्ट्रव्यापी पैमाने पर पाई जाती है। इसमें राष्ट्रीय कानून, परंपरा, आदेशों को एक तरफ रख दिया जाता है। सेना वही कार्य करती है जिसका उसे आदेश दिया जाता है।

बर्ट्रेंड रर्सेल ने लिखा है - सैनिक शक्ति मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन करने वाली शक्ति है। इसके साथ ही व्यक्ति के विकास में भी बाधक है क्योंकि इसमें भय, दमन, दंड का सीधा प्रावधान होता है।

लासवैल मानता है कि जो राजनीतिक घटनाएं घटती हैं, उनका प्रभाव मनुष्य पर मनोवैज्ञानिक रूप से अवश्य पड़ता है। इसमें मानव मूल्यों से संबंधित प्रभावशाली तत्व होते हैं। लासवैल ने मानव मूल्यों को तीन भागों में

विभाजित किया है :

1. सम्मान,
2. आय,
3. सुरक्षा।

समाज में प्रत्येक मनुष्य इन मूल्यों के अनुकूल क्रियाएं करता है। व्यक्ति हमेशा इन्हें प्राथमिकता के तौर पर रखता है। जब वह एक मूल्य प्राप्त करता है तो दूसरे अन्य मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयासरत हो जाता है। इसके साथ ही वह शक्ति के प्रभाव का भी विस्तार करता है। राजनीतिक क्षेत्र में राजनेता, राजनीतिज्ञ, शासक अपने-अपने मूल्यों के लक्ष्यों की प्राप्ति में लगे रहते हैं। इनको प्राप्त करने पर अपना प्रभाव बनाए रखना चाहते हैं। इससे दूसरे व्यक्तियों को अवसर नहीं मिलता है और असंतुलन पैदा होता है।

लासवैल ने लिखा है - शक्ति की प्रक्रिया का अलग भाग नहीं होकर अंत: क्रियात्मक रूप से समाज की शक्ति का समग्र राजनीतिक पहलू है। डेविड ईस्टन ने भी लिखा है कि शक्ति की इस अवधारणा के कारण संपूर्ण राजनीतिक जीवन में शक्ति में संघर्ष के कारण सीमित कर दिया है। शक्ति ने श्रेष्ठ आदर्शों व जीवन के स्रोतों को कुचलकर रख दिया है।

राबर्ट ए. डहाल ने लिखा है कि प्रत्येक समाज में एक व्यक्ति उच्च शिखर पर शक्तिशाली हो बैठा है, लेकिन यह शक्ति एक व्यक्ति के पास न होकर समाज में ही बिखरी रहती है, इसलिए यह संतुलन बनाए रहती है।

शक्ति की इस अवधारणा को राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में समझने का प्रयास करते हैं, फिर भी इसका चित्रण अधूरा ही माना जाता है।

२.४ सारांश :

शक्ति, पद, संगठन, राजनीति व शासन में संघर्ष का प्रतीक मानी जाती है। शक्ति को राजनीति से पृथक नहीं किया जा सकता है। शक्ति नीचे से ऊपर की ओर केंद्रीयकृत होती है। इसमें पद-सोपान व्यवस्था पाई जाती है। आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति शक्तिशाली बना रहना चाहता है। शक्ति के माध्यम से दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करना चाहता है। शक्ति में आने के बाद शक्ति से अलग नहीं होना चाहता है। शक्ति से मानवीय व्यवहार पर नियंत्रण रखा जाता है। शक्ति, राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक मुख्य विषय है।

तानाशाही शासन में शक्ति के आधार बल प्रयोग, हिंसा, कठोर कदम, दंड, भय और लोकतंत्र में शक्ति के आधार प्रभाव, नेतृत्व, औचित्यपूर्णता, आज्ञा पालन व सहमति आदि हैं।

नेपोलियन, हिटलर, गांधी, लिंकन, लेनिन, स्टालिन, चर्चिल, माओ, मुसोलिनी, टीटो, गोलवलकर सभी शक्तिशाली थे, लेकिन उनकी शक्तियों में भेद था। अत: बल या बल के प्रयोग, आर्थिक साधन, प्राकृतिक संपत्ति, सम्मान, सत्ता, प्रभावशाली या करिश्मावादी व्यक्तित्व, प्रभाव आदि को शक्ति का स्रोत बताया जा सकता है। अधिक वैज्ञानिक रूप से विद्वानों ने इन्हें आंतरिक व बाहरी स्रोत के दो वर्गों में रखा है। आंतरिक स्रोत की सूची में व्यक्तित्व, ज्ञान, आत्मनियंत्रण आदि शामिल हैं तो बाहरी स्रोतों में स्वामित्व, भौतिक वस्तुएं, संगठन और उसका आकार, सत्ता, सामरिक शक्ति आदि का नाम लिया जाता है।

शक्ति के अनेक रूप होते हैं। गोल्ड हेम व एडवर्ड शिल्य ये मानते हैं कि 'एक व्यक्ति की शक्ति उतनी ही मानी जाती है जितनी मात्रा में वह अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे के व्यवहार को परिवर्तित करता है।'

राजनीतिक शक्ति व सैनिक शक्ति का अलग-अलग अस्तित्व है। दोनों के प्रयोग की असमानताएं भी हैं। दोनों के आधार व स्रोत अलग-अलग हैं तो दोनों में घनिष्ठ संबंध भी पाया जाता है। प्रजातंत्र में राजनीतिक शक्ति का अर्थ समानता, स्वतंत्रता एवं न्याय की स्थापना के लिए किया जाता है। आधुनिक युग में लोकतंत्र की स्थापना में हिंसा का प्रयोग वर्जित है। निरंकुश तानाशाही, सर्वाधिकारवादी तत्वों को लोकतंत्र में कोई स्थान नहीं दिया जाता। शांतिपूर्ण तरीकों से नीतियों व अध्यादेशों की पालना करवाई जाती है। राजनीतिक शक्ति मर्यादाओं के बीच रहकर स्थापित की जाती है। राजनीतिक शक्ति की पालना आपसी सहमति से होती है।

प्राचीन समय से राजतंत्र के युग से ही सैनिक शक्ति का प्रयोग सम्राटों द्वारा किया जाता रहा है। सम्राट अपनी सैनिक शक्ति के कारण साम्राज्य स्थापित करने तथा उसे बनाए रखने में लंबे समय तक इसलिए सफल हुए थे कि उनके पास सैनिक शक्ति सुदृढ़ थी।वर्तमान में पाकिस्तान व बांग्लादेश में कथित तौर पर लोकतंत्र होते हुए भी सैनिक शक्ति ने लंबे समय तक कायम रहकर मनमाने तरीके से कार्य करने का प्रयास किया है। इसमें दमन, शोषण, दंड, अत्याचार, हिंसा राष्ट्रव्यापी पैमाने पर पाई जाती है। इसमें राष्ट्रीय कानून, परंपरा, आदेशों को एक तरफ रख दिया जाता है। सेना वही कार्य करती है जिसका उसे आदेश दिया जाता है।

२.५ सूचक शब्द :

शक्ति : शक्ति, पद, संगठन, राजनीति व शासन में संघर्ष का प्रतीक मानी जाती है। शक्ति को राजनीति से पृथक नहीं किया जा सकता है। शक्ति नीचे से ऊपर की ओर केंद्रीयकृत होती है। इसमें पद-सोपान व्यवस्था पाई जाती है। आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति शक्तिशाली बना रहना चाहता है। शक्ति के माध्यम से दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करना चाहता है। शक्ति में आने के बाद शक्ति से अलग नहीं होना चाहता है। शक्ति से मानवीय व्यवहार पर नियंत्रण रखा जाता है। शक्ति, राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक मुख्य विषय है।

शक्ति के आधार : तानाशाही शासन में शक्ति के आधार बल प्रयोग, हिंसा, कठोर कदम, दंड, भय और लोकतंत्र में शक्ति के आधार प्रभाव, नेतृत्व, औचित्यपूर्णता, आज्ञा पालन व सहमति आदि हैं।

शक्ति के स्रोत : बल या बल के प्रयोग, आर्थिक साधन, प्राकृतिक संपत्ति, सम्मान, सत्ता, प्रभावशाली या करिश्मावादी व्यक्तित्व, प्रभाव आदि को शक्ति का स्रोत बताया जा सकता है। अधिक वैज्ञानिक रूप से विद्वानों ने इन्हें आंतरिक व बाहरी स्रोत के दो वर्गों में रखा है। आंतरिक स्रोत की सूची में व्यक्तित्व, ज्ञान, आत्मनियंत्रण आदि शामिल हैं तो बाहरी स्रोतों में स्वामित्व, भौतिक वस्तुएं, संगठन और उसका आकार, सत्ता, सामरिक शक्ति आदि का नाम लिया जाता है।

शक्ति के प्रकार :

शक्ति के अनेक रूप होते हैं। गोल्ड हेम व एडवर्ड शिल्य ये मानते हैं कि 'एक व्यक्ति की शक्ति उतनी ही मानी जाती है जितनी मात्रा में वह अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे के व्यवहार को परिवर्तित करता है।'

राजनीतिक शक्ति : प्रजातंत्र में राजनीतिक शक्ति का अर्थ समानता, स्वतंत्रता एवं न्याय की स्थापना के लिए किया जाता है। आधुनिक युग में लोकतंत्र की स्थापना में हिंसा का प्रयोग वर्जित है। निरंकुश तानाशाही, सर्वाधिकारवादी तत्वों को लोकतंत्र में कोई स्थान नहीं दिया जाता। शांतिपूर्ण तरीकों से नीतियों व अध्यादेशों की पालना करवाई जाती है। राजनीतिक शक्ति मर्यादाओं के बीच रहकर स्थापित की जाती है। राजनीतिक शक्ति की पालना आपसी सहमति से होती है।

सैनिक शक्ति : प्राचीन समय से राजतंत्र के युग से ही सैनिक शक्ति का प्रयोग सम्राटों द्वारा किया जाता रहा है। सम्राट अपनी सैनिक शक्ति के कारण साम्राज्य स्थापित करने तथा उसे बनाए रखने में लंबे समय तक इसलिए सफल हुए थे कि उनके पास सैनिक शक्ति सुदृढ़ थी। वर्तमान में पाकिस्तान व बांग्लादेश में कथित तौर पर लोकतंत्र होते हुए भी सैनिक शक्ति ने लंबे समय तक कायम रहकर मनमाने तरीके से कार्य करने का प्रयास किया है। इसमें दमन, शोषण, दंड, अत्याचार, हिंसा राष्ट्रव्यापी पैमाने पर पाई जाती है। इसमें राष्ट्रीय कानून, परंपरा, आदेशों को एक तरफ रख दिया जाता है। सेना वही कार्य करती है जिसका उसे आदेश दिया जाता है।

२.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. शक्ति क्या है? विस्तार से बताएं।
२. शक्ति का अर्थ बताएं एवं इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
३. शक्ति के आधार से क्या अभिप्राय है? टिप्पणी करें।
४. शक्ति के विभिन्न स्रोतों के बारे में विस्तार से वर्णन करें।
५. शक्ति कितने प्रकार होती है? राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति के बारे में विस्तार से बताएं।

२.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

सत्ता

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम सत्ता के महत्व के बारे में चर्चा करेंगे। सत्ता का अर्थ, सत्ता की मुख्य विशेषताएं, सत्ता के स्वरूप, सत्ता की प्रकृति, सत्ता का आधार व सत्ता की सीमाएं आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

३.० उद्देश्य
३.१ परिचय
३.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
३.२.१ सत्ता का अर्थ
३.२.२ सत्ता की मुख्य विशेषताएं
३.२.३ सत्ता के स्वरूप
३.२.४ सत्ता की प्रकृति
३.२.५ सत्ता का आधार
३.२.६ सत्ता की सीमाएं
३.२.७ सत्ता व शक्ति
३.३ सारांश
३.४ सूचक शब्द
३.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
३.६ संदर्भित पुस्तकें

३.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

सत्ता का अर्थ जानना
सत्ता की मुख्य विशेषताएं पता करना

सत्ता के स्वरूप के बारे में जानना
सत्ता की प्रकृति का पता लगाना
सत्ता का आधार जानना
सत्ता की सीमाएं पता लगाना
सत्ता व शक्ति के बारे में जानना

३.१ परिचय :

सत्ता से अभिप्राय शासन से है। शासन चलाने के लिए कुछ विशेष शक्तियों जैसे अनुशासन, समन्वय, सामंजस्य आदि की आवश्यकता पड़ती है। इनकी स्थापना का काम सत्ता के माध्यम से ही किया जाता है। सत्ता में आदेश ऊपर से नीचे की ओर चलते हैं। हर दल इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए ही राजनीति के क्षेत्र में आता है। इसे प्राप्त करने के बाद वह सर्वशक्तिमान बन जाता है। जब तक सत्ता किसी व्यक्ति के पास रहती है, वह अन्य पर अपना आदेश चलाता है, नीतियां एवं कानून बनाता है तथा उन्हें लागू करता है। सत्ताविहीन होने के साथ ही वहन् शक्तिविहीन भी हो जाता है।

प्रस्तुत अध्याय में हम सत्ता के अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं, प्रकृति तथा सत्ता के आधार का विस्तृत अध्यन करेंगे।

३.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

सत्ता का अर्थ
सत्ता की मुख्य विशेषताएं
सत्ता के स्वरूप
सत्ता की प्रकृति
सत्ता का आधार
सत्ता की सीमाएं
सत्ता व शक्ति

३.२.१ सत्ता का अर्थ :

सत्ता को राजनीतिक व्यवस्था की मूल आत्मा माना जाता है। इसके माध्यम से शासन की क्रियाओं को संपन्न किया जाता है। सत्ता उस नेतृत्व का नाम है जिसके माध्यम से शासन व्यवस्था के समस्त कार्य संपन्न किए जाते हैं। शासन व्यवस्था में अनुशासन, समन्वय, सामंजस्य, विनिश्चय की स्थापना की स्थिति का नाम ही सत्ता है। सत्ता में औचित्यपूर्णता, विश्वास, तर्क आदि का समावेश होता है। इसके बिना इसकी पालना नहीं कराई जा सकती। राजनीतिक शक्ति राजनीतिक सत्ता में परिवर्तित हो जाती है। तब सत्ता व्यवस्था के रूप में राजनीतिक क्रियाओं को संपन्न करती है। यह उच्च स्तर के माध्यम से निम्न स्तर को, आदेश सूचित करने व पालना करने की व्यवस्था है जिसमें शासन व्यवस्था जैसी क्रिया करती है, वैसी ही क्रिया प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से स्थापित करने

का प्रयास किया जाता है।

लोकतंत्र में सत्ता जनता द्वारा स्वीकृत किए जाने वाला वह बिन्दू है जिसके माध्यम से जनता सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित रहने का प्रयास करती है। जनता इसके अधीन रहते हुए सुनिश्चित व्यवहार करती है। राजनीतिक व्यवस्थाओं में सत्ता की मात्रा में वृद्धि होती रहती है इसलिए सत्ता शासन व्यवस्था का अभिन्न अंग है। सत्ता व्यक्ति, समूह, परिवार, संगठन एवं राज्य से भी ऊपर निवास करती है। सत्ता के अनेक प्रकार होते हैं। यह सत्ता की मूल संरचना के ही रूप होते हैं। सत्ता में मानवीय संस्थाओं एवं संगठनों के व्यवहार को बदलने की शक्ति भी पाई जाती है। इसमें वैज्ञानिकता, आधुनिक एवं औचित्यपूर्णता के आधार पर समस्त क्रियाएं संपन्न कराई जाती हैं। सत्ता शासन व्यवस्था की क्षमता का प्रतीक मानी जाती है।

सत्ता शब्द जिसे अंग्रेजी में अथॉरिटी भी कहते हैं, लैटिन भाषा के ऑक्टोरिटस से निकला है जिसका संबंध प्राचीन रोम की राजनीतिक संस्था, सीनेट के साथ रहा है। यह सीनेट बुजुर्गों का एक संगठन था जो सरकार को परामर्श तथा लोकसभा के निर्णयों को स्वीकृति देता था। रोम में जब कभी विशेष निर्णय होता या कानून बनता तो लोग एक प्रकार की लोकसभा में एकत्र होते और लोकसभा कानून की अनुमति देती। इसके बाद जैसे ही सीनेट किसी कानून को पारित कर देती उस कानून को ऑक्टोरिटस प्राप्त हो जाती। इसलिए प्रो. फ्रेडरिक ने कहा है, सत्ता तर्क के माध्यम से यह निश्चित करने की क्रिया है कि हमारे लिए कौन सा कार्य इच्छा या प्राथमिकता के दृष्टिकोण से उचित रहेगा।

सत्ता की परिभाषाएं :

1. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज के अनुसार, 'सत्ता एक समूह पर प्राप्त अथवा स्वाभाविक उच्चता प्रयोग करने की योग्यता है। सत्ता शक्ति को प्रकट करती है तथा अपने अधीनस्थ व्यक्तियों से आज्ञा पालन करवाती है।'

2. अरेन के अनुसार : सत्ता वह शक्ति है जो स्वीकृति पर आधारित है। इसकी प्रमुख विशेषता उन लोगों की पूर्व स्वीकृति होती है जिन्हें इसका आज्ञापालन करना होता है।

3. रॉबर्ट ए. डहल के अनुसार : उचित शक्ति को प्राय: सत्ता का नाम दिया जाता है।

4. जावेनल के अनुसार – सत्ता दूसरे व्यक्ति की स्वीकृति प्राप्त करने का गुण है।

5. साइमन के अनुसार – सत्ता को, दूसरे लोगों के कार्यों को निर्देशित करने वाले निर्णयों को लेने की शक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह दो व्यक्तियों के बीच का संबंध है– इसमें एक सर्वोच्च होता है और दूसरा अधीनस्थ होता है।

अत: सत्ता को राज्य में वही स्थान प्राप्त है जो आत्मा का शरीर में है। सत्ता द्वारा ही सभी महत्वपूर्ण निर्याण लिए जाते हैं तथा अधीनस्थों द्वारा उनको स्वीकार किया जाता है। आज्ञाएं देने तथ अधीनस्थों द्वारा स्वीकारना, सत्ता के ये दो प्रमुख पहलू हैं। अत: जब राज्य की शक्ति को वहां की जनता का औचित्यपूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है तो उसे सत्ता कहा जाता है। बिना इस समर्थन के उसका स्वरूप शक्ति का ही रहेगा। राजनीतिज्ञ अपनी शासकीय नीतियों का समर्थन पाने के लिए पुरस्कार या दंड जैसे साधनों का प्रयोग करते हैं।

यूनेस्को की 1995 की एक रिपोर्ट के अनुसार, 'सत्ता वह शक्ति है जो स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण हो।' हम सत्ता की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कह सकते हैं कि यह वह शक्ति है जो निर्णय लेती है तथा जो दूसरों के कार्यों पर नियंत्रण रखती है। यह एक प्रकार का दो व्यक्तियों – सर्वोच्च व अधीनस्थ का संबंध

है। इस प्रकार सत्ता की आत्मा शक्ति है।

सत्ता की अवधारणा, इसकी विशेषताओं को स्पष्ट किए बिना स्पष्ट नहीं हो सकती। अत: इनका विवरण अनिवार्य है :

३.२.२ सत्ता के तत्व या विशेषताएं :

1. प्रभुत्व : प्रभुत्व सत्ता का आवश्यक तत्व है। इसका अर्थ है कि सत्ताधारी का, उस व्यवस्था में हो रहे सभी कार्यों तथा रचनाओं पर प्रभुत्व रहे, क्योंकि सत्ता ही – उस व्यवस्था में हो रहे कार्यों, क्रियाओं आदि को संचालित व नियंत्रित करती है।

2. उत्तरदायित्व : सत्ता का एक आवश्यक तत्व उत्तरदायित्व होता है जैसे लोक कल्याण, विधि–व्यवस्था आदि की जिम्मेदारी उस व्यवस्था में सत्ताधारी की होती है। लोकतंत्रीय प्रणाली में यह तत्व स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है, क्योंकि इस प्रणाली में विधानपालिका व कार्यपालिका जनता के प्रति स्पष्टतया उत्तरदायी होता है।

3. सत्ता, विवेक का रूप : सत्ता का मूल तत्व विवेक होता है। जब हम किसी व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो इसके लिए हमारे पास ठोस कारण होते हैं। ये ठोस कारण प्रचलित मूल्यों, विश्वासों, तर्क आदि पर निर्भर होते हैं। दूसरे शब्दों में ये, ठोस कारण विवेक पर आधारित होते हैं। अत: विवेक सत्ता का आवश्यक तत्व है।

4. सत्ता शक्ति नहीं है : लासवैल तथा कैपलन आदि कुछ विद्वानों ने सत्ता को औपचारिक शक्ति कहकर उसे शक्ति का ही एक रूप माना है। लेकिन यह विचार उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि सत्ता में उन कुछ मुख्य तत्वों का अभाव है जो शक्ति की अवधारणा के मुख्य लक्षण हैं।

5. औचित्यपूर्णता सत्ता की प्रभावशीलता को सुनिश्चित करती है : सत्ता का मूल आधार विवेक होने के कारण सत्ताधारी व्यक्ति के आदेश को औचित्यपूर्णता का समर्थन मिल जाता है, लेकिन यह औचित्यपूर्णता वैधानिक और विवेकपूर्ण दो प्रकार की हो सकती है। डहल का कहना है कि सत्ता के लिए विवेकपूर्ण औचित्यपूर्णता ही अधिक महत्वपूर्ण है। अत: सत्ता का न्यायोचित होना भी उसकी एक प्रमुख विशेषता है।

6. पद सोपान : सत्ता की स्थापना विभिन्न अधिकारियों के आपसी संबंधों से होती है जिन्हें पद–सोपान के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रशासन में अधिकारियों की अनेक श्रेणियां होती हैं। उच्च अधिकारी के पास अधिक सत्ता होती है और उसके आदशों का पालन अन्य अधिकारियों को करना पड़ता है।

7. सत्ता एक स्वीकृत शक्ति है : सत्ता एक स्वीकृत शक्ति होती है। अधीनस्थ अधिकारी उच्च सत्ताधारी की शक्ति को स्वीकार करते हैं और उसके आदेशों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

8. सत्ता भौतिक नहीं है : सत्ता का स्वरूप भौतिक नहीं होता, इसलिए इसे देखा नहीं जा सकता और न ही दिखाया जा सकता है। यह निराकार और अनुभवात्मक होती है।

३.२.३ सत्ता के विभिन्न स्वरूप :

1. दैवीय सत्ता : आज के लोकतांत्रिक युग में दैवीय अधिकारों पर आधारित सत्ता का रूप विचित्र लगता है तथा इस सिद्धांत का आज कोई महत्व भी नहीं है। फिर भी, एक युग था, जब इस सिद्धांत का महत्व था, जैसे जेम्स प्रथम के अनुसार, उनको राज्य सत्ता एक दैवीय अधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी।

2. शक्ति पर आधारित सत्ता : इस प्रकार की सत्ता का आधार है शक्ति या बल। अर्थात जिसकी लाठी उसकी भैंस। इसके अनुसार शक्तिशाली कमजोरों को अपने अधीन करके शासक बन गया तो उसकी सत्ता का आधार शक्ति हुआ। परन्तु आज के लोकतांत्रिक युग में यह सिद्धान्त भी महत्वहीन है।

3. पैतृक परंपरा पर आधारित सत्ता : इस प्रकार की सत्ता का अर्थ है कि वह सत्ता जो पैतृक परंपरा के अनुसार प्राप्त होती है। राजतंत्र में सत्ता का यही रूप विद्यमान होता है जैसे इंग्लैंड में यद्यपि राजा नाममात्र का अध्यक्ष है, परन्तु उसके पद का आधार पैतृतकता है।

4. परंपरागत सत्ता : जब अधीनस्थ व्यक्ति उच्च अधिकारियों की आज्ञाओं को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि 'ऐसा तो सदा होता आया है' तो इस प्रकार की सत्ता को परंपरागत सत्ता कहा जाता है। अधीनस्थ कर्मचारी परंपराओं के आधार पर परंपरा के प्रतीक व्यक्ति विशेष की आज्ञाओं का पालन करते हैं, जैसे राजतंत्र में प्रजा राजा की आज्ञाओं का पालन करती है, परन्तु आधुनिक युग में इस सिद्धान्त का महत्व भी कम है।

5. संवैधानिक सत्ता : जब किसी व्यक्ति को संविधान द्वारा सत्ता प्राप्त होती है तो उसे संवैधानिक सत्ता कहा जाएगा, जैसे भारत के राष्ट्रपति को संविधान द्वारा जो शक्तियां दी गई हैं, इनका आधार संवैधानिक सत्ता है।

6. औचित्यपूर्ण सत्ता : वह सत्ता जो कानून के अनुसार उचित हो और जिसे सब व्यक्ति अपनी अंतरात्मा के आधार पर स्वीकार करते हैं, उसे औचित्यपूर्ण सत्ता कहते हैं। उदाहरणस्वरूप लोकतंत्र में चुनी गई सरकार की सत्ता औचित्यपूर्ण होती है।

7. अवैध सत्ता : जो सत्ता कानून या संविधान के अनुसार न होकर अनुचित साधनों, छल-बल द्वारा प्राप्त हो, उसे अवैध सत्ता कहते हैं। जैसे जब कोई अधिकारी या सैनिक अधिकारी छल, बल, सैनिक क्रांति के द्वारा राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर लेता है तो वह सत्ता अवैध सत्ता कहलाती है।

8. करिश्मावादी सत्ता : जब एक सत्ताधारी की शक्ति को वहां की जनता उसके असाधारण गुणों चरित्र, व्यक्तित्व के कारण महत्तव देती है और उसकी आज्ञाओं का पालन करती है तो इसे चमत्कारी सत्ता कहा जाता है। इसलिए वैबर ने कहा है, करिश्मावादी सत्ता किसी विशिष्ट व्यक्ति के आदर्श, चरित्र, वीरता तथा आलौकिक पवित्रता के प्रति श्रद्धा पर आधारित होती है।

9. राजनीतिक सत्ता : राजनीतिक सत्ता उस सत्ता को कहते हें जो राजनीतिक नेताओं के पास होती है तथा जो किसी सरकारी पद पर विराजमान न होते हुए भी सरकार की नीतियों तथा निर्णयों को प्रभावित करते रहते हैं। जयप्रकाश नारायण की सत्ता इसी प्रकार की सत्ता के उदाहरण हैं।

10. धार्मिक सत्ता : जिस सत्ता को किसी धर्म के सिद्धान्तों के द्वारा मान्यता दी जाती है और उसका पालन किया जाता है तो उसे धार्मिक सत्ता कहा जाता है। अमृतसर के अकाल तख्त के प्रमुख ग्रंथी की सत्ता व ईसाई धर्म को मानने वालों के लिए पोप की सत्ता इसी प्रकार की सत्ता के उदाहरण हैं।

३.२.४ सत्ता की प्रकृति :

सत्ता में क्या और क्यों का संबंध पाया जाता है, तभी इसकी पालना होती है। सत्ता सर्वोच्च शक्ति का प्रतीक है इसलिए प्रो. बीच ने सत्ता की प्रकृति के संबंध में दो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं :

1. औपचारिक सत्ता का सिद्धांत : राजनीति, प्रशासन, संगठन, संस्था आदि में सत्ता सबसे ऊपर रहती है। यह ऊपर से नीचे की ओर महत्वपूर्ण रहती है। इसमें पद-सोपान व्यवस्था के अंतर्गत ऊपर से नीचे तक कार्यों

व शक्तियों का वितरण पाया जाता है। सबसे ऊपर से सत्ता के माध्यम से आदेश प्रसारित किए जाते हैं। नीचे के स्तर पर नियंत्रण पालना कराने के लिए औपचारिक रूप से पत्र व्यवहार, मार्गदर्शन, निर्देशन, सूचना-प्रसारित किए जाते हैं। यह औपचारिक सत्ता के रूप में कानूनी तथा वैधानिक सत्ता का ही रूप होती है।

2. सत्ता की स्वीकृति का सिद्धांत : सत्ता में प्रसारित किए जाने वाले आदेशों को स्वीकृति मिलना अत्यंत आवश्यक है। यदि आदेश अस्वीकृत कर दिए जाते हैं तो कोई कार्य निष्पादित नहीं किया जा सकता। शासन व्यवस्था यदि निरर्थक नीति बनाकर उसकी पालना कराए जाने को प्रशासन को सौंपती है तो प्रशासनिक कार्मिक उसे सहमति देते हुए व्यापक अभियान चलाकर नीति को सफल बना देते हैं।

सत्ता की स्वीकृति के संबंध में बर्नाडे ने चार मुख्य बातें बताई हैं :

1. जो आदेश या सूचना प्रसारित किए जाते हैं, कार्मिक उनको समझने की समझ रखता है या नहीं। यदि रखता है तो उसकी स्वीकृति सहमति में परिवर्तित हो जाती है।

2. कार्मिक को अपना निर्णय ग्रहण करते समय यह विश्वास होना चाहिए कि संगठन के उद्देश्यों के साथ आदेश के उद्देश्य अनुचित नहीं हैं।

3. कार्मिक समग्रता से सोचकर व्यक्तिगत हितों के अनुकूल आदेश को स्वीकृति प्रदान करता हो।

4. कार्मिक, मानसिक तथा शारीरिक रूप से आदेश की पालना करने में सक्षम हो।

सत्ता की स्वीकृति का सिद्धांत सत्ता के लिए संस्थागत कार्यों को संपन्न कराने की अवधारणा लिए हुए है।

सत्ता के कार्य :

सत्ता के कार्य बहुसंख्यक कार्य हैं। यह सीमित कार्य के स्थान पर असीमित कार्य करते हैं। सत्ता के कार्य नियमित और निरंतर होते रहते हैं। इसके कार्यों में कुशलता, निपुणता पाई जाती है। सत्ता स्थायित्व में रहकर प्राथमिकता के आधार पर कार्य संपन्न करती है।

1. संगठन में समन्वय की स्थापना : सत्ता का एक मुख्य कार्य संगठन में समन्वय या तालमेल की स्थापना करना है। किसी भी संगठन, विशेष रूप से राज्य में सत्ताधारी व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने अधीनस्थ अधिकारियों को आवश्यक आदेश दे तथा संगठन की कार्यविधियों की जानकारी प्राप्त करता रहे। इसके साथ-साथ संगठन में जो भी योजना लागू होती है, उसे प्रत्येक सदस्य तक पहुंचाना आवश्यक है।

2. उत्तरदायित्व : सत्ता का अन्य कर्तव्य यह है कि वह व्यक्तिगत कार्यों तथा समाज द्वारा स्थापित आदर्शों के मध्य एकरूपता स्थापित करती है। जब सत्ता को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लागू किया जाता है तो स्वीकृति का प्रयोग होना स्वाभाविक है। इस स्वीकृति के कई रूप-राजनीतिक, कानूनी, धार्मिक, सामाजिक या नैतिक हो सकते हैं।

3. नियंत्रण : सत्ता के कार्यों की श्रेणी में नियंत्रण महत्वपूर्ण है। सत्ता को अपने कार्यों तथा नीतियों को कार्यान्वित करवाने के लिए अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। सत्ता को इस बात को सुनिश्चित करना होगा कि उसके द्वारा निर्धारित नीतियों, कार्यों व उद्देश्यों की पूर्ति किस तरह होगी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे किन-किन साधनों की आवश्यकता पड़ेगी। साथ ही उसे यह भी देखना होगा कि कर्मचारी उचित रूप से कर्तव्य भी निभा रहे हैं या नहीं। लेकिन नियंत्रण असीमित भी नहीं होना चाहिए।

4. अनुशासन : सत्ता का अन्य कार्य अनुशासन विषयक है। जब तक कर्मचारी अनुशासित नहीं होगा, तब तक सत्ता के नियमों व आदेशों का पालन करने के प्रति इच्छा तथा सेवाओं से संबंधित कर्तव्यों के प्रति निष्ठा बनाए

रखने के लिए अनुशासन की आवश्यकता है। ऐसे कर्मचारियों के लिए जो अपने दायित्वों को निभाने में कमी रखते हैं, सत्ता द्वारा उनके लिए एक आचार-संहिता तैयार की जाती है। इससे कर्मचारियों को पहले ही पता होता है कि आदेश न मानने पर उन पर अनुशासनात्मक कार्रवाई होगी। अनुशासन का वास्तविक उद्देश्य सुधारवादी होता है।

5. निर्णय : सत्ताधारी व्यक्ति या सत्ता को अपने कार्यों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए समय-समय पर निर्णय लेने पड़ते हैं। सत्ता की सफलता व असफलता उसकी निर्णय लेने की क्षमता पर निर्भर करती है। सत्ता द्वारा सही समय पर सही निर्णय लेना चाहिए, यही उसकी सफलता का आधार है। वास्तव में सत्ता द्वारा संचालित प्रशासन निर्णय देने की एक प्रक्रिया है। आधुनिक लोकतंत्र के युग में तो सत्ता द्वारा निर्णय लेने के कार्य का महत्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि सही और जनमत के पक्ष में निर्णय न लिए जाने की स्थिति में सत्ता को अपनी शक्ति खो देने का भय होता है।

6. निर्णयों में विशेषज्ञों की बुद्धि का प्रयोग : सत्ता का एक और कार्य है कि जो भी निर्णय उसके द्वारा लिए जाएं, उनमें विशेषज्ञों के द्वारा लिए गए निर्णयों को अधीनस्थ अधिकारी स्वीकार कर लेते हैं तथा दूसरे इससे शासन की कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है। इस प्रकार विशेषज्ञों को सत्ता के पद-सोपान में ऊंचा स्तर प्रदान किया जाता है।

7. विकास : सत्ताधारी व्यक्ति या सत्ता का मुख्य लक्ष्य विकास होता है। सत्ता द्वारा सभी कार्य विकास को ध्यान में रखकर किए जाते हैं। वास्तव में विकास ऐसी धुरी है जिसके चारों ओर सत्ता चक्कर लगाती रहती है और जो सत्ता विकास को अपना परम उद्देश्य नहीं बनाती, उसका पतन शीघ्र ही संभावित होता है।

३.२.५ सत्ता का आधार :

सत्ता के कार्य स्पष्ट करने के बाद यह भी बतलाना आवश्यक है कि सत्ता का क्या आधार है? सत्ता का आधार है - विश्वास तथा मूल्य। जो बातें या आज्ञाएं व्यक्ति के विश्वासों तथा मूल्यों के अनुसार होती हैं उन्हें वह मान लेता है। इसके विपरीत स्थिति में आज्ञाओं की अवहेलना की जाती है। इसलिए सत्ता को बदलते हुए मूल्यों, विश्वासों तथा आवश्यकताओं के अनुसार आज्ञाएं देनी चाहिए।

सत्ता की स्वीकृतियां :

सामाजिक परिस्थितियों, मूल्यों, विश्वासों तथा धारणाओं के संदर्भ में ही सत्ता की स्वीकृतियां निश्चित की जा सकती है। सत्ता की दृष्टि से निम्न स्वीकृतियां या दबाव पाए जाते हैं :

1. सामाजिक स्वीकृति : सत्ता के पीछे सबसे शक्तिशाली स्वीकृति समाज की होती है। समाज का एक बड़ा वर्ग स्वाभाविक रूप से सत्ता की आज्ञा का पालन करता है। इसके अतिरिक्त, जो लोग सत्ता की आज्ञा का पालन नहीं करते, वे जनता द्वारा अपमानित किए जाते हैं तथा समाज की दृष्टि में गिर जाते हैं।

2. मनोवैज्ञानिक स्वीकृति : सत्ता के संबंध में मनोवैज्ञानिक स्वीकृति का संबंध सत्ताधारी व्यक्ति से है। प्रथम तो सत्ता का मनोवैज्ञानिक स्वरूप ही ऐसा है कि अधीनस्थ पदाधिकारी अपने से उच्च पदाधिकारी की आज्ञा का पालन करते हैं। दूसरे, यदि सत्ताधारी व्यक्ति नेतृत्व के गुणों से युक्त है तो उसकी आज्ञा का पालन निश्चित हो ही जाता है।

3. उद्देश्य की स्वीकृति : सत्ता की आज्ञा का पालन इसलिए भी किया जाता है कि अधीनस्थ कर्मचारी यह समझते हैं कि ऐसा करने से संगठन के उद्दश्य की पूर्ति होती है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यहक है कि आज्ञा

पालन करने वाले लोगों में यह विश्वास होना चाहिए कि वे जो कार्य कर रहे हैं, उससे संगठन के उद्देश्यों को पूरा करने में सहायता मिलेगी।

4. आर्थिक सुरक्षा की स्वीकृति : कर्मचारी अपने से ऊपर के पदाधिकारी की आज्ञा का इसलिए भी पालन करते हैं कि वे अपने पद पर बने रहें, धन कमाएं तथा समान प्राप्त कर सकें। इस प्रकार आर्थिक सुरक्षा की स्वीकृति सत्ता के लिए स्वीकृति है।

5. उत्तरदायित्व से बचने की स्वीकृति : अधीनस्थ कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व से बचने के लिए अपने से उच्च पदाधिकारियों की आज्ञा का पालन कर लते हैं। इस प्रकार कर्मचारियों में उत्तरदायित्व न लेने की भावना से सत्ता की आाज्ञा मानने की प्रवृत्ति पैदा होती है।

6. व्यक्तिगत गुण : सत्ताधारी कई बार अपने आदेशों का पालन केवल कानूनी आधार पर ही नहीं, बल्कि अपने गुणों व योग्यता के आधार पर भी करवाता है।

३.२.६ सत्ता की सीमाएं :

राजनीतिक व्यवस्थाओं में सत्ता की सीमाएं निश्चित होती हैं। जब राजनीतिक व्यवस्था इन सीमाओं का उल्लंघन करने लगती है, तब सत्ता व राजनीतिक व्यवस्था दोनों के सामने जनता द्वारा व्यापक विरोध उत्पन्न किया जाता है। किसी भी व्यक्ति विशेष की इच्छानुसार सत्ता का प्रयोग नहीं किया जाता है। सत्ता की सीमाएं इस प्रकार हैं :

1. सत्ता राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में मूल्यों, आदर्शों, मर्यादाओं, परंपराओं की सीमाओं का पालन करती है।

2. सत्ता पर नैतिकता की सीमाएं लागू होती हैं।

3. सत्ता जन आकांक्षाओं को कुचलने का प्रयास नहीं कर सकती हैं।

4. सत्ता व्यक्ति को स्वतंत्रता, समानता, न्याय के जीवन से वंचित नहीं कर सकती है।

5. सत्ता में लगे हुए लोग यदि सत्ता का दुरुपयोग करते हैं तो सत्ता दंडित करने की व्यवस्था करती है। छानबीन करने के लिए जांच आयोग नियुक्त करती है। संबंधित कार्मिक के दोषी पाए जाने पर उसे पद से हटाने व दंडित करने की व्यवस्था सत्ता द्वारा लागू की जाती है।

6. सत्ता भेदभाव उत्पन्न नहीं कर सकती है। पक्षपातपूर्ण वातावरण, कार्य, नीतियां लागू नहीं कर सकती है।

7. सत्ता संवैधानिक, कानूनों, वैधानिक व राष्ट्रीय परंपराओं का पालन करती है।

8. सत्ता दबाव समूह, संगठन, संघ के हितों की अवहेलना नहीं कर सकती। इनके हितों को ध्यान में रखते हुए इनकी मर्यादाओं का पालन करती है।

9. सत्ता नौकरशाही के हितों का उल्लंघन नहीं कर सकती है।

1. सत्ता का दुरुपयोग पद व शक्ति के रूप में नहीं किया जा सकता।

३.२.७ सत्ता तथा शक्ति में अंतर :

सत्ता तथा शक्ति राजनीति विज्ञान की दो महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं। साधारणत: इन दोनों अवधारणाओं का

प्रयोग एक-दूसरे के स्थान पर किया जाता है, परन्तु वास्तव में ये दोनों अलग-अलग धारणाएं हैं। सत्ता को आदेश देने का अधिकार है जबकि शक्ति आदेश देने की क्षमता है। शक्ति संपन्न व्यक्ति अपनी शक्ति को सत्ता में बदलने का प्रयास करता है। इस प्रकार शक्ति एक व्यक्ति की क्षमता है और अधिकार उस व्यक्ति की सत्ता को कहा जा सकता है। कभी-कभी शक्ति तथा सत्ता एक ही व्यक्ति में तो कभी-कभी अलग-अलग व्यक्तियों में भी पाई जाती है। एक शक्ति-संपन्न व्यक्ति को सत्ता संपन्न तभी कहा जा सकता है, जब उसकी आज्ञाओं को लोग इच्छापूर्वक मानें।

इसलिए सत्ता का स्वरूप प्राय: काननी होता है, जबकि यह आवश्यक नहीं है कि शक्ति का रूप भी कानूनी ही हो।

निम्न मुख्य आधारों पर शक्ति तथा सत्ता में अंतर स्पष्ट किया जा सकता है :

1. शक्ति बल पर, जबकि सत्ता नियमों व धारणाओं पर आधारित है : शक्ति तथा सत्ता दोनों का अर्थ साधारण तौर पर नियंत्रण में रखने की स्थिति में लिया जाता है, परन्तु गहराई से देखें तो शक्ति का आधार बल अर्थात कई बार हानि पहुंचा सकने का भय भी होता है। दूसरी ओर कानूनों, नियमों, धारणाओं, विश्वास तथा मूल्यों के अनुसार अपने निर्णय को अन्यों पर लागू करने को सत्ता कहा जाएगा। सत्ता सहमति पर आधारित है। इसमें दमन या दबाव आवश्यक नहीं।

2. शक्ति वैध भी और अवैध भी संभव पर सत्ता वैध : शक्ति औचित्यपूर्ण भी हो सकती है तथा अवैध भी हो सकती है। संविधान द्वारा सत्ता प्राप्त राष्ट्रपति के विरुद्ध सैनिक विद्रोह करके अधिकार जमाना एक जनरल तानाशाह की शक्ति तो है, परन्तु यह अवैध है। साथ ही उसे संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त न होने के कारण उसके पास सत्ता नहीं है।

3. शक्ति अन्यों के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता है जबकि सत्ता अन्यों की स्वीकृति प्राप्त करने की क्षमता है : सत्ता का अर्थ अन्य व्यक्तियों द्वारा अपने सुझावों व योजनाओं पर सहमति प्राप्त करने की क्षमता से लिया जाता है। दूसरी ओर जब व्यक्ति अन्यों के व्यवहार को अपने पक्ष में बदलने का प्रयत्न कर रहा होता है, जिसमें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, कुछ न कुछ प्रभाव, दमन तथा बल का अंश होता है, तो वह व्यक्ति शक्ति का प्रयोग कर रहा होता है।

4. सत्ता में विवेक का अंश होता है जबकि शक्ति में यह अंश नहीं होता : सत्ता का मूल तत्व विवेक होता है। सत्ता के लिए आवश्यक है कि विवेक के आधार पर अपने विचारों द्वारा अन्य लोगों को सहमत कराना - न कि धन या बल द्वारा अपनी योजनाएं स्वीकृत कराना। दूसरी ओर शक्ति अन्यों के व्यवहार को अपने पक्ष में करने की क्षमता का नाम है, क्योंकि आज्ञा प्रदान करने की क्षमता ही शक्ति है। शक्ति के कई रूप हो सकते हैं जैसे प्रभाव, अनुनय, बल, दमन या दबाव, परन्तु विवेकशील युक्तियां प्राय: शक्ति का मुख्य तत्व नहीं होती।

5. उचित शक्ति ही सत्ता है : रॉबर्ट डहल का कहना है कि उचित शक्ति को प्राय: सत्ता का नाम दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि जब शक्ति का कोई उचित आधार होता है तो वह शक्ति सत्ता होती है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति को कानून द्वारा कुछ अधिकार दिए गए हैं तो उसका शक्ति का अधिकार वैधानिक है, जिसे सत्ता कहा जा सकता है। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति की शक्ति उचित है तो उसे सत्ता कहा जा सकता है।

7. सत्ता शक्ति से अधिक लोकतांत्रिक है : सत्ता का स्वरूप शक्ति से अधिक लोकतांत्रिक होता है, क्योंकि सत्ता के पीछे जनमत की इच्छा होती है। जनमत ही लोकतंत्र का आधार है। शक्ति में बल का प्रयोग किया

जाता है। इस कारण इसका झुकाव लोकतंत्र की अपेक्षा तानाशाही की ओर अधिक होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शक्ति और सत्ता में कुछ संबंध है, लेकिन ये दोनों भिन्न-भिन्न अवधारणाएं हैं।

३.३ सारांश :

सत्ता उस नेतृत्व का नाम है जिसके माध्यम से शासन व्यवस्था के समस्त कार्य संपन्न किए जाते हैं। शासन व्यवस्था में अनुशासन, समन्वय, सामंजस्य, विनिश्चय की स्थापना की स्थिति का नाम ही सत्ता है। सत्ता में औचित्यपूर्णता, विश्वास, तर्क आदि का समावेश होता है। इसके बिना इसकी पालना नहीं कराई जा सकती। राजनीतिक शक्ति राजनीतिक सत्ता में परिवर्तित हो जाती है। तब सत्ता व्यवस्था के रूप में राजनीतिक क्रियाओं को संपन्न करती है। यह उच्च स्तर के माध्यम से निम्न स्तर को, आदेश सूचित करने व पालना करने की व्यवस्था है जिसमें शासन व्यवस्था जैसी क्रिया करती है, वैसी ही क्रिया प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। सत्ता शब्द जिसे अंग्रेजी में अथॉरिटी भी कहते हैं, लैटिन भाषा के ऑक्टोरिटस से निकला है जिसका संबंध प्राचीन रोम की राजनीतिक संस्था, सीनेट के साथ रहा है। यह सीनेट बुजुर्गों का एक संगठन था जो सरकार को परामर्श तथा लोकसभा के निर्णयों को स्वीकृति देता था। रोम में जब कभी विशेष निर्णय होता या कानून बनता तो लोग एक प्रकार की लोकसभा में एकत्र होते और लोकसभा कानून की अनुमति देती। इसके बाद जैसे ही सीनेट किसी कानून को पारित कर देती उस कानून को ऑक्टोरिटस प्राप्त हो जाती। इसलिए प्रो. फ्रेडरिक ने कहा है, सत्ता तर्क के माध्यम से यह निश्चित करने की क्रिया है कि हमारे लिए कौन सा कार्य इच्छा या प्राथमिकता के दृष्टिकोण से उचित रहेगा।

प्रभुत्व सत्ता का आवश्यक तत्व है। इसका अर्थ है कि सत्ताधारी का, उस व्यवस्था में हो रहे सभी कार्यों तथा रचनाओं पर प्रभुत्व रहे, क्योंकि सत्ता ही - उस व्यवस्था में हो रहे कार्यों, क्रियाओं आदि को संचालित व नियंत्रित करती है। सत्ता का एक आवश्यक तत्व उत्तरदायित्व होता है जैसे लोक कल्याण, विधि-व्यवस्था आदि की जिम्मेदारी उस व्यवस्था में सत्ताधारी की होती है। सत्ता का मूल तत्व विवेक होता है। जब हम किसी व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो इसके लिए हमारे पास ठोस कारण होते हैं। ये ठोस कारण प्रचलित मूल्यों, विश्वासों, तर्क आदि पर निर्भर होते हैं। सत्ता का मूल आधार विवेक होने के कारण सत्ताधारी व्यक्ति के आदेश को औचित्यपूर्णता का समर्थन मिल जाता है, लेकिन यह औचित्यपूर्णता वैधानिक और विवेकपूर्ण दो प्रकार की हो सकती है। सत्ता की स्थापना विभिन्न अधिकारियों के आपसी संबंधों से होती है जिन्हें पद-सोपान के रूप में स्वीकार किया जाता है। सत्ता एक स्वीकृत शक्ति होती है। अधीनस्थ अधिकारी उच्च सत्ताधारी की शक्ति को स्वीकार करते हैं और उसके आदेशों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं। सत्ता का स्वरूप भौतिक नहीं होता, इसलिए इसे देखा नहीं जा सकता और न ही दिखाया जा सकता है। यह निराकार और अनुभवात्मक होती है।

सत्ता तथा शक्ति राजनीति विज्ञान की दो महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं। साधारणत: इन दोनों अवधारणाओं का प्रयोग एक-दूसरे के स्थान पर किया जाता है, परन्तु वास्तव में ये दोनों अलग-अलग धारणाएं हैं। सत्ता को आदेश देने का अधिकार है जबकि शक्ति आदेश देने की क्षमता है। शक्ति संपन्न व्यक्ति अपनी शक्ति को सत्ता में बदलने का प्रयास करता है। इस प्रकार शक्ति एक व्यक्ति की क्षमता है और अधिकार उस व्यक्ति की सत्ता को कहा जा सकता है। कभी-कभी शक्ति तथा सत्ता एक ही व्यक्ति में तो कभी-कभी अलग-अलग व्यक्तियों में भी पाई जाती है। एक शक्ति-संपन्न व्यक्ति को सत्ता संपन्न तभी कहा जा सकता है, जब उसकी आज्ञाओं को लोग इच्छापूर्वक

मानें।

३.४ सूचक शब्द :

सत्ता :

शासन व्यवस्था में अनुशासन, समन्वय, सामंजस्य, विनिश्चय की स्थापना की स्थिति का नाम ही सत्ता है। सत्ता में औचित्यपूर्णता, विश्वास, तर्क आदि का समावेश होता है। इसके बिना इसकी पालना नहीं कराई जा सकती। राजनीतिक शक्ति राजनीतिक सत्ता में परिवर्तित हो जाती है। तब सत्ता व्यवस्था के रूप में राजनीतिक क्रियाओं को संपन्न करती है। यह उच्च स्तर के माध्यम से निम्न स्तर को, आदेश सूचित करने व पालना करने की व्यवस्था है जिसमें शासन व्यवस्था जैसी क्रिया करती है, वैसी ही क्रिया प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

प्रभुत्व : प्रभुत्व सत्ता का आवश्यक तत्व है। इसका अर्थ है कि सत्ताधारी का, उस व्यवस्था में हो रहे सभी कार्यों तथा रचनाओं पर प्रभुत्व रहे, क्योंकि सत्ता ही – उस व्यवस्था में हो रहे कार्यों, क्रियाओं आदि को संचालित व नियंत्रित करती है।

उत्तरदायित्व : सत्ता का एक आवश्यक तत्व उत्तरदायित्व होता है जैसे लोक कल्याण, विधि–व्यवस्था आदि की जिम्मेदारी उस व्यवस्था में सत्ताधारी की होती है। लोकतंत्रीय प्रणाली में यह तत्व स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है, क्योंकि इस प्रणाली में विधानपालिका व कार्यपालिका जनता के प्रति स्पष्टतया उत्तरदायी होता है।

पद सोपान : सत्ता की स्थापना विभिन्न अधिकारियों के आपसी संबंधों से होती है जिन्हें पद–सोपान के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रशासन में अधिकारियों की अनेक श्रेणियां होती हैं। उच्च अधिकारी के पास अधिक सत्ता होती है और उसके आदशों का पालन अन्य अधिकारियों को करना पड़ता है।

स्वीकृत शक्ति : सत्ता एक स्वीकृत शक्ति होती है। अधीनस्थ अधिकारी उच्च सत्ताधारी की शक्ति को स्वीकार करते हैं और उसके आदेशों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

नियंत्रण : सत्ता के कार्यों की श्रेणी में नियंत्रण महत्वपूर्ण है। सत्ता को अपने कार्यों तथा नीतियों को कार्यान्वित करवाने के लिए अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। सत्ता को इस बात को सुनिश्चित करना होगा कि उसके द्वारा निर्धारित नीतियों, कार्यों व उद्देश्यों की पूर्ति किस तरह होगी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे किन–किन साधनों की आवश्यकता पड़ेगी। साथ ही उसे यह भी देखना होगा कि कर्मचारी उचित रूप से कर्तव्य भी निभा रहे हैं या नहीं। लेकिन नियंत्रण असीमित भी नहीं होना चाहिए।

अनुशासन : सत्ता का अन्य कार्य अनुशासन विषयक है। जब तक कर्मचारी अनुशासित नहीं होगा, तब तक सत्ता के नियमों व आदेशों का पालन करने के प्रति इच्छा तथा सेवाओं से संबंधित कर्तव्यों के प्रति निष्ठा बनाए रखने के लिए अनुशासन की आवश्यकता है। ऐसे कर्मचारियों के लिए जो अपने दायित्वों को निभाने में कमी रखते हैं, सत्ता द्वारा उनके लिए एक आचार–संहिता तैयार की जाती है। इससे कर्मचारियों को पहले ही पता होता है कि आदेश न मानने पर उन पर अनुशासनात्मक कार्रवाई होगी।

३.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. सत्ता से आप क्या समझते हैं? इसका अर्थ बताएं व परिभाषाएं दें।

२. सत्ता के प्रमुख तत्व कौन-कौन से हैं, विस्तार से वर्णन करें।
३. सत्ता के विभिन्न स्वरूपों के बारे में विस्तार से बताएं।
४. सत्ता के कार्यों पर विस्तार से टिप्पणी लिखें।
५. सत्ता के आधार कौन-कौन से हैं? सत्ता की सीमाएं भी बताएं।
६. सत्ता एवं शक्ति में अंतर पर विस्तार से टिप्पणी करें।

३.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

नागरिकता

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम नागरिकता के बारे में चर्चा करेंगे। नागरिकता का अर्थ, नागरिकता का आधार, नागरिक की अवधारणा व आदर्श नागरिकता आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

४.० उद्देश्य
४.१ परिचय
४.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
४.४.१ नागरिकता का अर्थ
४.२.२ नागरिकता का आधार
४.२.३ नागरिक की अवधारणा
४.२.४ आदर्श नागरिकता
४.३ सारांश
४.४ सूचक शब्द
४.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
४.६ संदर्भित पुस्तकें

४.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

- नागरिकता का अर्थ
- नागरिकता का आधार
- नागरिक की अवधारणा
- आदर्श नागरिकता

४.१ परिचय :

किसी नागरिक को किसी राज्य का सदस्य होने पर प्राप्त होने वाली मान्यता ही नागरिकता होती है। इसके आधार पर उसे कानून रूप से कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं जिनका वह प्रयोग कर सकता है। नागरिकता प्राप्त करने

के कई तरीके हैं तो राज्य को इस अधिकार को छीनने की शक्ति भी प्राप्त है। नागरिकता प्राप्त करने के कई तरीके हैं जैसे जन्म द्वारा, निवास द्वारा, गोद लेकर आदि। कई देशों में इकहरी नागरिकता का चलन है तो कई देश अपने नागरिकों को दोहरी नागरिकता भी दे देते हैं।

इस अध्याय में हम नागरिकता का अर्थ जानने से लेकर उसकी परिभाषाओं, उसे प्राप्त करने के तरीकों, उसे छीनने की शक्तियों, नागरिक की अवधारणा, आदर्श नागरिकता, इसके मार्ग में बाधाएं तथा उन्हें दूर करने के उपायों का अध्ययन विस्तार से करेंगे।

४.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

नागरिकता का अर्थ
नागरिकता का आधार
नागरिक की अवधारणा
आदर्श नागरिकता

४.२.१ नागरिकता का अर्थ :

नागरिक को राज्य का सदस्य होने के नाते जो स्तर या पद प्राप्त होता है, उसे नागरिकता कहा जाता है। नागरिकता से नागरिक के जीवन की एक स्थिति निश्चित होती है जिसके अनुसार उसे राज्य के सभी सामाजिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। इसके साथ उसे कुछ कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है। इस प्रकार नागरिकता नागरिक का पद है। इस पद के आधार पर नागरिक अपने अधिकारों का उपभोग तथा कर्तव्यों का पालन करता है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा नागरिकता की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी गई हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. गैटल के अनुसार, 'नागरिकता व्यक्ति की उस अवस्था को कहते हैं जिसके कारण वह अपने राज्य में राष्ट्रीय तथा राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग कर सकता है और कर्तव्यों का पालन करने के लिए तैयार रहता है।'

2. लास्की के अनुसार, 'अपनी शिक्षित बुद्धि को लोकहित के लिए प्रयोग करना ही नागरिकता है।'

3. बायर्ड के अनुसार, 'नागरिकता अपनी वफादारी को ठीक से निभाना है।'

ऊपर दी गई परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि नागरिकता राज्य के नागरिक का वह स्तर है जिसके कारण राज्य की ओर से उसे सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं और वह राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है।

४.२.२ नागरिकता का आधार :

नागरिकता दो प्रकार से प्राप्त होती है : *जन्मजात नागरिकता व राज्यकृत नागरिकता*।

क. जन्मजात नागरिकता : एक बच्चे को अपने जन्म से एक राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। यह जन्मजात नागरिकता कहलाती है। यह निम्न आधारों पर प्राप्त होती है -

1. रक्त के आधार पर - इस आधर पर बच्चे को अपने माता-पिता के राज्य की नागरिकता प्राप्त होती है।

बच्चे का जन्म भले ही कहीं हो, वह उसी राज्य का नागरिक होगा जिस राज्य के नागरिक उसके माता-पिता हैं। यह सिद्धांत भारत, इटली, इंग्लैंड अमेरिका आदि में माना जाता है।

2. जन्म स्थान से : कई देशों में यह नियम है कि जो बच्चा पैदा होगा वह उसी देश का नागरिक माना जाएगा, उसके माता-पिता भले ही अन्य देश के नागरिक हों। उदाहरण के लिए यदि अर्जेंटाइना में कोई विदेशी पति-पत्नी यात्रा पर हैं और यात्रा के दौरान उनके बच्चे का जन्म अर्जेंटाइना में होता है तो वह बच्चा अर्जेंटाइना का नागरिक मान लिया जाएगा।

3. दोहरी नागरिकता : कई देशों में रक्त सिद्धांत और जन्म सिद्धांत दोनों को ही अपना रखा है। इससे कभी-कभी उलझनें खड़ी हो जाती हैं। यदि एक भारतीय दंपति अर्जेंटाइना की यात्रा पर हैं और इस दौरान उनके बच्चे का जन्म होता है वह अर्जेंटाइना और भारत दोनों का नागरिक माना जाएगा। लेकिन चूंकि कोई भी व्यक्ति एक ही समय में दो राज्यों का नागरिक नहीं हो सकता, इसलिए व्यस्क होने पर उसे एक देश की नागरिकता छोड़नी पड़ेगी।

ख. राज्यकृत नागरिकता : यह नागरिकता किसी व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त नहीं होती। राज्य अपनी इच्छा पर कुछ शर्तें पूरी करने पर देशीयकृत नागरिकता प्रदान करता है। कई राज्यों में देशीयकृत नागरिकों को सारे अधिकार प्राप्त नहीं होते। जैसे अमेरिका का देशीयकृत नागरिक वहां का राष्ट्रपति नहीं बन सकता। यह नागरिकता निम्न आधार पर मिलती है :

1. निवास के समय के आधार पर : जब कभी एक विदेशी किसी देश में बस जाता है और फिर उस देश को छोड़कर अपने देश वापस नहीं जाना चाहता, तो राज्य से प्रार्थना करने पर ऐसे विदेशियों को नागरिकता मिल जाती है। इंग्लैंड और अमेरिका में एक विदेशी को नागरिकता वहां पांच वर्ष रहने के बाद ही मिल सकती है। भारत में यह अवधि चार वर्ष है और स्वीडन में दो वर्ष।

2. विवाह के द्वारा : पुरुष और स्त्री को बराबर की नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते हैं, परन्तु जब कोई स्त्री किसी विदेशी से विवाह कर लेती है तो उसे अपने पति के राज्य की नागरिकता अपने आप मिल जाती है। जापान में स्थिति दूसरी है। यदि कोई जापानी स्त्री विदेशी से विवाह कर ले तो उस विदेशी को जापानी नागरिकता मिल जाती है।

3. संपत्ति : कई देशों में यह नियम है कि यदि कोई विदेशी वहां जमीन-जायदाद खरीद ले तो उसे वहां की नागरिकता मिल जाती है। दक्षिण अमेरिका के देश पेरू और मैक्सिको में यही नियम है।

4. विजय : यदि कोई देश किसी अन्य देश के किसी भाग को जीतकर अपने राज्य में मिला ले तो जीते गए देश के सभी नागरिकों को विजेता देश की नागरिकता मिल जाती है। परन्तु यह तभी होता है जब जीते हुए प्रदेश को देश का अंग बना लिया जाए अन्यथा जीते हुए देश के लोग गुलाम भी हो सकते हैं।

5. नौकरी : कुछ देशों में यह भी नियम है कि एक विदेशी उस देश में सरकारी नौकरी करता है तो राज्य उसे नागरिकता प्रदान कर सकता है।

6. गोद लेना : जब एक राज्य का नागरिक किसी दूसरे राज्य के नागरिक को गोद ले लेता है तो गोद लिए जाने वाले को अपने गोद लेने वाले की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। गोद लिया गया व्यक्ति या बच्चा उसी देश का नागरिक हो जाता है जिस देश का नागरिक गोद लेने वाला है।

7. विद्वानों को : कुछ देश विद्वानों और वैज्ञानिकों को नागरिकता प्रदान करने की सुविधा देते हैं। यदि कोई विदेशी विशेषज्ञ या वैज्ञानिक फ्रांस की नागरिकता लेना चाहता है तो उसे फ्रांस में एक वर्ष के निवास के बाद वहां

की नागरिकता मिल सकती है।

8. राजनीतिक शरण : कुछ देशों में दूसरे देशों की राजनीतिक व्यवस्था से पीड़ित व भागकर आए हुए लोगों को भी नागरिकता प्रदान करने का नियम है। रूस में यह नियम है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी कोई साम्यवादी विचारधारा और कार्यों के कारण देश की सरकार से पीड़ित होकर रूस में शरण लेता है तो उसे वहां की नागरिकता प्रदान की जा सकती है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि किसी भी राज्य को किसी विदेशी को राज्यकृत नागरिकता देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

नागरिकता का समाप्त होना :

1. लंबी अनुपस्थिति : यदि कोई नागरिक अपने देश को छोड़कर लंबे समय तक किसी अन्य देश में रहता है तो वह अपने राज्य की नागरिकता खो देता है। फ्रांस और जर्मनी में यदि कोई व्यक्ति देश से दस वर्ष या इससे अधिक समय तक अनुपस्थित रहता है तो उसकी नागरिकता छिन जाती है।

2. विवाह : यदि कोई स्त्री किसी विदेशी से शादी कर लेती है तो उसके अपने देश की नागरिकता उससे छिन जाती है। यदि कोई विदेशी जापानी स्त्री से विवाह कर वहां की नागरिकता स्वीकार कर लेता है तो उसे अपने देश की नागरिकता से हाथ धोना पड़ता है।

3. दोहरी नागरिकता : यदि एक व्यक्ति दो राज्यों का जन्मजात नागरिक बन जाता है तो उसे एक ही राज्य की नागरिकता मिल सकती है, दूसरे राज्य की नागरिकता छिन जाती है।

4. देश त्याग : यदि एक नागरिक स्वेच्छा से अपने देश की नागरिकता छोड़कर दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त करना चाहे तो उसे अनुमति मिल जाती है और इस तरह अपने देश की नागरिकता उससे छिन जाती है।

5. विदेशी सरकार से सम्मान प्राप्त करने पर : कभी-कभी किसी नागरिक को कोई विदेशी सरकार सम्मान देकर कोई पदवी दे देती है। यदि वह व्यक्ति उस पदवी को स्वीकार कर लेता है तो उसके अपने देश की नागरिकता छिन जाती है।

6. विदेशी सरकारी नौकरी : यदि कोई व्यक्ति किसी विदेशी सरकार की नौकरी कर लेता है तो उसकी अपनी सरकार उससे नागरिकता छीन लेती है।

7. देशद्रोह या गंभीर अपराध : यदि कोई व्यक्ति देशद्रोह करता है या राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध कोई बगावत करता है तो उसे भी अपनी नागरिकता से हाथ धोना पड़ता है। सेना से भागना भी एक गंभीर अपराध है।

8. विजय : जब कोई विदेशी राज्य एक राज्य को जीत लेता है तथा उस पर अपना अधिकार कर लेता है तो उस राज्य में रहने वाले नागरिकों को पहली नागरिकता समाप्त हो जाएगी। उन्हें विजयी राज्य की नागरिकता मिल जाती है।

9. गोद लेना : यदि कोई बच्चा किसी विदेशी द्वारा गोद ले लिया जाता है तो उसकी पहली नागरिकता समाप्त हो जाएगी। उसे गोद लेने वाले माता-पिता की नागरिकता मिल जाती है।

10. स्वेच्छा से नागरिकता का त्याग : कई बार नागरिक अपने राज्य की जन्मजात नागरिकता को त्यागकर किसी अन्य राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेते हैं। एक विदेशी को भारत का नागरिक बनने के लिए यह शर्त नहीं है।

४.२.३ नागरिक की अवधारणा :

नागरिक कौन है ?

यह प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है कि नागरिक कौन है? आज विश्व के हर देश में दूसरे देशों के लोग किसी-न-किसी कारण निवास करते हैं। क्या सभी लोगों को नागरिक कहा जाता है?

साधारण बोलचाल में नागरिक से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो नगर में रहता हो तथा अपनी भाषा, रहन-सहन तथा व्यवहार से शिष्ट हो। लेकिन वास्तव में नागरिक उस व्यक्ति को कहा जाता है जो अपने राज्य के किसी नगर या गांव का निवासी होता है तथा उसे राज्य की तरफ से बहुत से अधिकार प्राप्त होते हैं। साथ ही वह राज्य के प्रति कुछ कर्तव्यों का पालन भी करता है।

नागरिक शब्द का अर्थ समय-समय पर बदलता रहता है। प्राचीन यूनान में नागरिक उन लोगों को कहते थे जिन्हें किसी नगर-राज्य में सरकार के कार्यों में भाग लेने का अधिकार होता था, इसलिए अरस्तु ने उसे ही नागरिक कहा है जिसे राज्य के प्रशासन में भाग लेने का अधिकार है। उस समय बहुत थोड़े व्यक्तियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते थे। स्त्रियों, दासों, कारीगरों तथा श्रमिकों को नागरिक नहीं माना जाता था।

मध्य युग में भी सामन्तों, जागीरदारों तथा उच्च पादरियों व समाज के कुछ धनी वर्ग को ही नागरिक माना जाता था।

आधुनिक प्रजातंत्र युग में सभी निवासियों को नागरिक कहा जाता है। अब नागरिकता थोड़े-से व्यक्तियों का विशेषाधिकार नहीं रह गई है।

नागरिक शब्द के अर्थ के बारे में विद्वानों मत निम्न हैं :

1. वाटाल के अनुसार, 'नागरिक किसी राज्य के वे सदस्य हैं जो उस राज्य के प्रति कुछ कर्तव्यों से बंधे हैं, उसकी सत्ता के नियंत्रण में रहते हैं तथा उसके लाभ में उसके साथ बराबरी के सांझेदार हैं।'

2. ए. के. सीयू के अनुसार, 'नागरिक वह व्यक्ति है जो राज्य के प्रति वफादार हो, जिसे सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों तथा जो समाज-सेवा की भावना से प्रेरित हो।'

3. श्रीनिवास शास्त्री के अनुसार, 'नागरिक राज्य के उस सदस्य को कहते हैं जो राज्य में रहकर ही अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का प्रयत्न करता है तथा उसे इस बात का बुद्धिमत्तापूर्ण ज्ञान हो कि समाज में सर्वोच्च नैतिक कल्याण के लिए क्या करना चाहिए।'

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि किसी राज्य के सदस्यों को ही नागरिक माना जाता है। परन्तु नागरिक वही व्यक्ति नहीं होते जो किसी राज्य का निवासी हो, वरन उसे राज्य भक्ति एवं समाज सेवा की भावना से भी प्रेरित होना चाहिए।

नागरिक तथा विदेशी में अंतर : किसी राज्य में रहने वाले लोग वहां के नागरिक नहीं होते। राज्य के बाहर से आकर भी बहुत से लोग रहते हैं। चाहे वे लोग कानूनी या गैर-कानूनी ढंग से देश में आए हों। ऐसे सभी लोगों को नागरिक नहीं वरन विदेशी कहा जाता है चाहे वे कितने ही समय से देश में क्यों न रह रहे हों। नागरिकों व विदेशियों में अंतर निम्न हैं :

1. अधिकारों के आधार पर : नागरिकों को राज्य के सामाजिक तथा राजनीतिक आधार प्राप्त होते हैं जबकि विदेशियों को राजनीतिक अधिकार नहीं दिए जाते तथा सामाजिक अधिकार भी सभी को नहीं दिए जाते।

2. वफादार का आधार : नागरिक तथा विदेशी में वफादारी का भी अंतर है। नागरिक अपने राज्य के प्रति

वफादार होता है, परन्तु विदेशी उस राज्य के प्रति वफादार होता है जिसका वह नागरिक होता है।

3. दंड देने का अंतर : अपराध करने पर नागरिक को दंड दिया जा सकता है, पर देश निकाला नहीं दिया जा सकता जबकि विदेशियों को दंड के साथ-साथ देश निकाला भी दिया जा सकता है।

4. सैनिक सेवा के आधार पर : नागरिकों को सैनिक सेवाओं में भर्ती किया जा सकता है और उनसे अनिवार्य सैनिक सेवा भी ली जा सकती है, परन्तु विदेशियों को सेना में भर्ती नहीं किया जा सकता।

5. स्थायित्व के आधार पर : नागरिक अपने देश के स्थायी सदस्य होते हैं। उनके पूर्वज उस देश में रहते थे और उनके रहने का क्रम बहुत लंबा होता है। विदेशी कभी भी अपने देश वापस जा सकते हैं।

6. प्रशासनिक सेवाओं के आधार पर : प्रशासनिक सेवाओं में नौकरी प्राप्त करने का अधिकार नागरिक का होता है, परन्तु विदेशियों को ऐसा अधिकार नहीं होता।

7. स्थिति के आधार पर : नागरिक अपने देश में सम्मानित व्यक्ति होता है। वह देश में कहीं भी आ-जा सकता है तथा स्थायी अथवा अस्थायी रूप से निवास कर सकता है। राज्य के सभी अधिकार एवं सुविधाएं उसे प्राप्त होती हैं, परन्तु विदेशियों की ऐसी स्थिति नहीं होती।

४.२.४ आदर्श नागरिकता एवं बाधाएं :

आदर्श नागरिक किसी भी देश की अमूल्य संपत्ति है तथा राष्ट्र की प्रगति और विकास आदर्श नागरिकों पर ही निर्भर करता है। परन्तु समाज में कुछ ऐसी परिस्थितियां होती हैं या उत्पन्न हो जाती हैं जो नागरिक को उसके आदर्श मार्ग से विचलित कर देती हैं। इन्हें आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएं कहा जाता है। इनका वर्णन निम्नलिखित है :

1. आलस्य : आलस्य से तात्पर्य राजनीतिक कार्यों के प्रति उदासीनता तथा लापरवाही है। यदि नागरिक को राजनीतिक विषयों का ज्ञान नहीं होगा तो वह राजनीतिक कार्यों में भाग नहीं ले सकेगा। अधिकतर व्यक्ति यह समझते हैं कि राजनीतिक विषयों का उनके जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अत: उनको इनमें रूचि लेने की क्या आवश्यकता है? वे सार्वजनिक मामलों के प्रति उदासीन ही रहना पसंद करते हैं। न वे सार्वजनिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं और न ही इनके हल ढूंढने का प्रयत्न करते हैं। परिणाम यह होता है कि राज्य का प्रबंध कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के हाथों में चला जाता है जो राज्य की शक्ति को अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए प्रयोग करने लगते हैं। हम जानते हैं कि अनेक मतदाता केवल आलस्य के कारण भी अपना मत देने के लिए नहीं जाते।

2. स्वार्थ : बहुधा नागरिक सार्वजनिक हितों का त्याग करके अपने स्वार्थों की पूर्ति में लग जाते हैं। जब एक मतदाता विधानमंडल के लिए खड़े हुए उम्मीदवार से रिश्वत लेकर अपना मत दे देता है तो देश के हित का त्याग करके अपने स्वार्थ को पूरा करता है। उसके इस स्वार्थी हित से अनुचित उम्मीदवार का चुनाव हो सकता है जो विधानमंडल में जाकर अपने स्वार्थ को पूरा करेगा।

3. दलबंदी : वैसे तो राजनीतिक दलों को प्रजातंत्र का प्राण कहा जाता है, परन्तु जब राजनीतिक दलों का निर्माण राष्ट्रीय हितों के आधार पर न होकर जातिगत हितों के आधार पर होता है तो दल राजनीतिक वातावरण को भ्रष्ट कर देते हैं। नागरिक जातिगत दलबंदी में फंसकर राष्ट्रीय हितों का त्याग कर देते हैं और अपनी-अपनी जाति के हितों को पूरा करने में लग जाते हैं जिससे समाज में परस्पर द्वेष, घृणा तथा कलह उत्पन्न हो जाती है। भारत के विभाजन का मूल कारण दलीय भावना थी।

4. निरक्षरता : निरक्षता मनुष्य को पशु तुल्य बना देती है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति को अपने अधिकारों का अभाव हो जाता है। प्रो. लास्की के अनुसार, नागरिकता व्यक्ति के लोक हित कार्य के प्रति न्यायात्मक दृष्टि पर निर्भर करती है। एक निरक्षर व्यक्ति के पास यह दृष्टि नहीं होती।

5. गरीबी : यदि नागरिक निर्धन है तो अच्छी नागरिकता का उत्पन्न होना कठिन है। गरीब व्यक्ति अपराध की ओर अग्रसर हो जाता है। वह डाकू, चोर, घातक और धोखेबाज बन जाता है। निर्धनता की मौजूदगी में नागरिकों का चरित्र अच्छा नहीं बन सकता। जैसा कि कहा गया है, निर्धनता सब बुराइयों की जननी है। इसके अतिरिक्त निर्धन व्यक्ति को लोक हित के कार्य में भी कोई रूचि नहीं होगी, क्योंकि इसको पहले तो उदर–पालन की चिंता होती है।

6. बुरे रीति–रिवाज : पुराने तथा बुरे रीति–रिवाज भी अच्छी नागरिकता को बढ़ने से रोकते हैं। उदाहरण के लिए भारत में जाति–पाति की प्रथा अच्छी नागरिकता के मार्ग में बड़ी बाधा है। इस प्रकार दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा आदि बुराइयां भी अच्छी नागरिकता के विकास को रोकती हैं।

7. सांप्रदायिकता : यदि नागरिकों का दृष्टिकोण होगा तो वे राष्ट्रीय हितों का त्याग करके अपने सांप्रदायिक हितों की पूर्ति करेंगे। सांप्रदायिकता व्यक्तियों को अलग–अलग वर्गों में विभाजित कर देती है। जिसका परिणाम परस्पर ईर्ष्या–द्वेष होता है। हिन्दू अपने आपको मुसलमानों से अलग समझते हैं तथा सिख अपने को हिन्दुओं से। यह सांप्रदायिकता का ही परिणाम था कि भारत का विभाजन हुआ। सांप्रदायिकता के कारण नागरिकों का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है और उनमें सद्भावना नहीं रहती तथा स्वार्थपरता बढ़ जाती है।

8. संकुचित राष्ट्रीयता : अनेक लेखकों का विचार है कि संकुचित राष्ट्रीयता भी अच्छी नागरिकता के मार्ग में बड़ी बाधा है। संकुचित राष्ट्रीयता के कारण कभी–कभी एक देश दूसरे देश पर आक्रमण कर देता है जिससे संसार की शांति भंग हो जाती है और मानव जाति को हानि पहुंचती है।

9. क्षेत्रवाद : सांप्रदायिकता की भांति क्षेत्रवाद भी आदर्श नागरिकता के मार्ग में बड़ी बाधा है। क्षेत्रवाद की भावना नागरिकता के दृष्टिकोण और सोच को संकुचित कर देती है। वह अपने क्षेत्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सोचता। यही नहीं, इस भावना के कारण एक क्षेत्र के वासी दूसरे क्षेत्र के वासी से घृणा करने लगते हैं।

10 पूंजीवाद : पूंजीवाद भी आदर्श नागरिकता के मार्ग में एक बाधा है। पूंजीवाद एक व्यवस्था है जिसके अंतर्गत पूंजीवादियों को अधिक महत्व दिया जाता है। पूंजीपति श्रमिकों का शोषक है। पूंजीवाद में श्रमिक अधिक गरीब और धनी अधिक धनी होते चले जाते हैं। श्रमिकों और पूंजीपतियों में संघर्ष चलता है तो हिंसा का जन्म होता है। यही नहीं, पूंजीवादी में राष्ट्रीय हितों की भी अवहेलना होती है।

ये बाधाएं अंतिम रूप से राष्ट्र की प्रगति और विकास मार्ग को भी अवरुद्ध करती हैं, क्योंकि आदर्श नागरिक ही समाज और राष्ट्र के कर्णधार बन सकते हैं।

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाओं को दूर करने के उपाय : लॉर्ड ब्राइस ने इन बाधाओं को दूर करने के दो उपाय बताए हैं :

क. व्यवस्था उपचार

ख. नैतिक उपचार

व्यवस्था उपचार वे उपचार हैं जो सरकार की मशीनरी में कुछ परिवर्तन लाकर इन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। नैतिक उपचार वे हैं जो नागरिकों के चरित्र को उच्च बनाने का उद्देश्य रखते हैं।

क. व्यवस्था उपचार निम्न हैं :

1. अनिवार्य मतदान : कुछ लेखकों का विचार है कि अनिवार्य मतदान द्वारा नागरिकों की राजनीतिक कार्यों के प्रति उदासीनता को दूर किया जा सकता है। बेल्जियम और आस्ट्रेलिया में मतदाताओं के लिए मतदान करना आवश्यक है। यह ठीक है कि अनिवार्य मतदान से नागरिकों की उदासीनता को कुछ अंश तक दूर किया जा सकता है, परन्तु दबाव में मतदाता लापरवाही से वोट डाल सकते हैं, जिसका परिणाम अयोग्य उम्मीदवारों का चुनाव हो सकता है।

2. आनुपातिक प्रतिनिधित्व : यह विचार किया जाता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा अल्पसंख्यकों को अपनी वोट शक्ति के अनुसार विधानमंडल में स्थान प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रणाली द्वारा प्रत्येक अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग के अत्याचारों से स्वयं की रक्षा कर सकता है।

3. प्रत्यक्ष विधि निर्माण : राजनीतिक कार्यों के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए लोकमत संग्रह तथा अनुक्रम के उपायों को अपनाया जाता है। लोकमत संग्रह के अंतर्गत नागरिक विधानमंडल द्वारा पास किए गए किसी बिल पर अपने विचार प्रकट करते हैं। यदि जनता का बहुमत उस बिल के पक्ष में मतदान कर देता है तो वह बिल कार्यान्वित हो जाता है अन्यथा नहीं। नागरिक विधानमंडल के विचार हेतु कोई बिल भी भेज सकते हैं।

4. भ्रष्टाचार विरोधी उपाय : राज्य ऐसे कानूनों का निर्माण कर सकता है जिनके द्वारा चुनावों में भ्रष्टाचार तथा गैर-कानूनी विधियों के प्रयोग करने पर कठोर दंड दिया जा सके। ऐसा करने पर चुनाव ठीक प्रकार से हो सकेगा और मतों का क्रय-विक्रय आदि बंद हो जाएगा।

ख. नैतिक उपचार :

1. अच्छी शिक्षा : नागरिकों को नैतिक बनाने का सर्वश्रेष्ठ साधन उनको शिक्षित करना है। अच्छी नागरिकता अच्छे मन तथा अच्छे चरित्र पर निर्भर है। चरित्र निर्माण का एकमात्र साधन उत्तम शिक्षा है। प्लेटो ने ठीक ही कहा है कि उस राज्य में कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं होती जहां के सभी नागरिक सुशिक्षित हैं।

2. गरीबी का अंत : गरीबी आदर्श नागरिक के लिए अभिशाप है। गरीबी नागरिक को गलत कार्य करने के लिए विवश कर देती है। अत: राज्य को समाज से गरीबी को दूर करने के उपाय करने चाहिए। राज्य की आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार होना चाहिए कि अमीर और गरीब में अंतर कम हो जाए।

3. सामाजिक समानता : सामाजिक समानता की स्थापना भी बाधाओं को दूर करने का एक सशक्त माध्यम है। सामाजिक भेदभाव दूर करके सामाजिक समानता की स्थापना की जा सकती है। सामाजिक समानता का अर्थ है समाज के प्रत्येक नागरिक को समझा जाना और सभी को समान सुविधाएं प्राप्त होना।

4. सामाजिक बुराइयों का अंत : समाज में प्राचीनकाल से चली आ रही कुरीतियों जैसे छुआछूत, दहेज प्रथा व सति प्रथा आदि को राज्य द्वारा दूर किया जाना चाहिए। सरकार द्वारा सामाजिक बुराइयों के विरोध में कानूनों का निर्माण किया जाना चाहिए।

5. उच्च आदर्श : नागरिकों के समक्ष उच्च आदर्श प्रस्तुत करना अपने आप में बाधाओं को दूर करने का सर्वोच्च माध्यम है। यदि नागरिकों को नैतिकता के आधार पर उच्च आदर्शों का पाठ पढाया जाए तो सांप्रदायिकता, प्रांतीयता, क्षेत्रवाद व संकीर्णता की भावना आदि स्वत: समाप्त हो जाएंगी। इसके लिए रेडियो तथा टीवी पर कार्यक्रम प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

6. निष्पक्ष और स्वतंत्र प्रेस : रेडिया और टेलीविजन की भांति समाचार-पत्र भी आदर्श नागरिकता के मार्ग

में बाधाओं को दूर करने में एक महत्वपूर्ण योगदान देते हैं, परन्तु प्रेस स्वतंत्र और निष्पक्ष होनी चाहिए। तभी एक निष्पक्ष लोकमत तैयार किया जा सकेगा।

7. राजनीतिक दल : राजनीतिक दल भी आदर्श नागरिकता की बाधाओं को दूर करने में अहम भूमिका निभाते हैं। वास्तविकता में आधुनिक लोकतांत्रित युग में राजनीतिक दल लोकतंत्र व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी है, परन्तु राजनीतिक दल का निर्माण कुछ आदर्शों के आधार पर होना चाहिए। राजनीतिक दलों को राष्ट्र हितों को समक्ष रखकर कार्य करना चाहिए।

४.३ सारांश :

नागरिक को राज्य का सदस्य होने के नाते जो स्तर या पद प्राप्त होता है, उसे नागरिकता कहा जाता है। नागरिकता से नागरिक के जीवन की एक स्थिति निश्चित होती है जिसके अनुसार उसे राज्य के सभी सामाजिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। इसके साथ उसे कुछ कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है। इस प्रकार नागरिकता नागरिक का पद है। इस पद के आधार पर नागरिक अपने अधिकारों का उपभोग तथा कर्तव्यों का पालन करता है। एक बच्चे को अपने जन्म से एक राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। यह जन्मजात नागरिकता कहलाती है। लेकिन राज्यकृत नागरिकता किसी व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त नहीं होती। राज्य अपनी इच्छा पर कुछ शर्तें पूरी करने पर देशीयकृत नागरिकता प्रदान करता है। कई राज्यों में देशीयकृत नागरिकों को सारे अधिकार प्राप्त नहीं होते। जैसे अमेरिका का देशीयकृत नागरिक वहां का राष्ट्रपति नहीं बन सकता।

नागरिक शब्द का अर्थ समय-समय पर बदलता रहता है। प्राचीन यूनान में नागरिक उन लोगों को कहते थे जिन्हें किसी नगर-राज्य में सरकार के कार्यों में भाग लेने का अधिकार होता था, इसलिए अरस्तु ने उसे ही नागरिक कहा है जिसे राज्य के प्रशासन में भाग लेने का अधिकार है। उस समय बहुत थोड़े व्यक्तियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते थे। स्त्रियों, दासों, कारीगरों तथा श्रमिकों को नागरिक नहीं माना जाता था।

आदर्श नागरिकता का निर्माण करना और आदर्श नागरिकता के मार्ग में व्याप्त बाधाओं को दूर करना समाज के एक पक्ष के वश की बात नहीं है। इस पवित्र कार्य में प्रत्येक्ष पक्ष को अपना-अपना योगदान देना होगा। राज्य सरकार, राजनीतिक दल, राजनेता, अभिनेता, रेडियो, समाचार-पत्र आदि सभी का यह संयुक्त दायित्व बनता है कि वे आदर्श नागरिकता की स्थापना में अपना संपूर्ण योगदान प्रदान करें।

४.४ सूचक शब्द :

नागरिकता : नागरिक को राज्य का सदस्य होने के नाते जो स्तर या पद प्राप्त होता है, उसे नागरिकता कहा जाता है। नागरिकता से नागरिक के जीवन की एक स्थिति निश्चित होती है जिसके अनुसार उसे राज्य के सभी सामाजिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। इसके साथ उसे कुछ कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है।

जन्मजात नागरिकता : एक बच्चे को अपने जन्म से एक राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। यह जन्मजात नागरिकता कहलाती है।

दोहरी नागरिकता : कई देशों में रक्त सिद्धांत और जन्म सिद्धांत दोनों को ही अपना रखा है। इससे कभी-कभी उलझनें खड़ी हो जाती हैं। यदि एक भारतीय दंपति अर्जेंटाइना की यात्रा पर हैं और इस दौरान उनके बच्चे का जन्म होता है वह अर्जेंटाइना और भारत दोनों का नागरिक माना जाएगा। लेकिन चूंकि कोई भी व्यक्ति एक ही

समय में दो राज्यों का नागरिक नहीं हो सकता, इसलिए व्यस्क होने पर उसे एक देश की नागरिकता छोड़नी पड़ेगी।

राज्यकृत नागरिकता : यह नागरिकता किसी व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त नहीं होती। राज्य अपनी इच्छा पर कुछ शर्तें पूरी करने पर देशीयकृत नागरिकता प्रदान करता है। कई राज्यों में देशीयकृत नागरिकों को सारे अधिकार प्राप्त नहीं होते। जैसे अमेरिका का देशीयकृत नागरिक वहां का राष्ट्रपति नहीं बन सकता।

नागरिक : साधारण बोलचाल में नागरिक से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो नगर में रहता हो तथा अपनी भाषा, रहन-सहन तथा व्यवहार से शिष्ट हो। लेकिन वास्तव में नागरिक उस व्यक्ति को कहा जाता है जो अपने राज्य के किसी नगर या गांव का निवासी होता है तथा उसे राज्य की तरफ से बहुत से अधिकार प्राप्त होते हैं। साथ ही वह राज्य के प्रति कुछ कर्तव्यों का पालन भी करता है। नागरिक शब्द का अर्थ समय-समय पर बदलता रहता है। प्राचीन यूनान में नागरिक उन लोगों को कहते थे जिन्हें किसी नगर-राज्य में सरकार के कार्यों में भाग लेने का अधिकार होता था, इसलिए अरस्तु ने उसे ही नागरिक कहा है जिसे राज्य के प्रशासन में भाग लेने का अधिकार है।

नागरिक तथा विदेशी में अंतर : किसी राज्य में रहने वाले लोग वहां के नागरिक नहीं होते। राज्य के बाहर से आकर भी बहुत से लोग रहते हैं। चाहे वे लोग कानूनी या गैर-कानूनी ढंग से देश में आए हों। ऐसे सभी लोगों को नागरिक नहीं वरन विदेशी कहा जाता है चाहे वे कितने ही समय से देश में क्यों न रह रहे हों।

अनिवार्य मतदान : कुछ लेखकों का विचार है कि अनिवार्य मतदान द्वारा नागरिकों की राजनीतिक कार्यों के प्रति उदासीनता को दूर किया जा सकता है। बेल्जियम और आस्ट्रेलिया में मतदाताओं के लिए मतदान करना आवश्यक है। यह ठीक है कि अनिवार्य मतदान से नागरिकों की उदासीनता को कुछ अंश तक दूर किया जा सकता है, परन्तु दबाव में मतदाता लापरवाही से वोट डाल सकते हैं, जिसका परिणाम अयोग्य उम्मीदवारों का चुनाव हो सकता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व : यह विचार किया जाता है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा अल्पसंख्यकों को अपनी वोट शक्ति के अनुसार विधानमंडल में स्थान प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रणाली द्वारा प्रत्येक अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग के अत्याचारों से स्वयं की रक्षा कर सकता है।

४.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

१. नागरिकता के विभिन्न पहलुओं के बारे में विस्तार से लिखें।
२. जन्मजात नागरिकता व राज्यकृत नागरिकता में अंतर बताएं।
३. नागरिक कौन है? विस्तार से लिखें।
४. नागरिक व विदेशी में अंतर स्पष्ट करें।
५. आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएं एवं उन्हें दूर करने के उपाय बताएं।

४.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।

अधिकार और स्वतंत्रता

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम अधिकार व स्वतंत्रता के बारे में चर्चा करेंगे। अधिकार का अर्थ, अधिकार की परिभाषा, अधिकार के प्रमुख तत्व, अधिकारों का वर्गीकरण, स्वतंत्रता का अर्थ, स्वतंत्रता की परिभाषाएं, स्वतंत्रता का स्वरूप, स्वतंत्रता का संरक्षण आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

५.० उद्देश्य
५.१ परिचय
५.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
५.२.१ अधिकार का अर्थ व परिभाषा
५.२.२ अधिकार के प्रमुख तत्व
५.२.३ अधिकारों का वर्गीकरण
५.२.४ स्वतंत्रता का अर्थ
५.२.५ स्वतंत्रता की परिभाषाएं
५.२.६ स्वतंत्रता का स्वरूप
५.२.७ स्वतंत्रता का संरक्षण
५.३ सारांश
५.४ सूचक शब्द
५.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
५.६ संदर्भित पुस्तकें

५.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

अधिकार का अर्थ व परिभाषा का अध्ययन

अधिकार के प्रमुख तत्व का पता लगाना
अधिकारों के वर्गीकरण का अध्ययन
स्वतंत्रता का अर्थ जानना
स्वतंत्रता की परिभाषाओं से परिचित होना
स्वतंत्रता का स्वरूप जानना
स्वतंत्रता के संरक्षण से परिचित होना

५.१ परिचय :

किसी राज्य का सदस्य होने के नाते प्रत्येक मनुष्य को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। ये वे सुविधाएं होती हैं जिनके उपभोग के लिए व्यक्ति को किसी की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती। इनका प्रयोग वह शासन के विरुद्ध जाकर भी कर सकता है। उसे शासन द्वारा कुछ स्वतंत्रता भी दी जाती है जो तानाशाही, राजशाही और लोकतंत्र में अलग-अलग होती है। ये वे कार्य होते हैं जिन्हें करने की शक्ति उसे संविधान द्वारा प्रदान की जाती है।

यहां हम अधिकार व स्वतंत्रता का अर्थ, परिभाषा, उनके प्रमुख तत्वों, उनका वर्गीकरण, स्वरूप तथा उनके संरक्षण के बारे में अध्ययन करेंगे।

५.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

अधिकार का अर्थ एवं परिभाषाएं
अधिकार के प्रमुख तत्व
अधिकारों का वर्गीकरण
स्वतंत्रता का अर्थ
स्वतंत्रता की परिभाषाएं
स्वतंत्रता का स्वरूप
स्वतंत्रता का संरक्षण

५.२.१ अधिकार का अर्थ एवं परिभाषाएं:

राज्य और व्यक्ति के क्या संबंध होने चाहिएं, यह विषय उतना ही प्राचीन है जितना प्राचीन राजनीति शास्त्र है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के महत्व को समझा गया है। यही कारण है कि उसके विकास के लिए राज्य द्वारा अनेक सुविधाएं दी जाती हैं।

इन्हीं सुविधाओं को अधिकारों का नाम दिया जाता है। राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने अधिकार की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी हैं :

1. प्रो. हैराल्ड लास्की के अनुसार, 'अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके बिना कोई

व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास नहीं कर सकता।'

2. टी. एच. ग्रीन के अनुसार, 'अधिकार वह शक्ति है जिसकी लोक-कल्याण के लिए मांग की जाती है और मान्यता भी दी जाती है।'

3. हॉलैंड का कथन है - अन्य व्यक्तियों के कामों को अपनी शक्ति से नहीं बल्कि समाज के विचारों तथा बल पर प्रभावित करने की व्यक्ति की क्षमता को अधिकार कहते हैं।

4. विल्डे के अनुसार, 'विशेष कार्य में स्वतंत्रता की उचित मांग ही अधिकार है।'

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अधिकार किसी नागरिक के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन के विकास की वे महत्वपूर्ण और आवश्यक परिस्थितियां हैं जिनके बिना नागरिक के व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है।

५.२.२ अधिकारों के तत्व :

अधिकारों के आवश्यक तत्व निम्न हैं :

1. अधिकार समाज और राज्य से बाहर नहीं : अधिकार केवल समाज अथवा राज्य में पाए जाते हैं, समाज के बाहर अधिकार नहीं मिल सकते।

2. यह एक दावा है : अधिकार समाज के विरुद्ध एक मांग होती है जो समाज द्वारा स्वीकृत है। ये मांग तर्क पर तथा शुद्ध आचरण पर आधारित होती हैं। केवल वही मांगें अधिकार बनती हैं जिन्हें समाज व्यक्ति और समाज के लिए आवश्यक समझता है।

3. अधिकार विकासशील होते हैं : जैसे-जैसे समाज का विकास होता है, परिस्थितियां बदलती हैं, वैसे-वैसे अधिकारों में भी परिवर्तन होता जाता है। इस प्राकर अधिकार विकासशील होते हैं।

4. राज्य अधिकारों की रक्षा करता है : राज्य अधिकारों का निर्णय नहीं करता, वह केवल इनको स्वीकृति देता है। अधिकार समाज की आवश्यकताओं से उत्पन्न होते हैं।

5. अधिकार सर्वव्यापी हैं : अधिकारों की सत्ता सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक है। अधिकार का प्रयोग एक वर्ग तक सीमित नहीं होना चाहिए। अधिकार का प्रयोग तो सभी लोगों को बिना किसी भेदभाव के प्राप्त होना चाहिए। रंग, लिंग, धर्म, भाषा, जाति अथवा राष्ट्रीयता के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए।

6. अधिकार तथा कर्तव्य परस्पर संबंधित हैं : अधिकाओं और कर्तव्यों में संबंध होता है। प्रत्येक अधिकार में कर्तव्य की भावना निहित है। समाज अधिकारों का मान्यता देता है तो मनुष्य का भी कर्तव्य है कि वह समाज के दूसरे अधिकारों को भी मान्यता दे।

7. अधिकारों का प्रयोग सामाजिक भलाई के लिए : अधिकार नागरिक को समाज से प्राप्त होते हैं। अत: उसका कर्तव्य है कि अपने अधिकारों का उपयोग समाज के हित में करे।

8. अधिकार असीमित नहीं होते : व्यक्ति को वही अधिकार दिए जाते हैं जो विवेक तथा सदाचार पर आधारित होते हैं। किसी भी व्यक्ति को चोरी करने तथा हत्या करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता।

अधिकार केवल लोकतंत्र में ही संभव हैं। साम्यवादी या तानाशाही या सैनिक तानाशाही शासन में अधिकारों का कोई महत्व नहीं होता।

५.२.३ अधिकारों का वर्गीकरण :

अधिकारों की परिभाषा और उससे संबंधित सिद्धांतों के बाद विभिन्न प्रकार के अधिकारों की जानकारी आवश्यक है। विद्वानों ने अधिकारों का वर्गीकरण अलग-अलग रीति से किया है। कुछ इसमें प्राकृतिक अधिकारों को जोड़ते हैं, कुछ मौलिक अधिकारों को अलग वर्ग में रखते हैं तो कुछ उन्हें कानूनी अधिकारों में ही रखते हैं। लेकिन मौलिक अधिकारों के महत्व के कारण उन्हें कानूनी से अलग मानना ही उचित होगा। अधिकारों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

1. प्राकृतिक अधिकार : हॉब्स, लॉक, रूसो, थॉमस पेन और जेफरसन आदि प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के समर्थक हैं। इनका मानना है कि कुछ अधिकार मनुष्य को प्रकृति से ही प्राप्त हैं। रूसो, हॉब्स तथा लॉक आदि का मानना था कि राज्य के जन्म से पूर्व प्राकृतिक अवस्था थी और उसमें मनुष्य बिना किसी बंध के असीमित रूप से अधिकारों का प्रयोग किया करते थे।

आधुनिक युग में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को महत्व नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि सर्वप्रथम मानव इतिहास में किसी समय का पता नहीं चलता जब समाज और राज्य नहीं थे। दूसरे, अधिकारों का प्रयोग समाज में ही होता है। तीसरे, प्राकृतिक अधिकारों की सूची के विषय में इसके समर्थक स्वयं एकमत नहीं हैं।

2. नैतिक अधिकार : व्यक्ति के नैतिक व्यवहार से संबंधित अधिकार नैतिक अधिकार हैं। इनका आधार धर्मशास्त्र, सामाजिक और व्यक्तिगत नैतिकता आदि हुआ करता है। इन अधिकारों को राज्य का समर्थन प्राप्त नहीं होता। इसलिए इनको न मानने पर किसी व्यक्ति को दंडित नहीं किया जा सकता। पर उसे समाज अच्छी दृष्टि से नहीं देखता। उदाहरण के तौर पर बड़ों को छोटों से सम्मान प्राप्त करना, अध्यापक का आदर करना और उनकी आज्ञा मानना, गरीबों की सहायता करना आदि बताए जा सकते हैं।

3. मौलिक अधिकार : वे अधिकार जिनके बिना मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं हो पाता, मौलिक अधिकार होते हैं। इसलिए इनकी राज्य के संविधान द्वारा व्यवस्था की जाती है। प्राचीन काल में राजतंत्र, कुलीनतंत्र और तानाशाही शासनों में ऐसे अधिकार प्राप्त नहीं होते थे, लेकिन ज्यों-ज्यों लोकतंत्र का विकास होता गया, ये अधिकार दिए जाने लगे। आज अमेरिका के अलावा भारत, जापान, पश्चिमी जर्मनी आदि के लोकतांत्रिक देशों के संविधानों में इन्हें स्थान दिया गया है। भारतीय संविधान में निम्न मौलिक अधिकार शामिल हैं :

1. समानता का अधिकार
2. स्वतंत्रता का अधिकार
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार
4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
5. सांस्कृतिक तथा शिक्षा संबंधी अधिकार
6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार

4. वैधानिक अधिकार : वे अधिकार जो राज्य द्वारा लागू किए जाते हैं और जिनका उल्लंघन करने पर दंड मिलता है, वैधानिक अधिकार कहलाते हैं। इनकी निम्न श्रेणियां होती हैं :

अ. नागरिक अथवा सामाजिक अधिकार : नागरिक अधिकार वे अधिकार है, जिनके बिना सभ्य जीवन असंभव है। इनका प्रयोग राज्य में रहने वाले सभी नागरिकों द्वारा किया जाता है। ये निम्नलिखित हैं :

क. जीवन का अधिकार : मनुष्य के सामाजिक अधिकारों में सबसे महत्वपूर्ण जीवन का अधिकार है। इस अधिकार के बिना अन्य सब अधिकार व्यर्थ हैं। इस अधिकार का अर्थ है कि न तो किसी व्यक्ति पर कोई आक्रमण कर सकता है और न ही उसके शरीर को हानि पहुंचाई जा सकती है। इस अधिकार की रक्षा के लए राज्य आत्महत्या के लिए भी दंड देता है। हम आत्मरक्षा के लिए दूसरे को भी मार सकते हैं, लेकिन बल प्रयोग उतना ही होना चाहिए जितना आत्मरक्षा के लिए जरूरी है। इसके तहत गैर कानूनी तरीके से न तो किसी को गिरफ्तार किया जा सकता है और न जेल में डाला जा सकता है।

ख. विचार तथा भाषण की स्वतंत्रता का अधिकार : मनुष्य एक मननशील प्राणी है। वह अपने विचारों को दूसरों तक पहुंचाना चाहता है। अत: प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होना चाहिए कि वह राज्य की समस्या के बारे में लिखकर या भाषण देकर जनता के सामने रख सके। सरकार तथा अन्य कोई व्यक्ति उसके इस अधिकार पर रोक न लगाए। राजनीति शास्त्र के बहुत से विद्वानों ने इस अधिकार का प्रबल समर्थन किया है। लेकिन इसमें नागरिकों को अपमानजनक, अश्लील और राज्य विरोधी विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता नहीं होती।

ग. संपत्ति का अधिकार : इस अधिकार का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी कमाई हुई या पैतृक रूप से मिली हुई संपत्ति को अपनी इच्छानुसार भोगने का अधिकार है। प्राचीन काल से अब तक इस अधिकार को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। समाजवादी तथा साम्यवादी विचाराधाओं का कहना है कि उत्पत्ति के साधनों पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए। बड़े-बड़े कारखानों तथा उद्योग-धंधे सरकार द्वारा चलाए जाएं तथा पूंजीवादी व्यवस्था का अंत होना चाहिए। हां, व्यक्तिगत संपत्ति को जो मनुष्य जीवन के लिए परम आवश्यक है, उसे पास रहने दिया जाए।

घ. समुदाय बनाने का अधिकार : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका विकास समाज में ही संभव है। मनुष्य अपने विकास के लिए भिन्न-भिन्न संस्थाएं बना लेते हैं जिससे वे अपने हितों की रक्षा कर सकें। प्रजातंत्रीय राज्य में मनुष्य जितनी चाहे संस्थाएं बना सकता है। पर तानाशाही शासन प्रणालियों में इस पर रोक लग जाती है। कहने का अर्थ है कि साम्यवादी देशों में वहां के नागरिक समुदाय बनाने के अधिकार से वंचित हैं, परन्तु प्रजातंत्रीय राज्यों में भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग अपने व्यवसाय या पेशे के आधार पर समुदाय बनाकर अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं। अन्य अधिकारों की तरह इस अधिकार का भी बहुत महत्व है।

ङ: पारिवारिक जीवन का अधिकार : यह अधिकार प्रत्येक देश के नागरिकों को दिए जाते हैं। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अपना जीवन-साथ चुनने का अधिकार है। इसमें विवाह के अलावा उत्तराधिकार और बच्चों के अधिकार भी शामिल हैं। मनुष्यों के इन अधिकारों पर राज्य कानून के द्वारा नियंत्रण रखता है। इसी कारण प्रत्येक राज्य में विवाह-कानून आदि पाए जाते हैं।

च. आवागमन का अधिकार : प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह अपने देश में स्वतंत्रतापूर्वक भ्रमण कर सके और जहां चाहे वहां जाकर अपना कारोबार कर सके। सरकार कभी-कभी किसी व्यक्ति विशेष पर किसी विशेष स्थान पर जाने के लिए इस आधार पर रोक लगा देती है कि उसका वहां जाना राष्ट्रहित के विरुद्ध है। इसके अलावा देश के नागरिकों को विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने, सैर करने या इलाज करवाने या अन्य किसी कारण से वहां जाने का अधिकार होना चाहिए। पर सरकार कभी-कभी इस पर रोक लता देती है।

छ. अंत:करण की स्वतंत्रता का अधिकार : प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार ईश्वर में विश्वास करने, न करने तथा अपनी इच्छानुसार पूजा-पाठ करने का अधिकार है। उसे यह भी अधिकार है कि वह अपने धार्मिक

विश्वास के अनुसार, धर्म का प्रचार करे, लेकिन ये सब कार्य शांतिपूर्वक होने चाहिए।

ज. शिक्षा का अधिकार : राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों की उचित शिक्षा का प्रबंध करे। वर्तमान काल में प्रजातंत्रीय शासन में जनता का शिक्षित होना आवश्यक है। अत: राज्य को एक निश्चित अवस्था तक के बालकों को निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देनी चाहिए। शिक्षा का माध्यम उसकी मातृभाषा होनी चाहिए। शिक्षा जहां नागरिकों को साक्षर बनाए, उन्हें जीवन निर्वा के साधन उपलब्ध करवाए वहीं उन्हें अच्छे नागरिक बनने में भी सहयोग दे।

झ. समझौते का अधिकार : समझौते का अधिकार संपत्ति के अधिकार से संबंधित है। समझौता दो दलों के बीच होता है जिसके द्वारा वे एक-दूसरे पर उत्तरदायित्व स्थापित करते हैं। वर्तमान काल में व्यापार और आर्थिक व्यापार में इसका बहुत महत्व है। सरकार का कर्तव्य है कि वह समझौते के कानून की उचित रीति से व्याख्या करे।

ब. राजनीतिक अधिकार :

क. मतदान का अधिकार : आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्यों में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि देश का शासन चलाते हैं। नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता है। प्रत्येक नागरिक को, जिसने एक निश्चित अवस्था प्राप्त कर ली है, मत का अधिकार दिया जाता है। कुछ नागरिकों जैसे दिवालिए, बच्चों और अपराधियों को यह अधिकार नहीं दिया जाता।

ख. चुनाव लड़ने का अधिकार : यह अधिकार भी नागरिकों को एक निश्चित अवस्था प्राप्त करने पर ही दिया जाता है। भारत में राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति पद के लिए 35 वर्ष तथा लोकसभा व विधानमंडलों के लिए 25 वर्ष की अवस्था निश्चित है। इसमें कुछ शर्तें भी होती हैं जिन्हें पूरा करना आवश्यक है।

ग. सरकारी पद ग्रहण करने का अधिकार : प्रत्येक नागरिक जिसमें निश्चित योग्यताएं हैं, सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकारी है। राज्य को धर्म, लिंग, जाति, भाषा, जन्मस्थान आदि के आधार पर पदों के बारे में भेदभाव नहीं करना चाहिए।

घ. प्रार्थना पत्र देने का अधिकार : प्रत्येक नागरिक को अपनी शिकायतों को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में सरकार के सामने आवेदन पत्र द्वारा भेजने का अधिकार होना चाहिए। प्रजातंत्रीय राज्यों में सरकार जनता की शिकायतों का उचित ध्यान रखती है।

ङ: कानून के सामने समानता का अधिकार : इसका अर्थ यह है कि सभी नागरिकों को कानून के सामने समानता प्रदान की जानी चाहिए। कानून व्यक्ति-व्यक्ति में भेदभाव न बरते।

यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि नागरिकों को अपने अधिकारों का प्रयोग राष्ट्र हित में करना चाहिए। व्यक्तिगत हित तथा प्रांतीयता और संकीर्णता की भावनाओं को अलग रखकर ही राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करना श्रेयस्कर है।

स. आर्थिक अधिकार : व्यक्ति के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक अधिकार निम्न हैं :

क. काम का अधिकार : राज्य को प्रत्येक नागरिक को उनकी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार काम देना चाहिए। प्रगतिशील तथा धनी देशों में राज्य यदि किसी समय कुछ व्यक्तियों को काम नहीं दे सकता तो उन्हें बेरोजगारी भत्ता दिया जाता है।

ख. मजदूरी का अधिकार : प्रत्येक नागरिक को उसके काम की उचित मजदूरी भी मिलनी चाहिए। उसकी

न्यूनतम मजदूरी भी राज्य निश्चित करता है कि इससे कम मजदूरी किसी भी मजदूर को नहीं मिलनी चाहिए। इसके अलावा समान काम के लिए समान वेतन मिलना चाहिए।

ग. आर्थिक सुरक्षा का अधिकार : अच्छे राज्य अपने नागरिकों को पूर्ण आर्थिक सुरक्षा प्रदान करते हैं। यदि कोई व्यक्ति बेकार है तो राज्य उसे आर्थिक सहायता देता है। काम करते-करते यदि कोई व्यक्ति दुर्घटना के कारण बेकार हो जाता है तो राज्य का कर्तव्य है कि उसके जीवनभर के लिए भरण पोषण करे।

घ. अवकाश का अधिकार : व्यक्ति मशीन नहीं जो बिना थके निरंतर काम कर सके। काम से थकने के बाद व्यक्ति को आराम करने और मनोरंजन करने के लिए अवकाश भी चाहिए। अवकाश के समय ही व्यक्ति शांति से बैठकर स्वतंत्रतापूर्वक सोच सकता है और नए विचारों को जन्म दे सकता है। साहित्य, कला और ज्ञान की खोज और इसका आनंद भी व्यक्ति के अवकाश के समय ही प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि काम के घंटे निश्चित होते हैं।

ङ: काम करने के लिए निश्चित समय का अधिकार : आधुनिक युग में राज्य द्वारा कानून पास करके काम करने के लिए समय भी निश्चित कर दिया जाता है ताकि मजदूरों का शोषण न किया जा सके। इस निश्चित समय से अधिक समय काम लेने की स्थिति में अधिक मजदूरी दी जाती है।

५.२.४ स्वतंत्रता :

स्वतंत्रता का अर्थ : स्वतंत्रता शब्द, जिसे अंग्रेजी में लिबर्टी कहते हैं, लैटिन भाषा के शब्द लिबर से लिया गया है जिसका अर्थ है किसी प्रकार के बंधनों का न होना। इस प्रकार स्वतंत्रता का अर्थ है – व्यक्ति के ऊपर कोई बंधन न हो और वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। परन्तु यह स्वतंत्रता का ठीक और मान्य अर्थ नहीं है। स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ यह है कि व्यक्ति को उस सीमा तक कार्य करने की स्वतंत्रता हो जिससे अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अतिक्रमण न हो, इसके साथ ही सभी व्यक्तियों को विकास के समान अवसर प्राप्त हों।

५.२.५ स्वतंत्रता की परिभाषाएं :

1. मैकञ्जी के अनुसार, 'स्वतंत्रता एक प्रकार के बंधनों का अभाव नहीं है तर्कहीन बंधनों के स्थान पर तर्कयुक्त बंधनों की स्थापना है।'

2. गैटल का कहना है कि – स्वतंत्रता वह सकारात्मक शक्ति है जिसके द्वारा उन कार्यों को करके आनंद प्राप्त किया जा सकता है, जो करने योग्य है।

3. जी. डी. एच. कोल के शब्दों में, 'बिना किसी बाधा के अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करना स्वतंत्रता है।'

4. बर्नस के अनुसार, स्वतंत्रता का अर्थ अपने व्यक्तित्व व योग्यताओं का पूर्ण विकास करना है।

इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता से तात्पर्य राज्य द्वारा प्रदत्त उस वातावरण से है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास के साथ दूसरों के विकास में बाधक न हो। राज्य नागरिकों को अधिकारों के माध्यम से उनके विकास की बाधाओं को दूर करे।

५.२.६ स्वतंत्रता के पहलू या स्वरूप :

1. स्वतंत्रता की नकारात्मक अवधारणा

2. स्वतंत्रता की सकारात्मक अवधारणा

1. स्वतंत्रता की नकारात्मक अवधारणा : हॉब्स, रूसो, एडम स्मिथ, माल्थस, बेंथम, जेएस मिल आदि का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा से कार्य करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। रूसो का कहना है कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है किन्तु वह बंधनों में जकड़ा हुआ है। आर्थिक क्षेत्र में एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्री किसी भी प्रकार के बंधन के विरोधी थे। इस प्रकार उदारवादी व्यक्ति को सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतंत्रता देने के पक्षधर थे। वे राज्य के हस्तक्षेप को स्वतंत्रता का हनन मानते थे पर साथ ही यह भी मानते थे कि स्वतंत्रता असीमित होने पर अराजकता फैल जाएगी। इस विचारधारा में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं :

1. स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों का न होना है।
2. कानून से व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन है।
3. राज्य को व्यक्ति के व्यक्तिगत कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।
4. राज्य के अधिकार सीमित हैं।
5. कम से कम शासन करने वाली सरकार सर्वोत्तम है।
6. आर्थिक क्षेत्र में प्रतियोगिता के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। इस कारण राज्य को नागरिकों के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।
7. जीवन व संपत्ति का अधिकार असीमित है।

स्वतंत्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण की आलोचना : इस दृष्टिकोण की आलोचना निम्न आधार पर की गई है :

1. यह दृष्टिकोण इस तथ्य पर बल देता है कि राज्य के कार्य बहुत सीमित हों। यह दृष्टिकोण राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है। हरबर्ट स्पेंसर का कथन है कि राज्य विद्यमान है, क्योंकि समाज में अपराध विद्यमान है अन्यथा राज्य की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु इस दृष्टिकोण को अपनाने से समाज में अराजकता के साथ-साथ शोषण व भ्रष्टाचार तथा दरिद्रता को बढ़ावा मिलता है। दूसरे यह दृष्टिकोण राज्य के कल्याणकारी दृष्टिकोण का भी विरोधी है जिसके अनुसार सभी व्यक्तियों के सामाजिक व आर्थिक कल्याण का प्रयत्न किया जाता है।
2. मिल का तर्क यह है कि स्वतंत्रता के अभाव में सत्य प्रकट नहीं हो सकता। पर सत्य के प्रति अनुराग तो तानाशाही शासन में भी पाया जाता है जहां स्वतंत्रता का पूर्ण अभाव होता है।
3. केवल स्वतंत्रता देने से स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती। इसके लिए लोकतंत्रीय व्यवस्था आवश्यक है। स्वतंत्रता तो भूतपूर्व सोवियत संघ में भी नागरिकों को दी गई थी, परन्तु उनकी उचित सुरक्षा व्यवस्था न होने के कारण वह स्वतंत्रता अर्थहीन थी।

स्वतंत्रता की सकारात्मक अवधारणा : कुछ विद्वानों के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों का अभाव नहीं है, बल्कि इसका तात्पर्य अनुचित बंधनों के अभाव से है। राज्य के प्रत्येक कानून से व्यक्ति की स्वतंत्रता कम नहीं होती बल्कि सुरक्षित होती है। विभिन्न राज्यों द्वारा नागरिकों को जो मौलिक अधिकार दिए गए हैं उनसे नागरिकों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। गैटल का कहना है कि स्वतंत्रता वह सकारात्मक शक्ति है जिसके द्वारा उन कार्यों को करके आनंद प्राप्त किया जाता है जो करने योग्य हैं।

स्वतंत्रता का सकारात्मक स्वरूप दो बातों पर बल देता है :

प्रथम, व्यक्ति को शासन में भागीदारी का अधिकार प्राप्त हो। यह इसलिए आवश्यक है कि इससे वैयक्तिक

आत्म-निर्देशन प्राप्त होता है।

दूसरे, सकारात्मक स्वतंत्रता का दूसरा अर्थ है विवेकी आत्म की स्वतंत्रता। रूसो आदि आदर्शवादियों ने इसका समर्थन किया है। इससे व्यक्ति अपने आपको समाज का अभिन्न अंग मानने लगता है तथा अपना विकास करता है।

इस प्रकार स्वतंत्रता का सकारात्मक दृष्टिकोण राज्य को नागरिकों के जीवन से संबंधित भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान करता है। इससे यह संदेह पैदा होता है कि राज्य अनुचित हस्तक्षेप द्वारा नागरिकों की स्वतंत्रता को कम कर सकता है। परन्तु नागरिकों को अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जागरूक रहना बहुत आवश्यक है।

इस दृष्टिकोण की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :

1. स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों का अभाव नहीं है।

2. राज्य के कानून से व्यक्ति को स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

3. राज्य व्यक्तियों के विकास में सहायक होता है। इसलिए वह व्यक्तियों के सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप कर सकता है।

4. राज्य व्यक्तियों के कार्यों पर तर्कपूर्ण प्रतिबंध लगा सकता है।

5. व्यक्ति का कोई भी अधिकार असीमित नहीं है।

स्वतंत्रता के नकारात्मक व सकारात्मक दृष्टिकोण में अंतर :

नकारात्मक दृष्टिकोण :

1. नकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों का न होना है।

2. नकारात्मक स्वतंत्रता में राज्य का व्यक्ति पर बहुत सीमित नियंत्रण होता है।

3. नकारात्मक स्वतंत्रता के दृष्टिकोण के अनुसार वह सरकार सर्वोत्तम है जो कम से कम शासन करती है।

4. नकारात्मक स्वतंत्रता के अनुसार कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता कम करता है।

5. नकरात्मक स्वतंत्रता के अनुसार व्यक्ति के जीवन व संपत्ति के अधिकार असीमित हैं।

सकारात्मक दृष्टिकोण :

1. सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों का अभाव नहीं है।

2. सकारात्मक स्वतंत्रता में राज्य व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विकास के लिए हस्तक्षेप कर सकता है।

3. सकारात्मक स्वतंत्रता के दृष्टिकोण के अनुसार राज्य को नागरिकों के कल्याण हेतु सभी क्षेत्रों में कानून बनाकर हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

4. सकारात्मक अवधारणा के अनुसार कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता में वृद्धि करता है।

5. सकारात्मक स्वतंत्रता के अनुसार राज्य व्यक्ति के संपत्ति के अधिकार को सीमित कर सकता है।

स्वतंत्रता के विभिन्न रूप : भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा स्वतंत्रता के भेद या रूप विभिन्न प्रकार से वर्णित किए गए हैं। एक विद्वान ने स्वतंत्रता के भेद का वर्णन केवल तीन भागों में किया है - 1. राजनीतिक, 2. आर्थिक और 3. नैतिक। उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। स्वतंत्रता के भेद का अध्ययन निम्न भागों में किया जा सकता है:

1. प्राकृतिक स्वतंत्रता
2. राजनीतिक स्वतंत्रता
3. राष्ट्रीय स्वतंत्रता
4. नागरिक स्वतंत्रता
5. आर्थिक स्वतंत्रता
6. नैतिक स्वतंत्रता
7. सामाजिक स्वतंत्रता
8. धार्मिक स्वतंत्रता

1. प्राकृतिक स्वतंत्रता : प्राकृतिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जिसका प्रयोग मनुष्य राज्य की स्थापना से पहले करता था। कुछ लेखकों के अनुसार व्यक्ति को प्रकृति द्वारा स्वतंत्र पैदा किया गया है, उसे हर कार्य करने का पूरा अधिकार है और उसकी किसी भी कार्य करने की शक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है। रूसो ने लिखा है, मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है परन्तु प्रत्येक स्थान पर वह बंधन में बंधा हुआ है। इस प्रकार प्राकृतिक स्वतंत्रता वह है जिसका प्रयोग मनुष्य प्रकृति के राज्य में करता था। यह एक व्यक्ति का कार्य करने का असीमित अधिकार है।

परन्तु अधिकतर लेखक इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके विचार में इस प्रकार की निरंकुश स्वतंत्रता की स्थिति में मनुष्यों के आपसी संबंध जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धांत पर आधारित होंगे। वास्तव में स्वतंत्रता राज्य व समाज में रहकर उस समय प्राप्त हो सकती है जब सभी अपनी–अपनी स्वतंत्रता का उपभोग इस बात को ध्यान में रखकर करें कि दूसरों की स्वतंत्रता नष्ट न हो।

2. राजनीतिक स्वतंत्रता : वह स्वतंत्रता जिसके द्वारा नागरिकों के राज्य के कार्यों में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। लीकॉक के अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता संवैधानिक स्वतंत्रता है और इसका अर्थ यह है कि लोगों को अपनी सरकार चुनने का अधिकार होना चाहिए। यह निम्न अधिकारों से संबंध रखती है :

1. नागरिकों को अपने देश में कानून बनाने वाली सभाओं में प्रतिनिधि चुनने का अधिकार अथवा मतदान का अधिकार। अल्प व्यस्क, विदेशी, पागल व दिवालिए आदि इससे वंचित रखे जाते हैं।

2. चुने जाने का अधिकार।

3. देश के कानूनों के अनुसार योग्य होने पर सार्वजनिक पद को पाने का अधिकार।

4. सरकार तथा उसकी नीतियों की आलोचना करने का अधिकार – यदि सरकार ठीक प्रकार से कार्य न कर रही हो।

इसे देखकर कहा जा सकता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता तो केवल उसी देश में संभव है जहां सरकार का रूप प्रजातांत्रिक है, क्योंकि केवल ऐसे ही राज्य में जनता को अपने मताधिकार का प्रयोग करने का अधिकार मिलता है।

3. राष्ट्रीय स्वतंत्रता : राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ एक राष्ट्र की विदेशी नियंत्रण से स्वतंत्रता है। जिस प्रकार प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता प्रिय है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को स्वतंत्रता प्रिय है। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए बड़े से बड़े बलिदान करने को तैयार रहते हैं। अत: राष्ट्रीय स्वतंत्रता बहुत

अनिवार्य है क्योंकि एक स्वतंत्र राष्ट्र ही अपने नागरिकों को अधिकार तथा स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है जिससे नागरिक अपना संपूर्ण विकास कर सकता है।

4. नागरिक स्वतंत्रता : नागरिक स्वतंत्रता राजनीतिक स्वतंत्रता का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, भारत आदि लोकतांत्रिक राज्यों में ये स्वतंत्रता नागरिकों को दी गई है। नागरिक स्वतंत्रता व्यक्ति के उन अधिकारों से संबंध रखती है जिनका प्रयोग करके वह अपना नागरिक जीवन यापन कर सकता है तथा अपने व्यक्तित्व का उचित विकास कर सकता है।

इनमें प्रमुख जीवन, संपत्ति, भाषण तथा अभिव्यक्ति, प्रेस, भ्रमण करने, राज्य के किसी क्षेत्र में निवास करने, व्यवसाय अपनाने, कानूनी समानता आदि शामिल हैं। नागरिक को बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका का अधिकार देकर व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा की जाती है।

5. आर्थिक स्वतंत्रता : आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ है – बिना दूसरों पर निर्भर हुए जीवन यापन की सभी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति। अर्थात व्यक्ति की बेरोजगारी तथा भूख से मुक्ति। इस स्वतंत्रता का अर्थ कि नागरिक अपने रोजगार का साधन स्वयं चुन सकते हैं। इसको प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हों। इसमें कुछ अधिकार निहित हैं जैसे – काम करने का अधिकार, न्यूनतम वेतन पाने का अधिकार, काम करने के निश्चित घंटे, अवकाश पाने तथा बेकारी, बीमारी व बुढ़ापे की अवस्था में सहायता आदि के अधिकार। यही कारण है कि राजनीतिक स्वतंत्रता का उचित उपभोग करने के लिए आर्थिक स्वतंत्रता पर काफी बल दिया जाता है।

6. नैतिक स्वतंत्रता : नैतिक स्वतंत्रता का अर्थ है **:** व्यक्तिगत स्वायत्तता। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी बन सके। नैतिक स्वतंत्रता ही राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक हो सकती है। व्यक्ति में समाज के प्रति प्रेम, त्याग, मित्रता, सहानुभूति की भावना व सहयोग आदि गुणों का विकास आवश्यक है क्योंकि इसी से नैतिक भावना पैदा होती है।

7. सामाजिक स्वतंत्रता : सामाजिक स्वतंत्रता से तात्पर्य है संकीर्णता अथवा कट्टरता की दृढवादियों से स्वतंत्रता। प्रत्येक राज्य में धर्त, जाति, राष्ट्रीयता आदि के आधार पर अनेक वर्ग पाए जाते हैं। इनमें कुछ अल्पमत में होते हैं तो कुछ बहुमत में। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अल्पमत वालों को भी स्वतंत्रता प्रदान करे।

8. धार्मिक स्वतंत्रता : धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत विषय है। वह किसी धर्म को माने या उसका प्रचार करे, इस संबंध में उसे पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। राज्य धर्म निरपेक्षता के सिद्धांतों को प्रधानता दे। राज्य न तो किसी धर्म विशेष को अपनाए और न ही धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव करे।

आर्थिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता में संबंध : राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक अर्थहीन है जब तक उसे आर्थिक स्वतंत्रता का ठोस आधार नहीं मिलता। यह कथन पूर्ण सत्य है। आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ है – व्यक्ति की बेरोजगारी तथा भूख से मुक्ति। आर्थिक स्वतंत्रता किसी भी स्वतंत्र समाज का मूल आधार है। आर्थिक रूप से स्वतंत्रत होने पर ही व्यक्ति राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है। आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में व्यक्ति समाज में अपना श्रेष्ठ योगदान नहीं दे सकता।

राजनीतिक स्वतंत्रता की मांग है कि नागरिक राज्य के मामलों में सहभागी बने। इसका अर्थ यह है कि नागरिक शासन की गतिविधियों में अपना योगदान दे। परन्तु राजनीतिक स्वतंत्रता उस समय तक अर्थहीन है जब तक कि नागरिक को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती। आर्थिक रूप से स्वतंत्र हुए बिना नागरिक अपने मत का

प्रयोग भी सही प्रकार से नहीं कर सकता। धनी राजनीतिज्ञ गरीब लोगों का मत प्राप्त करके सत्ता प्राप्त कर लेते हैं। इससे शासन पर उनका नियंत्रण हो जाता है। सच्चाई तो यह है कि भूखे व्यक्ति के लिए लोकतंत्र और अन्य उपकरणों का महत्व बहुत कम होता है। इस प्रकार की स्थिति में हिंसक क्रांतियां हो सकती हैं। रूसी क्रांति इसका अच्छा उदाहरण है। अंत में सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक अर्थहीन है जब तक उसे आर्थिक स्वतंत्रता का ठोस आधार नहीं मिलता।

५.२.७ स्वतंत्रता के संरक्षक :

स्वतंत्रता व्यक्ति के लिए बहुत आवश्यक है। इसके बिना व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। राज्य द्वारा ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता को दूसरे व्यक्तियों या सरकार द्वारा छीने जाने से बचाया जा सके। लोकतंत्रीय राज्यों में स्वतंत्रता की रक्षा के लिए निम्न उपाय अपनाए जा सकते हैं :

1. लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था : लोकतंत्र शासन व्यवस्था में नागरिकों को जहां विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है, वहां उनकी सुरक्षा की व्यवस्था भी की जाती है। जनता के चुने हुए प्रतिनिधि कानून निर्मित करते हैं व शासन चलाते हैं। वे चुनाव के डर से जनता की स्वतंत्रता सुरक्षित रखते हैं क्योंकि इसी में उनका हित होता है।

2. मौलिक अधिकारों का होना : नागरिकों की स्वतंत्रता को सुरक्षित करने का एक ढंग यह भी है कि उनका उल्लेख संविधान में किया जाए। इसका लाभ यह है कि कोई भी सत्ताधारी दल उनमें सरलता से परिवर्तन नहीं कर सकता।

3. शक्तियों का पृथक्करण : नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह आवश्यक हैकि सरकार के अंगों को अलग-अलग रखकर उनकी शक्तियों को संतुलित किया जाए। इससे सरकार निरंकुश नहीं हो सकती।

4. स्वतंत्र व निष्पक्ष न्यायपालिका : नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए स्वतंत्र व निष्पक्ष न्यायपालिका हो। अर्थात न्यायपालिका सरकार के अन्य अंगों से अलग होकर मुकदमों का निर्ण कर सके।

5. शक्ति का विकेंद्रीकरण : इसका अर्थ यह है कि शासन की शक्तियां केंद्र और उसकी इकाइयों में विभाजित हों। शासन की सारी शक्तियां एक केंद्र में होने से निरंकुशता पैदा होती है।

6. कानून का शासन : इसका अर्थ है, प्रथम, सभी नागरिकों के लिए कानून की दृष्टि समान रहे तथा दूसरे, सब व्यक्तियों को समान अपराध के लिए समान दंड हो। तीसरे, किसी भी व्यक्ति को अपराध साबित होने के बाद ही दंड मिले। चौथे, कानून प्रक्रिया द्वारा स्थापित न्यायालय में मुकदमा चलाया जाए तथा कथित अपराधी को अपने बचाव के लिए पैरवी करने का अधिकार हो।

7. आर्थिक सुरक्षा : इसका अर्थ है कि व्यक्ति अपनी रोजी-रोटी बिना किसी दबाव के पैदा कर सके तथा अपने परिवार के पालन के साथ बच्चों को शिक्षित कर सके। ऐसी स्थिति होने पर ही व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है।

8. राजनीतिक शिक्षा तथा सतत जागरूकता : स्वतंत्रता की रक्षा का सबसे अधिक उत्तरदायित्व जनता का है। शासनीय व्यवस्थाएं तो केवल स्वतंत्रता की रक्षा करने में सहायक होती हैं। जागरूकता राजनीतिक शिक्षा से प्राप्त होती है और जागरूक व्यक्ति ही स्वतंत्रता प्राप्त की रक्षा कर सकता है। नागरिक सरकार द्वारा निर्मित कानून एवं आदेशों पर भी निगाह रखे। यदि कानून या आदेश व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करते हैं तो उसे उसका

संवैधानिक ढंग से विरोध करना उचित है।

9. स्वतंत्र संचार माध्यम : वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रमुख संचार माध्यम समाचार पत्र, रेडियो, पत्र पत्रिकाएं, टीवी आदि हैं। ये सब स्वतंत्र हों जिससे नागरिक सरकार की आलोचना करके अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सके।

10. सशक्त विरोधी दल : लोकतंत्र में सशक्त विरोधी दल ही सत्ताधारी दल की निरंकुशता पर रोक लगा सकता है तथा नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है।

सतत जागरूकता ही स्वतंत्रता का मूल्य : लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में नागरिकों को उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए अनेक प्रकार की स्वतंत्रताएं दी जाती हैं। इनकी रक्षा के लिए अनेक व्यवस्थाएं की जाती हैं। स्वतंत्र व निष्पक्ष न्यायपालिका स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अनिवार्य तत्व है। दूसरे स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए कानून के शासन की भी व्यवस्था की जाती है। इसका अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति को कानून का उल्लंघन करने व उसका अपराध साबित होने पर ही दंड दिया जाए। इसके अलावा व्यक्ति को स्वयं अपनी स्वतंत्रता के प्रति जागरूक होना चाहिए।

सतत जागरूकता का अर्थ : सतत जागरूकता से तात्पर्य यह है कि नागरिक अपनी स्वतंत्रता पर होने वाले आघातों और आक्रमणों के विरुद्ध बलपूर्वक आवाज उठाने के लिए तैयार रहे। सत्ताधारी सरकार अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए कई बार ऐसे कानून बनाती है जो न्यायपूर्ण नहीं होते। दूसरे कार्यपालिका भी कानूनों का दुरुपयोग करके भी नागरिकों की स्वतंत्रता का उल्लंघन करती है। इस पर सरकार तभी रोक लगाएगी जब उसे पता हो कि जनता संगठित होकर अपनी स्वतंत्रता के लिए उनका विरोध कर सकती है।

नागरिकों की सतत जागरूकता से जनमत का निर्माण होता है। कोई भी सरकार कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो, वह जनमत का विरोध नहीं कर सकती। जनता का यह कर्तव्य है कि वह सरकार के अतिक्रमण के विरोध में अपनी भावना का प्रदर्शन करती रहे। इससे सरकार चौकन्नी रहती है तथा जनता की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है। स्पष्ट है कि सतत जागरूकता ही स्वतंत्रता का मूल्य है।

५.३ सारांश :

अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास नहीं कर सकता।'

'अधिकार वह शक्ति है जिसकी लोक-कल्याण के लिए मांग की जाती है और मान्यता भी दी जाती है।'

अन्य व्यक्तियों के कामों को अपनी शक्ति से नहीं बल्कि समाज के विचारों तथा बल पर प्रभावित करने की व्यक्ति की क्षमता को अधिकार कहते हैं।

'विशेष कार्य में स्वतंत्रता की उचित मांग ही अधिकार है।'

स्वतंत्रता शब्द, जिसे अंग्रेजी में लिबर्टी कहते हैं, लैटिन भाषा के शब्द लिबर से लिया गया है जिसका अर्थ है किसी प्रकार के बंधनों का न होना। इस प्रकार स्वतंत्रता का अर्थ है - व्यक्ति के ऊपर कोई बंधन न हो और वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। परन्तु यह स्वतंत्रता का ठीक और मान्य अर्थ नहीं है। स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ यह है कि व्यक्ति को उस सीमा तक कार्य करने की स्वतंत्रता हो जिससे अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अतिक्रमण न हो, इसके साथ ही सभी व्यक्तियों को विकास के समान अवसर प्राप्त हों।

प्राकृतिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जिसका प्रयोग मनुष्य राज्य की स्थापना से पहले करता था। कुछ लेखकों के अनुसार व्यक्ति को प्रकृति द्वारा स्वतंत्र पैदा किया गया है, उसे हर कार्य करने का पूरा अधिकार है और उसकी किसी भी कार्य करने की शक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है। रूसो ने लिखा है, मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है परन्तु प्रत्येक स्थान पर वह बंधन में बंधा हुआ है। इस प्रकार प्राकृतिक स्वतंत्रता वह है जिसका प्रयोग मनुष्य प्रकृति के राज्य में करता था। यह एक व्यक्ति का कार्य करने का असीमित अधिकार है।

परन्तु अधिकतर लेखक इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके विचार में इस प्रकार की निरंकुश स्वतंत्रता की स्थिति में मनुष्यों के आपसी संबंध जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धांत पर आधारित होंगे। वास्तव में स्वतंत्रता राज्य व समाज में रहकर उस समय प्राप्त हो सकती है जब सभी अपनी–अपनी स्वतंत्रता का उपभोग इस बात को ध्यान में रखकर करें कि दूसरों की स्वतंत्रता नष्ट न हो।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ एक राष्ट्र की विदेशी नियंत्रण से स्वतंत्रता है। जिस प्रकार प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता प्रिय है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को स्वतंत्रता प्रिय है। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए बड़े से बड़े बलिदान करने को तैयार रहते हैं। अत: राष्ट्रीय स्वतंत्रता बहुत अनिवार्य है क्योंकि एक स्वतंत्र राष्ट्र ही अपने नागरिकों को अधिकार तथा स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है जिससे नागरिक अपना संपूर्ण विकास कर सकता है।

नागरिक स्वतंत्रता राजनीतिक स्वतंत्रता का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, भारत आदि लोकतांत्रिक राज्यों में ये स्वतंत्रता नागरिकों को दी गई है। नागरिक स्वतंत्रता व्यक्ति के उन अधिकारों से संबंध रखती है जिनका प्रयोग करके वह अपना नागरिक जीवन यापन कर सकता है तथा अपने व्यक्तित्व का उचित विकास कर सकता है।

आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ है – बिना दूसरों पर निर्भर हुए जीवन यापन की सभी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति। अर्थात व्यक्ति की बेरोजगारी तथा भूख से मुक्ति। इस स्वतंत्रता का अर्थ कि नागरिक अपने रोजगार का साधन स्वयं चुन सकते हैं। इसको प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हों।

नैतिक स्वतंत्रता का अर्थ है : व्यक्तिगत स्वायत्तता। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी बन सके। नैतिक स्वतंत्रता ही राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक हो सकती है। व्यक्ति में समाज के प्रति प्रेम, त्याग, मित्रता, सहानुभूति की भावना व सहयोग आदि गुणों का विकास आवश्यक है क्योंकि इसी से नैतिक भावना पैदा होती है।

सामाजिक स्वतंत्रता से तात्पर्य है संकीर्णता अथवा कट्टरता की दृढवादियों से स्वतंत्रता। प्रत्येक राज्य में धर्त, जाति, राष्ट्रीयता आदि के आधार पर अनेक वर्ग पाए जाते हैं। इनमें कुछ अल्पमत में होते हैं तो कुछ बहुमत में। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अल्पमत वालों को भी स्वतंत्रता प्रदान करे।

धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत विषय है। वह किसी धर्म को माने या उसका प्रचार करे, इस संबंध में उसे पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। राज्य धर्म निरपेक्षता के सिद्धांतों को प्रधानता दे। राज्य न तो किसी धर्म विशेष को अपनाए और न ही धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव करे।

५.४ सूचक शब्द :

प्राकृतिक अधिकार : हॉब्स, लॉक, रूसो, थॉमस पेन और जेफरसन आदि प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के समर्थक हैं। इनका मानना है कि कुछ अधिकार मनुष्य को प्रकृति से ही प्राप्त हैं। रूसो, हॉब्स तथा लॉक आदि का मानना था कि राज्य के जन्म से पूर्व प्राकृतिक अवस्था थी और उसमें मनुष्य बिना किसी बंध के असीमित रूप से अधिकारों का प्रयोग किया करते थे। आधुनिक युग में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को महत्व नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि सर्वप्रथम मानव इतिहास में किसी समय का पता नहीं चलता जब समाज और राज्य नहीं थे। दूसरे, अधिकारों का प्रयोग समाज में ही होता है। तीसरे, प्राकृतिक अधिकारों की सूची के विषय में इसके समर्थक स्वयं एकमत नहीं हैं।

नैतिक अधिकार : व्यक्ति के नैतिक व्यवहार से संबंधित अधिकार नैतिक अधिकार हैं। इनका आधार धर्मशास्त्र, सामाजिक और व्यक्तिगत नैतिकता आदि हुआ करता है। इन अधिकारों को राज्य का समर्थन प्राप्त नहीं होता। इसलिए इनको न मानने पर किसी व्यक्ति को दंडित नहीं किया जा सकता। पर उसे समाज अच्छी दृष्टि से नहीं देखता। उदाहरण के तौर पर बड़ों को छोटों से सम्मान प्राप्त करना, अध्यापक का आदर करना और उनकी आज्ञा मानना, गरीबों की सहायता करना आदि बताए जा सकते हैं।

मौलिक अधिकार : वे अधिकार जिनके बिना मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं हो पाता, मौलिक अधिकार होते हैं। इसलिए इनकी राज्य के संविधान द्वारा व्यवस्था की जाती है। प्राचीन काल में राजतंत्र, कुलीनतंत्र और तानाशाही शासनों में ऐसे अधिकार प्राप्त नहीं होते थे, लेकिन ज्यों-ज्यों लोकतंत्र का विकास होता गया, ये अधिकार दिए जाने लगे। आज अमेरिका के अलावा भारत, जापान, पश्चिमी जर्मनी आदि के लोकतांत्रिक देशों के संविधानों में इन्हें स्थान दिया गया है।

वैधानिक अधिकार : वे अधिकार जो राज्य द्वारा लागू किए जाते हैं और जिनका उल्लंघन करने पर दंड मिलता है, वैधानिक अधिकार कहलाते हैं।

स्वतंत्रता का अर्थ : स्वतंत्रता शब्द, जिसे अंग्रेजी में लिबर्टी कहते हैं, लैटिन भाषा के शब्द लिबर से लिया गया है जिसका अर्थ है किसी प्रकार के बंधनों का न होना। इस प्रकार स्वतंत्रता का अर्थ है – व्यक्ति के ऊपर कोई बंधन न हो और वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। परन्तु यह स्वतंत्रता का ठीक और मान्य अर्थ नहीं है। स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ यह है कि व्यक्ति को उस सीमा तक कार्य करने की स्वतंत्रता हो जिससे अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अतिक्रमण न हो, इसके साथ ही सभी व्यक्तियों को विकास के समान अवसर प्राप्त हों।

स्वतंत्रता की नकारात्मक अवधारणा : हॉब्स, रूसो, एडम स्मिथ, माल्थस, बेंथम, जेएस मिल आदि का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा से कार्य करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। रूसो का कहना है कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है किन्तु वह बंधनों में जकड़ा हुआ है। आर्थिक क्षेत्र में एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्री किसी भी प्रकार के बंधन के विरोधी थे। इस प्रकार उदारवादी व्यक्ति को सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतंत्रता देने के पक्षधर थे। वे राज्य के हस्तक्षेप को स्वतंत्रता का हनन मानते थे पर साथ ही यह भी मानते थे कि स्वतंत्रता असीमित होने पर अराजकता फैल जाएगी।

स्वतंत्रता की सकारात्मक अवधारणा : कुछ विद्वानों के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों का अभाव नहीं है, बल्कि इसका तात्पर्य अनुचित बंधनों के अभाव से है। राज्य के प्रत्येक कानून से व्यक्ति की स्वतंत्रता कम नहीं होती बल्कि सुरक्षित होती है। विभिन्न राज्यों द्वारा नागरिकों को जो मौलिक अधिकार दिए गए हैं उनसे नागरिकों

को स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। गैटल का कहना है कि स्वतंत्रता वह सकारात्मक शक्ति है जिसके द्वारा उन कार्यों को करके आनंद प्राप्त किया जाता है जो करने योग्य हैं।

प्राकृतिक स्वतंत्रता : प्राकृतिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जिसका प्रयोग मनुष्य राज्य की स्थापना से पहले करता था। कुछ लेखकों के अनुसार व्यक्ति को प्रकृति द्वारा स्वतंत्र पैदा किया गया है, उसे हर कार्य करने का पूरा अधिकार है और उसकी किसी भी कार्य करने की शक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है। रूसो ने लिखा है, मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है परन्तु प्रत्येक स्थान पर वह बंधन में बंधा हुआ है। इस प्रकार प्राकृतिक स्वतंत्रता वह है जिसका प्रयोग मनुष्य प्रकृति के राज्य में करता था। यह एक व्यक्ति का कार्य करने का असीमित अधिकार है।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता : राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ एक राष्ट्र की विदेशी नियंत्रण से स्वतंत्रता है। जिस प्रकार प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता प्रिय है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को स्वतंत्रता प्रिय है। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए बड़े से बड़े बलिदान करने को तैयार रहते हैं। अत: राष्ट्रीय स्वतंत्रता बहुत अनिवार्य है क्योंकि एक स्वतंत्र राष्ट्र ही अपने नागरिकों को अधिकार तथा स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है जिससे नागरिक अपना संपूर्ण विकास कर सकता है।

नागरिक स्वतंत्रता : नागरिक स्वतंत्रता राजनीतिक स्वतंत्रता का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, भारत आदि लोकतांत्रिक राज्यों में ये स्वतंत्रता नागरिकों को दी गई है। नागरिक स्वतंत्रता व्यक्ति के उन अधिकारों से संबंध रखती है जिनका प्रयोग करके वह अपना नागरिक जीवन यापन कर सकता है तथा अपने व्यक्तित्व का उचित विकास कर सकता है।

आर्थिक स्वतंत्रता : आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ है – बिना दूसरों पर निर्भर हुए जीवन यापन की सभी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति। अर्थात व्यक्ति की बेरोजगारी तथा भूख से मुक्ति। इस स्वतंत्रता का अर्थ कि नागरिक अपने रोजगार का साधन स्वयं चुन सकते हैं। इसको प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हों। इसमें कुछ अधिकार निहित हैं जैसे – काम करने का अधिकार, न्यूनतम वेतन पाने का अधिकार, काम करने के निश्चित घंटे, अवकाश पाने तथा बेकारी, बीमारी व बुढ़ापे की अवस्था में सहायता आदि के अधिकार। यही कारण है कि राजनीतिक स्वतंत्रता का उचित उपभोग करने के लिए आर्थिक स्वतंत्रता पर काफी बल दिया जाता है।

नैतिक स्वतंत्रता : नैतिक स्वतंत्रता का अर्थ है : व्यक्तिगत स्वायत्तता। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी बन सके। नैतिक स्वतंत्रता ही राजनीतिक व आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक हो सकती है। व्यक्ति में समाज के प्रति प्रेम, त्याग, मित्रता, सहानुभूति की भावना व सहयोग आदि गुणों का विकास आवश्यक है क्योंकि इसी से नैतिक भावना पैदा होती है।

सामाजिक स्वतंत्रता : सामाजिक स्वतंत्रता से तात्पर्य है संकीर्णता अथवा कट्टरता की दृढवादियों से स्वतंत्रता। प्रत्येक राज्य में धर्त, जाति, राष्ट्रीयता आदि के आधार पर अनेक वर्ग पाए जाते हैं। इनमें कुछ अल्पमत में होते हैं तो कुछ बहुमत में। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अल्पमत वालों को भी स्वतंत्रता प्रदान करे।

धार्मिक स्वतंत्रता : धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत विषय है। वह किसी धर्म को माने या उसका प्रचार करे, इस संबंध में उसे पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। राज्य धर्म निरपेक्षता के सिद्धांतों को प्रधानता दे। राज्य न तो किसी धर्म विशेष को अपनाए और न ही धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव करे।

५.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. अधिकार की अवधारणा की विस्तार से चर्चा करें।
२. अधिकार के तत्व व वर्गीकरण के बारे में बताएं।
३. स्वतंत्रता का अर्थ परिभाषाओं के साथ बताएं।
४. स्वतंत्रता के विभिन्न पहलुओं पर टिप्पणी करें।
५. स्वतंत्रता के विभिन्न रूपों के बारे में लिखो।

५.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

समानता तथा न्याय

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम समानता और न्याय के बारे में चर्चा करेंगे। समानता का अर्थ, समानता के प्रकार, स्वतंत्रता व समानता में संबंध, राजनीतिक समानता व आर्थिक समानता, न्याय की अवधारणा, न्याय का अर्थ व परिभाषा, न्याय के विभिन्न आयाम, न्याय व स्वतंत्रता, न्याय व समानता, सामाजिक न्याय, आर्थिक न्याय आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

६.० उद्देश्य
६.१ परिचय
६.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
६.२.१ समानता का अर्थ
६.२.२ समानता के प्रकार
६.२.३ स्वतंत्रता व समानता में संबंध
६.२.४ राजनीतिक समानता व आर्थिक समानता
६.२.५ न्याय की अवधारणा
६.२.६ न्याय का अर्थ व परिभाषा
६.२.७ न्याय के विभिन्न आयाम
६.२.८ न्याय व स्वतंत्रता
६.२.९ न्याय व समानता
६.२.१० सामाजिक न्याय
६.२.११ आर्थिक न्याय
६.३ सारांश
६.४ सूचक शब्द
६.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

६.६ संदर्भित पुस्तकें

६.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

समानता का अर्थ जानना
समानता के प्रकारों का पता लगाना
स्वतंत्रता व समानता में संबंध से परिचित होना
राजनीतिक समानता व आर्थिक समानता के बारे में जानना
न्याय की अवधारणा से परिचित होना
न्याय का अर्थ व परिभाषा से परिचित होना
न्याय के विभिन्न आयाम से परिचित होना
न्याय व स्वतंत्रता के बारे में जानना
न्याय व समानता के बारे में जानना
सामाजिक न्याय से परिचित होना
आर्थिक न्याय से परिचित होना

६.१ परिचय :

समानता के संबंध में विचारकों में आरंभ से ही मतभेद रहे हैं। कुछ विचारकों के अनुसार मनुष्य को प्रकृति द्वारा समान रूप से बिना किसी भेदभाव के पैदा किया जाता है तो उसके साथ बाद में भी किसी तरह का भेदभाव नहीं होना चाहिए। वहीं कुछ का कहना है कि प्रकृति कुछ लोगों को उच्च कुल में तथा कुछ को निम्न वर्ग में पैदा करती है और इसी कारण उनको समानता भी नहीं देनी चाहिए। समानता से अभिप्राय राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक समानता से है।

इस अध्याय में समानता के अर्थ, परिभाषा, विभिन्न अवधारणाएं, भेद या प्रकार, स्वतंत्रता व समानता में संबंध, न्याय की अवधारणा, न्याय का अर्थ एवं परिभाषाओं, लक्षणों, विभिन्न पक्षों, न्याय और स्वतंत्रता तथा न्याय और समानता के संबंधों का अध्ययन किया जाएगा।

६.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

समानता का अर्थ
समानता के प्रकार
स्वतंत्रता व समानता में संबंध
राजनीतिक समानता व आर्थिक समानता
न्याय की अवधारणा
न्याय का अर्थ व परिभाषा

न्याय के विभिन्न आयाम
न्याय व स्वतंत्रता
न्याय व समानता
सामाजिक न्याय
आर्थिक न्याय

६.२.१ समानता का अर्थ

समानता की कोई एक निश्चित परिभाषा देना बहुत कठिन है। विद्वानों ने समानता के विषय में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। धार्मिक विचारकों का तर्क है कि सभी व्यक्ति ईश्वर की देन हैं, इसलिए सबसे साथ समान व्यवहार होना चाहिए। महात्मा गांधी ने भी इसी विचार का समर्थन किया है। दूसरे, कुछ विद्वानों का विचार है कि सभी व्यक्ति प्राकृतिक रूप से समान हैं। फ्रांस की नेशनल असेंबली ने अपने मनुष्य के अधिकारों के घोषणा-पत्र में कहा है, 'सब मनुष्य स्वतंत्र हैं तथा समान पैदा हुए हैं और वे अपने अधिकारों के विषय में भी समान तथा स्वतंत्र हैं।' तीसरे, प्रारंभिक उदारवादियों का विचार है कि सभी व्यक्ति समान हैं, क्योंकि वे समान प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते हैं। चौथे, बैथम का विचार है कि सभी व्यक्ति समान रूप से सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं, अत: सब समान हैं। पांचवें, आदर्शवादी विचारक काण्ट ने नैतिकता के आधार पर लोगों को समान माना है। छठे मार्क्सवादियों व समाजवादियों के अनुसार सभी लोगों की भौतिक व सामाजिक आवश्यकताएं समान हैं, अत: वे समान मानवता के अधिकारी हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि समानता का प्रयोग अलग-अलग रूपों में किया गया है। परंतु समानता के संबंध में ये सब विचारधाराएं भ्रामक हैं। प्रकृति ने सबको तो क्या, किन्हीं दो मनुष्यों को भी समान नहीं बनाया। व्यक्ति रंग रूप, बुद्धि, स्वभाव व रहन-सहन आदि में अलग होते हैं। अर्थात प्रकृति ने व्यक्तियों में बहुत सी असमानता रखी है और संसार में कोई भी शक्ति उन्हें समान स्तर पर लाने में समर्थ नहीं हो सकती।

समानता के मान्य या वास्तविक अर्थ : प्रो. लास्की के अनुसार समानता का अर्थ एक ओर विशेषाधिकारों की समाप्ति और दूसरी ओर सभी को विकास के लिए उचित अवसरों की प्राप्ति है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, समाज से सब प्रकार के विशेषाधिकार, जन्म, लिंग, रंग, धर्म, राष्ट्रीयता, जाति, धन, शिक्षा आदि के आधार होने वाले भेदभाव समाप्त हों। दूसरे, समानता का यह भी अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए समान अवसर उपलब्ध हों। इसमें यह बात भी निहित है कि व्यक्ति के विकास में जो बाधाएं हैं उन्हें राज्य द्वारा दूर किया जाए।

अत: समानता राज्य द्वारा प्रदत्त एक ऐसा राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक वातावरण व व्यवस्था है जिसमें किसी व्यक्ति को बिना भेदभाव के विकास के समान अवसर प्राप्त होते हैं।

६.२.२ स्वतंत्रता के प्रकार :

1. प्राकृतिक समानता : प्राकृतिक समानता का अर्थ है कि प्रकृति ने सब व्यक्तियों को समान बनाया है। परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। प्रकृति ने किन्हीं दो व्यक्तियों को भी समान नहीं बनाया है। इस समानता का प्रयोग केवल इसी रूप में किया जा सकता है कि समाज द्वारा सब व्यक्तियों को समान समझा जाना चाहिए।

2. सामाजिक समानता : इसका अर्थ है कि समाज में व्यक्तियों से समान व्यवहार हो तथा सबको समान अधिकार मिलें। किसी भी व्यक्ति के साथ उसके जन्मस्थान, जाति, रंग, नस्ल तथा संपत्ति के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए।

3. राजनीतिक समानता : राजनीतिक समानता के द्वारा नागरिक को शासन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है। राजनीतिक समानता का अर्थ यह है कि सभी नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। सभी नागरिकों को निश्चित अवस्था प्राप्त करने पर मत देने, निर्वाचित होने, पद प्राप्त करने व सरकार के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार प्राप्त हो।

4. नागरिक समानता : नागरिक समानता को कई बार कानूनी समानता का नाम भी दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि कानून की दृष्टि में सब व्यक्ति समान होने चाहिए। किसी भी व्यक्ति के साथ उसके वंश, जाति, धर्म, रंग, जन्म स्थान अथवा लिंग के आधार पर कानून कोई भेदभाव नहीं बरतेगा और एक ही कानून का उल्लंघन करने पर सभी व्यक्तियों को चाहे उनका सामाजिक स्तर कुछ भी हो, समान दंड मिलेगा।

5. आर्थिक समानता : आर्थिक समानता से अभिप्राय है कि सभी नागरिकों को अनिवार्य रूप से रोटी, कपड़ा और आवास की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य मिलना चाहिए जिससे वह अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके। आर्थिक समानता में यह अर्थ भी निहित है कि व्यक्ति या व्यक्ति द्वारा आर्थिक शोषण न हो। इसके साथ ही आर्थिक असमानता राष्ट्र के लिए घातक है।

6. शिक्षा की समानता : लोकतंत्र में शिक्षा का बहुत अधिक महत्व है। लोकतंत्र की सफलता शिक्षित नागरिकों पर ही निर्भर करती है। शिक्षित नागरिक ही देश की शासन-व्यवस्था में भागीदार बन सकते हैं। इसलिए राज्य द्वारा सभी नागरिकों को एक निश्चित स्तर पर निशुल्क शिक्षा दी जानी चाहिए।

६.२.३ स्वतंत्रता तथा समानता में संबंध :

स्वतंत्रता की अवधारणा समानता की अवधारणा से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। व्यक्ति तभी स्वतंत्र कहा जाता है जब वह अपना कार्यक्षेत्र स्वयं निश्चित कर सके और यह सभी व्यक्तियों के समान होने पर ही संभव है। परन्तु लार्ड एक्टन ने कहा है, 'समानता की प्रबल इच्छा ने स्वतंत्रता की आशा को निष्प्रभावी कर दिया है।' इनका विचार है कि जब मनुष्यों में प्राकृतिक, मानसिक आदि असमानताएं पाई जाती हैं तो उनमें समानता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उनका यह विचार कि स्वतंत्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं, भ्रांतिपूर्ण हैं। यदि व्यक्ति को अनियंत्रित स्वतंत्रता प्राप्त होगी तो सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाएगी। एक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार धन उपार्जन करने की स्वतंत्रता हो तो वह अधिक से अधिक धन कमाने के लालच में अन्य व्यक्तियों का आर्थिक शोषण करेगा और इससे असमानता पैदा हो जाएगी।

स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों का अभाव न होकर, एक सकारात्मक विचार है : व्यक्ति के स्वतंत्रता से तात्पर्य है कि सभी व्यक्तियों को समान रूप से स्वतंत्रता प्राप्त हो। व्यक्ति को उतनी ही स्वतंत्रता प्राप्त होती है जितनी कि वह दूसरों को देने के लिए तैयार है। इस प्रकार स्वतंत्रता की विचारधारा समानता से जुड़ी हुई है। स्वतंत्रता समानता की अनिवार्य दशा है। स्वतंत्रता उसी स्थिति में संभव है जबकि उसका आधार समानता हो। इस प्रकार स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे की पूरक हैं। टोनी का कथन है कि समानता की प्रचुर मात्रा, स्वतंत्रता विरोधी नहीं, बल्कि उसके लिए अत्यंत आवश्यक है।

समानता के अभाव में स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाती है। जब तक सभी नागरिकों को राजनीतिक, नागरिक, कानूनी व सामाजिक तथा आर्थिक समानताएं प्राप्त नहीं होती, तब तक सभी नागरिक स्वतंत्रताओं का उपभोग नहीं कर सकते। लास्की ने कहा है कि जहां कुछ लोग शिक्षित तथा कुछ अशिक्षित, कुछ धनी तथा कुछ निर्धन होते हैं, वहां हम सदा ही स्वामी तथा दास का संबंध पाते हैं। एक और विद्वान ने कहा है कि भूख से मरते हुए व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता का क्या लाभ है? वह स्वतंत्रता को न तो खा सकता है और न ही पी सकता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता और समानता एक-दूसरे के पूरक हैं।

स्वतंत्रता व समानता के संबंधों की पूर्व शर्तें : स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे के पूरक हैं परंतु ये दोनों व्यवस्थाएं उसी स्थित में संभव हैं जबकि वहां कुछ पूर्व शर्तें हों :

1. राजनीतिक समानता की गारंटी लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में ही संभव है : यही एक ऐसी शासन प्रणाली है जहां नागरिकों को समान रूप से स्वतंत्रताएं प्रदान की जाती हैं।

2. नागरिक समानता स्वतंत्रता की अनिवार्य शर्त है : इसका अर्थ है कि सभी नागरिकों को कानून के समक्ष समान समझा जाए। नागरिक-नागरिक में किसी भी आधार पर जैसे - राष्ट्रीयता, जाति, लिंग, क्षेत्र आदि भेदभाव न किया जाए।

3. आर्थिक समानता : स्वतंत्रता की तीसरी शर्त आर्थिक समानता का होना है। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ लोगों की स्वतंत्रता का हनन हो, परन्तु आर्थिक समानता दूर करने के लिए यह अनिवार्य है। उदाहरण के लिए मजदूरों को पूंजीपतियों के शोषण से बचाने के लिए पूंजिपतियों पर नियंत्रण करना आवश्यक है।

६.२.४ राजनीतिक समातना और आर्थिक समानता में संबंध :

उदारवादी लोकतंत्रीय राज्यों में नागरिकों को विभिन्न प्रकार की समानताएं प्रदान की जाती हैं। राजनीतिक और आर्थिक समानता में घनिष्ठ संबंध और ये एक दूसरे की पूरक हैं। वास्तव में राजनीतिक समानता का आधार ही आर्थिक समानता है। जब तक राज्य में आर्थिक समानता स्थापित नहीं होती, तब तक नागरिक समानता का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को समान रूप से मतदान का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, पद प्राप्त करने का अधिकार तथा राजनीति में भाग लेने का अधिकार हो।

आर्थिक समानता से अर्थ यह है कि व्यक्ति भोजन, वस्त्र और रोजी की ही चिंता में न लगा रहता हो। आर्थिक दृष्टि से वह इस योग्य हो कि अन्य जरूरतें पूरी कर राज्य की राजनीति में सक्रिय भाग ले सके। दोनों के संबंध को निम्न वर्णन से स्पष्ट किया जा सकता है:

1. मत देने का अधिकार : यह राजनीतिक अधिकार है। लोकतंत्र में इस अधिकार का प्रयोग उस स्थिति में लाभदायक है जब यह अधिकार समान रूप से सभी नागरिकों को प्रदान किया जाए। इससे शासन में सभी लोगों की भागीदारी होती है। लेकिन कोई भी व्यक्ति निर्धन होने पर अपने मत का उचित प्रयोग नहीं कर सकता। इसलिए आर्थिक समानता एक आवश्यक शर्त है।

2. निर्वाचित होने का अधिकार : इस राजनीतिक अधिकार का प्रयोग वही नागरिक कर सकते हैं जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं। निर्धन तो चुनाव लड़ने की सोच भी नहीं सकता।

3. पद प्राप्त करना : यह राजनीतिक समानता एक निश्चित योग्यता के आधार पर ही मिल सकती है।

निर्धन व्यक्ति अपने बच्चों को उच्च स्तर पर शिक्षित नहीं कर सकता जिस कारण वे कोई उच्च पद प्राप्त नहीं कर सकते।

4. राजनीतिक दल : लोकतंत्र में राजनीतिक दल महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दलों में वे ही नागरिक भाग ले सकते हैं जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न हों। निर्धन न तो दल का सदस्य हो सकता है और न ही राजनीति में भाग ले सकता है।

कानूनी समानता और आर्थिक समानता में संबंध : कानूनी समानता का अर्थ है कि एक राज्य में रहने वाले सभी नागरिकों के लिए समान कानून हों। सभी नागरिकों के लिए एक ही प्रकार की न्याय व्यवस्था व एक ही प्रकार का कानून हो। कोई भी व्यक्ति उसी स्थिति में कानूनी समानता का उपभोग कर सकता है जब वह आर्थिक रूप से भी संपन्न हो। आर्थिक समानता के अभाव में कानूनी समानता महत्वहीन हो जाती है। इसलिए कानूनी समानता का आधार आर्थिक समानता है।

६.२.५ न्याय की अवधारणा :

न्याय की अवधारणा का विकास : न्याय की अवधारणा उतनी ही प्राचीन है जितना कि मानव समाज। इस अवधारणा का विकास पूर्वी तथा पश्चिमी राज्यों में मानव इतिहास के साथ ही शुरू हो गया था। इस काल में न्याय का आधार नैतिकता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य का आधार ही न्याय है। उनके अनुसार जो राज्य जनता को निष्पक्ष न्याय नहीं दे सकता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

प्लेटो का कथन है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य को पूरा करता है तो न्याय की स्थापना होती है।

अरस्तू के अनुसार न्याय दो प्रकार का हो सकता है :

1. समानांतर न्याय वह न्याय है जो सामाजिक जीवन को व्यस्थित करता है।
2. आनुपातिक न्याय वह न्याय है जो राजनीतिक जीवन को व्यवस्थित करता है।

इस प्रकार अरस्तू ने न्याय का आधार समानता माना है।

न्याय की अवधारणा लगातार बदलती रहती है। मध्य युग में ईसाई धर्म ने न्याय को सामाजिक गुण के रूप में देखा। वर्तमान युग में हॉब्स, लॉक, रूसो ने न्याय का संबंध विवेक से माना। बीसवीं सदी में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के साथ न्याय की अवधारणा भी व्यापक हो गई है। अब न्याय की अवधारणा में कानूनी, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व नैतिक पक्ष भी शामिल हैं।

६.२.६ न्याय का अर्थ और परिभाषा :

न्याय को अंग्रेजी में जस्टीस कहते हैं। यह शब्द लेटिन के शब्द जस से निकला है जिसका अर्थ है बंधन या बांधना। इस प्रकार न्याय शब्द का अर्थ उस सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें सभी मनुष्य आपसी संबंधों से जुड़े या बंधे हुए हैं। न्याय से अर्थ उस व्यवस्था से लिया जाता है जिसके द्वारा नागरिक के व्यक्तिगत अधिकारों को संरक्षण मिलता है।

न्याय की परिभाषाएं :

1. जे. एस. मिल के अनुसार, न्याय उन नैतिक नियमों का नाम है जो मानव-कल्याण की धारणाओं से संबंधित है और इसलिए जीवन के पथ-प्रदर्शन के लिए किसी भी अन्य नियम से महत्वपूर्ण है।

2. सालमंड का कथन है कि, 'न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को उसका भाग प्रदान करना।'

3. वैन तथा पीटर्स के अनुसार, न्यायपूर्वक कार्य करने का अर्थ यह है कि जब तक भेदभाव किए जाने का कोई उचित कारण न हो, तब तक सभी व्यक्तियों से एक सा व्यवहार किया जाए।

4. डी. डी. रफेल के अनुसार, न्याय व्यक्ति के अधिकारों के साथ-साथ समाज-व्यवस्था की रक्षा करता है।

अत: न्याय से तात्पर्य सामाजिक जीवन की उस स्थिति से है जिसमें व्यक्ति के आचरण तथा समाज कल्याण में योग्य समन्वय स्थापित किया जा सके।

न्याय के आधारभूत लक्षण अथवा तत्व :

न्याय की अवधारणा में कानूनी व्यवस्था, अधिकार, दायित्व, सदाचार, नैतिकता के भाव शामिल हैं। अर्नोल्ड ब्रेश्ट ने अपनी पुस्तक में न्याय के निम्न आधारभूत तत्वों का उल्लेख किया है :

1. सत्य : सत्य न्याय का एक महत्वपूर्ण तत्व है। सत्य के बिना न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सत्य से अभिप्राय है - किसी भी विषय के तथ्य को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना। न्यायपूर्ण प्रशासन का आधार तथ्यों की सत्यता है।

2. कानूनी समानता : इसका अर्थ है कानूनी आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में भेदभाव नहीं किया जा सकता। सभी व्यक्तियों को समान रूप से कानून का संरक्षण प्राप्त होगा। किसी भी व्यक्ति को कानूनी प्रक्रिया द्वारा ही दंड दिया जाएगा। समान अपराध के लिए समान दंड की व्यवस्था होगी।

3. मूल्यों की समरूपता : इसका अर्थ यह है कि न्याय की व्यवस्था मूल्यों के आधार पर होनी चाहिए। भले ही परिस्थितियों में परिवर्तन हो, परन्तु न्याय की धारणा एक ही रहनी चाहिए। इसे ही मूल्यों की एकरूपता कहा जाएगा।

4. प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान : न्याय का एक आधारभूत तत्व प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को वही कार्य दिया जाए जो उसकी शक्ति या सामर्थ्य के अनुसार हो। उदाहरण के लिए अपंग व्यक्तियों से शारीरिक काम लेना अन्यायपूर्ण है।

5. समानता तथा स्वतंत्रता : न्याय के आधारभूत तत्वों में समानता व स्वतंत्रता की अवधारणाएं निहित हैं। बिना स्वतंत्रता के न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए न्याय प्रदान करने के लिए स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का अनुचित प्रतिबंध लगाना न्याय भावना के विरुद्ध है।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि न्याय की स्थापना उसी स्थिति में हो सकती है जबकि उसमें ऊपर वर्णित तत्व पाए जाते हों।

६.२.७ न्याय के विभिन्न पक्ष या आयाम :

1. न्याय का कानूनी पक्ष या आयाम : न्याय का कानूनी पक्ष बहुत महत्वपूर्ण है। न्याय की अभिव्यक्ति कानून के माध्यम से होती है। राज्य में सत्ता का आधार कानूनी है। न्याय के कानूनी पक्ष में न्यायपूर्ण कानून का निर्माण और कानून के अनुरूप न्याय आवश्यक है। न्यायपूर्ण कानून निर्माण से अभिप्राय यह है कि राज्य द्वारा निर्मित कानून सामाजिक मान्यताओं और नैतिकता के सिद्धांतों पर आधारित हों। दूसरे, कानून के अनुरूप न्याय से अभिप्राय है कि कानून के समक्ष समानता की व्यवस्था की जाए। सभी को बिना किसी भेदभाव के कानून का

समान संरक्षण मिले।

2. न्याय का राजनीतिक पक्ष या आयाम : न्याय के राजनीतिक पक्ष का विकास पश्चिमी उदारवादी लोकतांत्रिक परंपरा के कारण हुआ। न्याय के राजनीतिक आयाम से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने राज्य के शासन में भागीदारी का अधिकार हो। चूंकि शासन का प्रभाव राज्य के सभी नागरिकों पर पड़ता है इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक अपने राज्य की शासन व्यवस्था में हाथ बंटाने का अधिकारी हो। संसार के सभी लोकतांत्रिक राज्यों में नागरिकों को निश्चित अवस्था प्राप्त करने पर मत देने का अधिकार दिया गया है। इस अधिकार के अनुसार ही नागरिकों को निर्वाचित होने और पद प्राप्त करने का भी अधिकार होता है। दूसरे, राजनीतिक न्याय का एक पक्ष यह भी है कि निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में राजनीतिक शक्ति का विकेंद्रीयकरण इस प्रकार से हो जिससे संपूर्ण समाज का हित हो।

3. न्याय का सामाजिक पक्ष : सामाजिक न्याय का अर्थ है कि मनुष्य का मनुष्य के द्वारा किसी भी प्रकार का शोषण नहीं होना चाहिए। यदि है तो उसकी समाप्ति होनी चाहिए। नागरिकों के मध्य सामाजिक आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए तथा उन्हें विकास के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। वर्तमान युग में सामाजिक स्वतंत्रता और समानता के साथ सामाजिक सुरक्षा पर भी बल दिया गया है। सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि राज्य कानूनी व्यवस्था के द्वारा पिछड़े हुए वर्गों को सामाजिक समानता दिलाने का प्रयास करे। यह व्यवस्था न्यायोचित है। सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्थाएं जैसे असहायों, वृद्धों, अपंगों आदि के लिए आर्थिक सहायता करना सामाजिक न्याय का एक महत्वपूर्ण अंग है।

4. न्याय का आर्थिक पक्ष : न्याय का आर्थिक पक्ष मुख्य रूप से समाजवादी आंदोलन का परिणाम है। यद्यपि आर्थिक न्याय के संबंध में प्राचीन काल से पूर्वी और पश्चिमी दार्शनिकों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। भारत में कौटिल्य ने और यूनान में अरस्तु ने इस तथ्य पर बल दिया है कि राज्य अपनी आर्थिक नीति इस प्रकार संचालित करे जिससे कि समाज के दुर्बल वर्ग के आर्थिक हितों की पूर्ति हो सके। वर्तमान समय में न्याय के आर्थिक पक्ष पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। आर्थिक न्याय की मांग है कि राजनीतिक न्याय के साथ-साथ आर्थिक न्याय की भी स्थापना हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक न्याय दिलाने के लिए राष्ट्र की संपत्ति व आय में सभी व्यक्ति समान रूप से भागीदार हों।

5. न्याय का नैतिक पक्ष : नैतिक न्याय की धारणा बहुत प्राचीन है। नैतिक न्याय से तात्पर्य है कि कुछ सर्वव्यापक प्राकृतिक नियम हैं जो व्यक्तियों के आपसी संबंधों को निश्चित करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था ऐसे समाजों में पाई जाती है जिसमें परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती है। आधुनिक युग में विशेष रूप से लोकतंत्रीय राज्यों में जो भी कानून निर्मित किए जाते हैं उनका आधार नैतिकता होता है।

कानूनी तथा नैतिक न्याय में संबंध : कानूनी और नैतिक न्याय में घनिष्ठ संबंध है। कानूनी न्याय का संबंध उन सिद्धांतों और कार्यविधियों से है जो किसी राज्य के कानून द्वारा निर्धारित होती हैं। कानूनी न्याय का संबंध कानूनों, रीति-रिवाजों, पूर्व निर्णयों तथा मानवीय अभिकरण द्वारा निर्मित कानूनों से होता है। दूसरी ओर नैतिक न्याय यह बतलाता है कि क्या ठीक है और क्या गलत। व्यक्ति के रूप में हमारे क्या अधिकार हैं और क्या कर्तव्य हैं। कानूनी न्याय इन अधिकारों और कर्तव्यों को सुरक्षा प्रदान करता है।

परंतु यह स्पष्ट होना चाहिए कि किसी न्यायालय में जो कुछ होता है वह नैतिक न्याय है। कोई कानून नैतिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण हो सकता है परन्तु कानूनी दृष्टि से वह उचित हो सकता है। इस प्रकार के कानून की नैतिक

दृष्टि से आलोचना की जा सकती है।

सामाजिक न्याय और आर्थिक न्याय जैसे प्रमुख विषयों का विस्ता से अध्ययन भी जरूरी है :

न्याय का स्वतंत्रता तथा समानता के साथ संबंध : न्याय, समानता व स्वतंत्रता में आपसी संबंध प्राचीन काल से विद्यमान रहा है। इतिहास में न्याय के लिए जितने भी संघर्ष हुए उनका आधार समानता या स्वतंत्रता ही रहा है। तानाशाही, शासन, आर्थिक शोषण, दास प्रथा, जातीय भेदभाव के लिए जितने भी संघर्ष हुए हैं वे न्याय के नाम पर किए गए हैं उनमें समानता या स्वतंत्रता का भाव निहित है। इसी कारण यह कहा जाता है कि न्याय में स्वतंत्रता और समानता दोनों ही निहित हैं। वर्तमान में स्वतंत्रता व समानता दोनों ही न्याय की अवधारणा में निहित हो गई हैं।

६.२.८ न्याय और स्वतंत्रता :

वर्तमान में लोकतांत्रिक राज्यों में नागरिकों को जो स्वतंत्रताएं प्राप्त हैं, वे अनेक आंदोलनों और क्रांतियों के बाद प्राप्त हुई हैं। जिस राज्य में नागरिकों को राजनीतिक, नागरिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त है उसे न्यायपूर्ण राज्य कहा जाता हे। इसके साथ ही प्रत्येक नागरिक का भी यह कर्तव्य है कि वह कोई ऐसा कार्य न करे जिससे दूसरे लोगों की स्वतंत्रताओं पर आघात हो। इसलिए कभी कभी समाज में न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्य नागरिकों की स्वतंत्रताओं को सीमित करता है।

वर्तमान लोकतंत्रीय राज्यों में कल्याणकारी राज्य की स्थापना का प्रयत्न हो रहा है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नागरिकों को सामाजिक तथा आर्थिक न्याय दिलाना बहुत आवश्यकता है। समाज में अल्पमत, शोषित और पिछड़े लोगों को भी आर्थिक व सामाजिक न्याय दिलाने के लिए कुछ लोगों की स्वतंत्रता को सीमित करना न्यायसंगत है।

६.२.९ न्याय और समानता :

अरस्तू ने तो न्याय को ही समानता कहा है। न्याय की समानता के संबंध में न्याय की यह मांग है कि प्रत्येक नागरिक और व्यक्ति को राजनीतिक, सामाजिक, कानूनी और आर्थिक समानता भी प्राप्त हो। लोकतंत्रीय राज्यों में नागरिकों को नागरिक और कानूनी समानताएं प्रदान की जाती हैं। न्याय की मांग है कि राजनीतिक और कानूनी समानताओं के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक समानताएं भी प्राप्त हों।

न्याय की मांग है कि समाज में किसी भी आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में भेदभाव न किया जाए, किसी प्रकार की ऊंच-नीच की भावना न हो तथा किसी भी व्यक्ति के विशेष अधिकार न हों। न्याय की ही मांग है कि आर्थिक समानता के रूप में सभी व्यक्तियों को मूल आवश्यकताओं, भोजन, वस्त्र, आवास तथा रोजगार आदि की सुविधाएं मिलनी चाहिएं।

ऊपर दिए गए वर्णन से स्पष्ट है कि न्याय की अवधारणा में स्वतंत्रता और समानता दोनों निहित हैं।

६.२.१० सामाजिक न्याय :

सामाजिक न्याय का अर्थ यह है कि नागरिकों के बीच सामाजिक दृष्टि से किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए और नागरिकों को उन्नति व विकास के समान अवसर प्राप्त हों। सामाजिक न्याय की अवधारण मूल रूप से इस बात पर आधारित है कि समाज में रहने वाले सभी व्यक्ति समान हैं और जाति, धर्म, रंग, वंश और लिंग के

आधार पर उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है।

सामाजिक न्याय की मुख्य विशेषताएं :

1. धर्म, जाति, रंग तथा लिंग के आधार पर सभी प्रकार के भेदभावों को समाप्त कर दिया जाए। समाज के किसी वर्ग विशेष को अन्य वर्गों के व्यक्तियों से अधिक सुविधाएं प्राप्त नहीं होनी चाहिए। सभी नागरिकों को समान अधिकार मिलने चाहिएं।

2. सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग के लिए नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिए। सार्वजनिक स्थान, जैसे पार्क, सड़कें, कुएं, तालाब और विद्यालयों आदि के प्रयोग के लिए किसी को मनाही नहीं होनी चाहिए।

3. व्यक्ति के जीवन के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इनमें रीति-रिवाज तथा लोगों का धार्मिक विश्वास आदि प्रमुख हैं।

भारत में सामाजिक न्याय प्रदान करने के उपाय : भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि सभी भारतीय नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय प्रदान करना संविधान का सर्वोच्च लक्ष्य है।

1. इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए नागरिकों को अनेक मौलिक अधिकार दिए गए हैं।

2. समानता के अधिकार के अधीन प्रत्येक व्यक्ति को कानून के सामने समानता प्रदान की गई है।

3. सरकारी नौकरी पाने के क्षेत्र में सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करने का वचन दिया गया है।

4. छुआछूत को समाप्त कर दिया गया है और इसका प्रयोग करने वाले व्यक्ति को राज्य द्वारा दंड दिया जा सकता है।

5. समाज में असमानता उत्पन्न करने वाली सभी उपाधियों का अंत कर दिया गया है।

6. इसके अतिरिक्त प्रत्येक नागरिक को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार देकर धार्मिक भेदभाव को समाप्त कर दिया गया है। धर्म को नागरिक का व्यक्तिगत मामला बनाकर राज्य को उसमें हस्तक्षेप करने की मनाही कर दी गई है।

7. शोषण के विरुद्ध अधिकार के द्वारा उच्च वर्ग के व्यक्तियों को पिछड़ी जाति के लोगों का तथा कम आयु के बच्चों का शोषण करने की मनाही कर दी गई है।

६.२.११ आर्थिक न्याय :

आर्थिक न्याय का अर्थ नागरिकों को धन प्राप्त करने तथा जीवन में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए इस धन का प्रयोग करने के समान अवसर प्रदान करना है। आर्थिक न्याय के महत्वपूर्ण तत्व इस प्रकार हैं :

1. न्यूनतम मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति : प्रत्येक व्यक्ति की कुछ न्यूनतम मौलिक आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति के बिना आर्थिक न्याय की कल्पना असंभव है। उनको पूरा करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को काम पाने का अधिकार प्रदान किया जाए तथा उन्हें काम की मात्रा और गुण के अनुसार वेतन भी मिले।

2. विशेष परिस्थितियों में राजकीय सहायता पाने का अधिकार : आधुनिक राज्य एक कल्याणकारी राज्य है और वह नागरिकों की आर्थिक उन्नति के लिए भी कार्य करता है। बुढ़ापा, बीमारी, बेकारी व अंग-भंग की

स्थिति में लोगों को राज्य द्वारा सहायता मिलनी चाहिए।

3. समान कार्य के लिए समान वेतन : स्त्री और पुरुष को समान कार्य के लिए समान वेतन मिलना चाहिए। स्त्रियों की मजबूरी और बालकों की सुकुमार अवस्था के अनुचित लाभ न उठाए जाएं।

4. संपत्ति के अधिकार पर सीमाएं : इंग्लैंड, भारत, अमेरिका व फ्रांस आदि देशों में लोगों को निजी व्यवसाय की स्वतंत्रता है, लेकिन इन सभी देशों में यह व्यवस्था की गई है कि राज्य सार्वजनिक हित के लिए निजी संपत्ति पर अधिकार कर सकता है। किसी को उसकी संपत्ति से वंचित किए जाने पर राज्य उसे उचित मुआवजा या कुछ राशि अवश्य देता है। साम्यवादी देशों के नागरिक बचत के द्वारा धन का संचय कर सकते हैं और रहने के लिए मकान व उपयोग की अन्य वस्तुएं जमा कर सकते हैं।

न्याय के संबंध में पूर्ण समानता संभव नहीं :

न्याय और समानता के संबंध में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि न्यायपूर्ण समाज में असमानताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। बार्कर ने कहा है कि समानता के सिद्धांत का अर्थ है कि अधिकारों के रूप में जो सुविधाएं मुझे प्राप्त हैं वे उसी रूप में दूसरों को भी प्राप्त होंगी और जो अधिकार दूसरों को दिए गए हैं, वे मुझे भी दिए जाएंगे। इससे स्पष्ट है कि समाज के व्यापक हित के पक्ष में राज्य इस प्रकार कानूनी व्यवस्था करे जिससे कमजोर और पिछड़े वर्गों के पक्ष में भेदभाव किया जा सके। राल्स के अनुसार यदि कानून दुर्बल वगों का पक्षपात करता है तो वह न्यायोचित है।

यदि राज्य कमजोर व दरिद्र वर्गों के हित में दूसरे वर्गों को अधिकारों से वंचित कर रहा है तो यह कमजोरों की उन्नति के लिए होगा। इसे संरक्षणकारी न्याय कहा जाता है।

न्याय के लिए दुर्बल वर्गों जैसे दलित वर्ग, पिछड़ा वर्ग, महिलाओं और बच्चों के पक्ष में कुछ विशेष सुविधाओं की व्यवस्था राज्य कानून द्वारा कर सकता है। इस प्रकार पूर्ण समानता को लागू करना संभव नहीं है। इस उद्देश्य कि सभी वर्गों को न्याय मिले, भारत में कानून द्वारा अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, महिलाओं व बच्चों को विशेष सुविधाएं दी गई हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि समानता का आधार न्यायपूर्ण हो तथा सभी वर्गों को विकास के समान अवसर प्राप्त हों, भले ही दुर्बल वर्ग को विशेष सुविधाएं देनी पड़ें। अत: स्पष्ट है कि न्याय के संबंध में पूर्ण समानता अर्थहीन है।

६.३ सारांश :

समानता का अर्थ एक ओर विशेषाधिकारों की समाप्ति और दूसरी ओर सभी को विकास के लिए उचित अवसरों की प्राप्ति है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, समाज से सब प्रकार के विशेषाधिकार, जन्म, लिंग, रंग, धर्म, राष्ट्रीयता, जाति, धन, शिक्षा आदि के आधार होने वाले भेदभाव समाप्त हों। दूसरे, समानता का यह भी अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए समान अवसर उपलब्ध हों। इसमें यह बात भी निहित है कि व्यक्ति के विकास में जो बाधाएं हैं उन्हें राज्य द्वारा दूर किया जाए। अत: समानता राज्य द्वारा प्रदत्त एक ऐसा राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक वातावरण व व्यवस्था है जिसमें किसी व्यक्ति को बिना भेदभाव के विकास के समान अवसर प्राप्त होते हैं।

स्वतंत्रता की अवधारणा समानता की अवधारणा से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। व्यक्ति तभी स्वतंत्र कहा जाता है जब वह अपना कार्यक्षेत्र स्वयं निश्चित कर सके और यह सभी व्यक्तियों के समान होने पर ही संभव है। परन्तु लार्ड एक्टन ने कहा है, 'समानता की प्रबल इच्छा ने स्वतंत्रता की आशा को निष्प्रभावी कर दिया है।' इनका विचार है कि जब मनुष्यों में प्राकृतिक, मानसिक आदि असमानताएं पाई जाती हैं तो उनमें समानता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उनका यह विचार कि स्वतंत्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं, भ्रांतिपूर्ण हैं। यदि व्यक्ति को अनियंत्रित स्वतंत्रता प्राप्त होगी तो सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाएगी। एक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार धन उपार्जन करने की स्वतंत्रता हो तो वह अधिक से अधिक धन कमाने के लालच में अन्य व्यक्तियों का आर्थिक शोषण करेगा और इससे असमानता पैदा हो जाएगी।

न्याय को अंग्रेजी में जस्टीस कहते हैं। यह शब्द लेटिन के शब्द जस से निकला है जिसका अर्थ है बंधन या बांधना। इस प्रकार न्याय शब्द का अर्थ उस सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें सभी मनुष्य आपसी संबंधों से जुड़े या बंधे हुए हैं। न्याय से अर्थ उस व्यवस्था से लिया जाता है जिसके द्वारा नागरिक के व्यक्तिगत अधिकारों को संरक्षण मिलता है।

सामाजिक न्याय का अर्थ यह है कि नागरिकों के बीच सामाजिक दृष्टि से किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए और नागरिकों को उन्नति व विकास के समान अवसर प्राप्त हों। सामाजिक न्याय की अवधारण मूल रूप से इस बात पर आधारित है कि समाज में रहने वाले सभी व्यक्ति समान हैं और जाति, धर्म, रंग, वंश और लिंग के आधार पर उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है।

आर्थिक न्याय का अर्थ नागरिकों को धन प्राप्त करने तथा जीवन में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए इस धन का प्रयोग करने के समान अवसर प्रदान करना है।

६.४ सूचक शब्द :

समानता का अर्थ : समानता का अर्थ एक ओर विशेषाधिकारों की समाप्ति और दूसरी ओर सभी को विकास के लिए उचित अवसरों की प्राप्ति है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली, समाज से सब प्रकार के विशेषाधिकार, जन्म, लिंग, रंग, धर्म, राष्ट्रीयता, जाति, धन, शिक्षा आदि के आधार होने वाले भेदभाव समाप्त हों। दूसरे, समानता का यह भी अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए समान अवसर उपलब्ध हों। इसमें यह बात भी निहित है कि व्यक्ति के विकास में जो बाधाएं हैं उन्हें राज्य द्वारा दूर किया जाए।

प्राकृतिक समानता : प्राकृतिक समानता का अर्थ है कि प्रकृति ने सब व्यक्तियों को समान बनाया है। परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। प्रकृति ने किन्हीं दो व्यक्तियों को भी समान नहीं बनाया है। इस समानता का प्रयोग केवल इसी रूप में किया जा सकता है कि समाज द्वारा सब व्यक्तियों को समान समझा जाना चाहिए।

सामाजिक समानता : इसका अर्थ है कि समाज में व्यक्तियों से समान व्यवहार हो तथा सबको समान अधिकार मिलें। किसी भी व्यक्ति के साथ उसके जन्मस्थान, जाति, रंग, नस्ल तथा संपत्ति के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए।

राजनीतिक समानता : राजनीतिक समानता के द्वारा नागरिक को शासन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है। राजनीतिक समानता का अर्थ यह है कि सभी नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। सभी नागरिकों को निश्चित अवस्था प्राप्त करने पर मत देने, निर्वाचित होने, पद प्राप्त करने व सरकार के कार्यों की

आलोचना करने का अधिकार प्राप्त हो।

नागरिक समानता : नागरिक समानता को कई बार कानूनी समानता का नाम भी दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि कानून की दृष्टि में सब व्यक्ति समान होने चाहिए। किसी भी व्यक्ति के साथ उसके वंश, जाति, धर्म, रंग, जन्म स्थान अथवा लिंग के आधार पर कानून कोई भेदभाव नहीं बरतेगा और एक ही कानून का उल्लंघन करने पर सभी व्यक्तियों को चाहे उनका सामाजिक स्तर कुछ भी हो, समान दंड मिलेगा।

आर्थिक समानता : आर्थिक समानता से अभिप्राय है कि सभी नागरिकों को अनिवार्य रूप से रोटी, कपड़ा और आवास की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य मिलना चाहिए जिससे वह अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके। आर्थिक समानता में यह अर्थ भी निहित है कि व्यक्ति या व्यक्ति द्वारा आर्थिक शोषण न हो। इसके साथ ही आर्थिक असमानता राष्ट्र के लिए घातक है।

शिक्षा की समानता : लोकतंत्र में शिक्षा का बहुत अधिक महत्व है। लोकतंत्र की सफलता शिक्षित नागरिकों पर ही निर्भर करती है। शिक्षित नागरिक ही देश की शासन-व्यवस्था में भागीदार बन सकते हैं। इसलिए राज्य द्वारा सभी नागरिकों को एक निश्चित स्तर पर निशुल्क शिक्षा दी जानी चाहिए।

न्याय : न्याय को अंग्रेजी में जस्टीस कहते हैं। यह शब्द लेटिन के शब्द जस से निकला है जिसका अर्थ है बंधन या बांधना। इस प्रकार न्याय शब्द का अर्थ उस सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें सभी मनुष्य आपसी संबंधों से जुड़े या बंधे हुए हैं। न्याय से अर्थ उस व्यवस्था से लिया जाता है जिसके द्वारा नागरिक के व्यक्तिगत अधिकारों को संरक्षण मिलता है।

न्याय का कानूनी पक्ष : न्याय का कानूनी पक्ष बहुत महत्वपूर्ण है। न्याय की अभिव्यक्ति कानून के माध्यम से होती है। राज्य में सत्ता का आधार कानूनी है। न्याय के कानूनी पक्ष में न्यायपूर्ण कानून का निर्माण और कानून के अनुरूप न्याय आवश्यक है।

न्याय का राजनीतिक पक्ष : न्याय के राजनीतिक पक्ष का विकास पश्चिमी उदारवादी लोकतांत्रिक परंपरा के कारण हुआ। न्याय के राजनीतिक आयाम से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने राज्य के शासन में भागीदारी का अधिकार हो। चूंकि शासन का प्रभाव राज्य के सभी नागरिकों पर पड़ता है इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक अपने राज्य की शासन व्यवस्था में हाथ बंटाने का अधिकारी हो।

न्याय का सामाजिक पक्ष : सामाजिक न्याय का अर्थ है कि मनुष्य का मनुष्य के द्वारा किसी भी प्रकार का शोषण नहीं होना चाहिए। यदि है तो उसकी समाप्ति होनी चाहिए। नागरिकों के मध्य सामाजिक आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए तथा उन्हें विकास के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। वर्तमान युग में सामाजिक स्वतंत्रता और समानता के साथ सामाजिक सुरक्षा पर भी बल दिया गया है।

न्याय का आर्थिक पक्ष : न्याय का आर्थिक पक्ष मुख्य रूप से समाजवादी आंदोलन का परिणाम है। यद्यपि आर्थिक न्याय के संबंध में प्राचीन काल से पूर्वी और पश्चिमी दार्शनिकों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। भारत में कौटिल्य ने और यूनान में अरस्तु ने इस तथ्य पर बल दिया है कि राज्य अपनी आर्थिक नीति इस प्रकार संचालित करे जिससे कि समाज के दुर्बल वर्ग के आर्थिक हितों की पूर्ति हो सके।

न्याय का नैतिक पक्ष : नैतिक न्याय की धारणा बहुत प्राचीन है। नैतिक न्याय से तात्पर्य है कि कुछ सर्वव्यापक प्राकृतिक नियम हैं जो व्यक्तियों के आपसी संबंधों को निश्चित करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था ऐसे समाजों में पाई जाती है जिसमें परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती है। आधुनिक युग में विशेष रूप से लोकतंत्रीय

राज्यों में जो भी कानून निर्मित किए जाते हैं उनका आधार नैतिकता होता है।

सामाजिक न्याय :

सामाजिक न्याय का अर्थ यह है कि नागरिकों के बीच सामाजिक दृष्टि से किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए और नागरिकों को उन्नति व विकास के समान अवसर प्राप्त हों। सामाजिक न्याय की अवधारण मूल रूप से इस बात पर आधारित है कि समाज में रहने वाले सभी व्यक्ति समान हैं और जाति, धर्म, रंग, वंश और लिंग के आधार पर उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है।

आर्थिक न्याय :

आर्थिक न्याय का अर्थ नागरिकों को धन प्राप्त करने तथा जीवन में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए इस धन का प्रयोग करने के समान अवसर प्रदान करना है।

६.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. समानता की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।
२.समानता के विभिन्न प्रकारों के बारे में चर्चा करें।
३.उदाहरण सहित स्वतंत्रता व समानता में संबंध बताएं।
४.राजनीतिक समानता व आर्थिक समानता में संबंधों की चर्चा करें।
५. अर्थ व परिभाषाओं के साथ न्याय की अवधारणा की चर्चा करें।
६. न्याय के प्रमुख आधारभूत लक्षण बताएं।
७. न्याय के विभिन्न आयामों पर विस्तार से टिप्पणी करें।
८. कानूनी तथा नैतिक न्याय में संबंध बताएं।
९. सामाजिक न्याय व आर्थिक न्याय के बारे में विस्तार से लिखें।

६.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

खंड– बी इकाई – दो अध्याय – सात

विशिष्ट या अभिजन वर्ग

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम राजनीतिक रूप से विशिष्ट या श्रेष्ठ वर्ग के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही विशिष्ट वर्ग का अर्थ, विशिष्ट वर्ग की विशेषताएं, विशिष्ट वर्गो के प्रकार व विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

७.० उद्देश्य
७.१ परिचय
७.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
७.२.१ विशिष्ट वर्ग का अर्थ
७.२.२ विशिष्ट वर्ग की विशेषताए
७.२.३ विशिष्ट वर्गो के प्रकार
७.२.४ विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत
७.३ सारांश
७.४ सूचक शब्द
७.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
७.६ संदर्भित पुस्तकें

७.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

- विशिष्ट वर्ग का अर्थ जानना
- विशिष्ट वर्ग की विशेषताओं से परिचित होना
- विशिष्ट वर्गो के प्रकारों से परिचित होना
- विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत जानना

७.१ परिचय :

विभिन्न राज्य व राष्ट्र अलग–अलग शासन प्रणालियां अपनाते हैं जैसे राजतंत्र, कुलीनतंत्र, अल्पतंत्र, प्रजातंत्र तथा सर्व सत्तावाद आदि। इन सभी में शासन करने वाले लोगों की संख्या बहुत कम होती है अर्थात एक ऐसा वर्ग होता है जो बाकी सभी पर अपना शासन चलाता है। इसी वर्ग को विशिष्ट या अभिजन वर्ग कहा जाता है। इसे राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग का ही दूसरा रूप भी माना जाता है। विचारकों के अनुसार राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग का अस्तित्व विश्वव्यापी सत्य है और कोई भी शासन प्रणाली इससे मुक्त नहीं हो सकती।

इस अध्याय में हम राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग, विशिष्ट या अभिजन वर्ग एवं विशिष्ट वर्ग के अर्थ, परिभाषाओं और सिद्धांतों के बारे में जानेंगे।

७.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

विशिष्ट वर्ग का अर्थ
विशिष्ट वर्ग की विशेषताए
विशिष्ट वर्गो के प्रकार
विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत

७.२.१ विशिष्ट या अभिजन वर्ग :

राजनीतिक विशिष्ट वर्ग या श्रेष्ठ वर्ग की अटलता – अरस्तु के समय से लेकर वर्तमान समय तक अनेक राजनीतिक वैज्ञानिकों ने सरकारों का वर्गीकरण करके शासन प्रणाली के अनेक रूप दशाए हैं। इनमें राजतंत्र, कुलीनतंत्र, अल्पतंत्र, प्रजातंत्र और सर्व–सत्तावाद आदि सम्मिलित हैं। किसी शासन प्रणाली में प्रभुसत्ता पैतृक सम्राट या साम्राज्ञी के पास होती है, किसी में यह कम सर्वोत्तम पुरुषों में वास करती है, किसी प्रणाली में प्रभुसत्ता को समूची जनता के पास और किसी भी सर्व–सत्तावादी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह में केंद्रित समझी जाती है। सैद्धांतिक पक्ष से प्रभुसत्ता के निवास संबंधी कोई भी शासन प्रणाली में शासन पर नियंत्रण बहुत कम व्यक्तियों का होता है। डी बी वरने का कथन है कि चाहे कोई अपनी राजनीतिक प्रणाली में कितना भी लोकतंत्रीय होने का प्रयत्न करे, परन्तु प्रत्येक संगठन में अल्पतंत्र का ठोस तत्व आवश्यक होता है। यह कहा जाता है कि जितना बड़ा संगठन होगा, उसमें अल्पतंत्र की उतनी ही अधिक प्रवृत्ति होगी। राजनीतिक वैज्ञानिक इस अल्पतंत्र के तत्व को ही राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग का ही दूसरा रूप मानते हैं।

ऐसा कोई भी समाज नहीं है जहां श्रेष्ठ वर्ग का अस्तित्व न हो। श्रेष्ठ वर्ग का अस्तित्व केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं है, अपितु सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी इस वर्ग का अस्तित्व पाया जाता है। इसी कारण सामाजिक श्रेष्ठ वर्ग, धार्मिक श्रेष्ठ वर्ग, आर्थिक श्रेष्ठ वर्ग आदि के नाम सुनते हैं। यहां यह भी वर्णन योग्य है कि श्रेष्ठ वर्ग का अस्तित्व न केवल विशाल संगठनों में ही है, अपितु इसका अस्तित्व प्रत्येक छोटे स्तर के संगठन या संस्था, समुदाय, क्लब, व्यापार संघ आदि में भी पाया जाता है और राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग आधुनिक राजनीतिक

संसार की एक ऐसी अटल सत्यता है जिससे स्वतंत्र होने का शासन प्रणाली का कोई रूप गर्व नहीं कर सकता।

राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग का अर्थ : प्रजातंत्र के संबंध में कहा जाता है कि यह लोगों के लिए लोगों के द्वारा सरकार है। परन्तु राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग की धारणा इसकी परिभाषा का खंडन करती है। श्रेष्ठ वर्ग का सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि मनुष्यों में प्राकृतिक तौर पर ही असमानता पाई जाती है। इसका मुख्य आधार यह है कि समाज में दो प्रकार के लोग रहते हैं – श्रेष्ठ वर्ग जिनके अंदर नेतृत्व करने की क्षमता होती है और दूसरी प्रकार के वह साधारण लोग हैं जिनके भाग्य में शासित बनना ही लिखा है। प्रत्येक समाज में बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो साधारण लोगों का नेतृत्व करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ही श्रेष्ठ वर्ग की संज्ञा दी जाती है।

राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग की परिभाषा में जी के रॉबर्ट्स ने लिखा है, सामाजिक समूहों में समाज की कुल जनसंख्या में ऐसे व्यक्तियों की थोड़ी सी संख्या होती है जो महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर सुशोभित होने के कारण, प्रभावशाली सामाजिक श्रेणियों के सदस्य होने के कारण, संयुक्त शैक्षणिक पृष्ठभूमि होने के कारण, आर्थिक या सामाजिक श्रेष्ठ समूहों के सदस्य होने के कारण, राजनीतिक निर्णयों पर प्रबल प्रभाव डालते हैं। व्यक्तियों की इस कम संख्या को ही राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग कहा जाता है।

यह देखने में आया है कि अच्छी पारिवारिक पृष्ठभूमि, अच्छी शिक्षा, शक्तिशाली वित्तीय स्थिति आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जो व्यक्ति को श्रेष्ठ वर्ग में सम्मिलित होने के योग्य बनाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। एसपी वर्मा का कहना है कि प्रत्येक समाज में वह अल्पसंख्या शासन करती है जिसमें सामाजिक और राजनीतिक शक्ति के उत्तराधिकारी बनने के गुण होते हैं। जो भी अंत में पहुंचते हैं वे सदैव सर्वोत्तम होते हैं, इन्हें ही श्रेष्ठ वर्ग कहा जाता है।

लासवैल के अनुसार राजनीतिक विशिष्ट वर्ग एक राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति रखने वालों का वर्ग होता है।

जी.डी.एच. कोल के अनुसार, विशिष्ट वर्ग वे समूह हैं जो समाज को हर नेतृत्व प्रदान करने तथा प्रभाव डालने की स्थिति में होते हैं।

परेटो के अनुसार, 'शासन विशिष्ट वर्ग व्यक्तियों का वह छोटा समूह है जिन्होंने सफलता प्राप्त कर ली है और जो राजनीतिक और सामाजिक पक्ष से शासन के कार्यों का संचालन करते हैं।'

संक्षेप में राजनीतिक विशिष्ट वर्ग में वे थोड़े से व्यक्ति सम्मिलित किए जाते हैं जो राजनीतिक प्रक्रिया के भिन्न-भिन्न स्तरों पर राजनीतिक निर्णय लेने की क्रिया को प्रमुख रूप से प्रभावित करते हैं।

७.२.२ राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग की विशेषताएं :

1. राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग की धारणा मनुष्यों के प्राकृतिक असमानता के सिद्धांत पर आधारित है : प्रकृति ने सब मनुष्यों को एक जैसी मनोवृत्तियां, शारीरिक तत्व, मानसिक योग्यताएं आदि नहीं दी हैं। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि मनुष्यों में परस्पर प्राकृतिक असमानता पाई जाती है। मनुष्यों की यह प्राकृतिक असमानता ही राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग की धारणा का मूल आधार है। यह धारणा इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग होते हैं – पहला वह जिसके लोगों में शासन या नेतृत्व की योग्यता होती है और दूसरा वह जिसके लोगों में नेतृत्व क्षमता नहीं होती। यदि मनुष्य प्राकृतिक तौर पर असमान न हो तो भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों और योग्यताओं का होना संभव नहीं हो सकता था।

2. राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग में समस्त जनसंख्या की बहुत कम संख्या होती है : राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग का यह एक महत्वपूर्ण लक्षण है कि इसमें समस्त जनसंख्या की बहुत कम संख्या सम्मिलित होती है। सभी लोगों में राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग की भूमिका अभिनीत करने की योग्यता नहीं होती। ऐसी योग्यता केवल थोड़े से व्यक्तियों के पास होती है। इन थोड़े से व्यक्तियों को ही प्रकृति की ओर से कुछ असाधारण योग्यता का वरदान प्राप्त होता है जिसके आधार पर वे शासन व नेतृत्व के योग्य होते हैं। राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग समस्त जनसंख्या की कम संख्या के कारण ही मोरिस डियू वरजन ने कहा है कि यह कहना उचित नहीं है कि प्रजातंत्र लोगों की और लोगों के द्वारा सरकार होती है। इसकी अपेक्षा यह कहना उचित होगा कि प्रजातंत्र लोगों की और लोगों में से विकसित हुए श्रेष्ठ वर्ग की सरकार होती है।

3. राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग न तो अल्पतंत्र और न ही कुलीनतंत्र : राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग के लोगों की संख्या बहुत कम होती है। अल्पतंत्र को भी थोड़े से व्यक्तियों की सरकार कहा जाता है और कुलीनतंत्र भी बहुत कम श्रेष्ठ व्यक्तियों की सरकार होती है। ऐसे तथ्यों के बावजूद राजनीतिक वैज्ञानिकों को विचार है कि कुलीनतंत्र की भांति इसमें शासकों की संख्या कम होती है, परन्तु इसमें न तो अल्पतंत्र का स्वार्थपन और अपने आपको स्थायी बनाने की भावना होती है और न ही इसमें कुलीनतंत्र की ठाठ-बाठ और दबदबा होता है।

4. राजनीतिक विशिष्ट वर्ग का विशेष महत्व : सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में विशिष्ट वर्ग को विशेष महत्व प्राप्त होता है। विशिष्ट वर्ग देश की राजनीतिक दिशा निश्चित करता है और यह भी निर्णय करता है कि किन साधनों को अपनाकर इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

5. विशिष्ट हित : विशिष्ट वर्ग की भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताएं आम जनता की आवश्यकताओं से अधिक होती हैं, जो उनके विशिष्ट हितों को जन्म देती हैं। यद्यपि विशिष्ट वर्ग और आम जनता के हितों में अंतर होता है, परन्तु इनके हितों में ऐसा कोई अंतर नहीं होना चाहिए जिसे बांटा न जा सके।

6. राजनीति राजनीतिक विशिष्ट वर्गों तक सीमित होती है : शासक का प्रबंधन करना कुछेक योग्य नेताओं का काम होता है। विशिष्ट वर्गीय सिद्धांत का सारांश ही यह है कि शासन का वास्तविक केंद्र राजनीतिक विशिष्ट वर्ग होता है प्रजातंत्र में विशिष्ट वर्ग के अलावा विपक्षी विशिष्ट वर्ग ही होते हैं। राजनीतिक खेल इन विशिष्ट वर्गों द्वारा ही खेला जाता है। इसमें सामान्य लोग प्रत्यक्ष रूप से सहभागी नहीं होते।

7. राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग स्थायी नहीं होता : किसी भी शासन प्रणाली में राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग सदा के लिए स्थिर नहीं रह सकता। समय की गति के साथ-साथ नई सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं। ऐसी परिस्थितियों का विकास राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग के स्वरूप पर निरंतर प्रभाव डालता है। समाज में शक्ति प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न दलों में राजनीतिक संघर्ष चलता रहता है। शासक दल के प्रबल नेता को राजनीतिक श्रेष्ठ की संज्ञा दी जाती है, यदि यह विरोधी श्रेष्ठ वर्ग का रूप धारण कर लेता है।

७.२.३ राजनीतिक विशिष्ट वर्गों के प्रकार :

राजनीतिक विशिष्ट वर्गों का वर्गीकरण प्राय: तीन रूपों में किया जाता है :

1. परंपरागत विशिष्ट वर्ग : परंपरागत विशिष्ट वर्ग वह है जो परंपराओं तथा परंपरागत मूल्यों के आधार पर शक्ति, सत्ता तथा प्रभाव का प्रयोग करते हैं। परंपरागत विशिष्ट वर्ग की शक्ति के महत्वपूर्ण स्रोत जमीन, जायदाद तथा पारिवारिक स्तर होते हैं। रियासतों के राजकुमार, नवाब, जमींदार तथा धार्मिक नेता विशिष्ट नेता के

उदाहरण हैं।

2. शिष्टजन या कुलीन विशिष्ट वर्ग : ये उन समाजों में पाए जाते हैं जिनमें पहले राजतंत्रीय व्यवस्था थी, लेकिन अब रातंत्रीय व्यवस्था को बदलकर लोकतंत्रीय व्यवस्था की स्थापना कर दी गई है। इन लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं में पुराने शाही परिवारों के सदस्य आज भी राजनीतिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इंग्लैंड में लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था पाई जाती है, परन्तु वहां आज भी शाही परिवार के अतिरिक्त लार्ड सदन विद्यमान है और लार्ड सदन कुलीन विशिष्ट वर्ग का सर्वोत्तम उदाहरण है। भारत में वीपी सिंह, राव वीरेंद्र सिंह, अमरेंद्र सिंह आदि भी कुलीन विशिष्ट वर्ग के उदाहरण हैं।

3. नया विशिष्ट वर्ग : आधुनिक राजनीतिक विशिष्ट वर्ग औद्योगिक क्रांति की उत्पति है जो आधुनिकीकरण तथा विकास की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। औद्योगिक क्रांति के विकास के साथ-साथ बड़े-बड़े औद्योगिक तथा व्यापारिक समूहों की स्थापना हो गई है तथा इनके मालिकों ने, अत्यधिक धन होने के कारण, विशिष्ट वर्ग के रूप में कार्य करना आरंभ कर दिया है। ये लोग राजनीतिक गतिविधियों को काफी अधिक प्रभावित करते हैं।

वर्तमान युग में अनेक नए विशिष्ट वर्गों का जन्म हुआ है। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, वैज्ञानिक, प्रोफेसर आदि बुद्धिजीवियों के नए विशिष्ट वर्ग उभरे हैं और ये प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में प्रभावशाली व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

७.२.४ विशिष्ट वर्ग या अभिजन वर्ग के सिद्धांत :

विशिष्ट या अभिजन शब्द का प्रयोग ऑक्सफोर्ड इंग्लिश शब्दकोष में 1823 में किया गया। परन्तु विशिष्ट वर्ग सिद्धांत की स्थापना 19वीं शताब्दी के अंत और 2वीं शताब्दी के प्रारंभ में इटली के दो प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों विल्फ्रेडो पैरेटो और गीटानो मोस्का के अनुदानों के परिणामस्वरूप हुई। इनके अतिरिक्त माइकल्स, बर्नहाम और राइट मिल्ज आदि विद्वानों ने भी विशिष्ट वर्ग की धारणा के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। विचारों में मतभेद के बावजूद ये सभी इस बात पर सहमत हैं कि प्रत्येक समाज में वास्तव में शक्ति थोड़े से विशेष या विख्यात व्यक्तियों के हाथ में होती है।

विल्फ्रेडो पैरेटो का विशिष्ट वर्ग सिद्धांत (1848-1923) : पैरेटो का सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि मानव अपनी मूल योग्यताओं या क्षमताओं में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं और ये विशेषता समाज में असमानता को अनिवार्य बना देती है। पैरेटो के अनुसार प्रत्येक समाज में एक अल्पसंख्यक समूह होता है जो प्रभावशाली ढंग से शासन करता है तथा शक्ति और प्रभाव का प्रयोग करता है। ऐसे लोगों में कुछ असाधारण योग्यताएं व विशेषताएं होती हैं जिनके कारण वे शासन पर अपना नियंत्रण रखने में सफल होते हैं। अभिजन या विशिष्ट वर्ग प्रत्येक व्यवसाय में पाए जाते हैं। सामाजिक विशिष्ट वर्गों में सफल व्यापारी, कलाकार, वकील, डॉक्टर, प्रोफेसर, अभियंता आदि होते हैं। प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग में वे कुछ व्यक्ति होते हैं जो सफल होते हैं और जो राजनीतिक व सामाजिक रूप में कार्य करते हैं।

पैरेटो ने समाज को दो भागों में बांटा है - निम्न वर्ग तथा उच्च वर्ग। निम्न वर्ग में आम जनता या गैर विशिष्ट वर्ग को शामिल किया जाता है। ऊपरी परत या वर्ग में विशिष्ट वर्ग को शामिल किया जाता है। पैरेटो ने ऊपरी परत को दो भागों में बांटा है - शासकीय विशिष्ट वर्ग और गैर शासकीय वर्ग। शासकीय विशिष्ट वर्ग के पास शक्ति

होती है और गैर शासकीय वर्ग सभी योग्य तथा सफल व्यक्तियों का समूह होता है। शासकीय विशिष्ट वर्ग आम जनता पर शासन करने के लिए तथा अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए बल का प्रयोग तथा जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रचार दोनों का प्रयोग करते हैं।

पैरेटो के अनुसार प्रत्येक समाज में पुराने विशिष्ट वर्ग अपना स्थान नए विशिष्ट वर्गों को दे देते हैं। विशिष्ट वर्ग परिवर्तनशील होते हैं। इसके परिणामस्वरूप उन वर्गों में, जिनके हाथों में सत्ता होती है, पतनशील तत्वों की संख्या बढ़ती रहती है और दूसरी ओर शासित वर्गों में ऊंचे गुणों से संपन्न तत्व उभरते हैं। इस प्रकार समाज में प्रत्येक विशिष्ट वर्ग का अंत होता है। व्यक्ति के मूल्यों में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहता है और इसी कारण विशिष्ट वर्ग में बदलाव आता रहता है।

पैरेटो ने विभिन्न वर्गों में विभिन्न प्रकारों के प्रचलन की व्याख्या की है :

1. शासकीय विशिष्ट वर्गों के ही विभिन्न वर्गों में परिचालन

2. विशिष्ट वर्ग तथा जनसंख्या में परिचलन। दूसरी प्रकार में ऐसा हो सकता है कि निम्न वर्ग के व्यक्तियों का वर्तमान विशिष्ट वर्ग में प्रवेश या निम्न वर्ग के व्यक्तियों द्वारा नए विशिष्ट वर्ग का निर्माण तथा वर्तमान विशिष्ट वर्ग के साथ शक्ति के लिए संघर्ष में जुट जाना।

पैरेटो के अनुसार समय और परिस्थितियों के अुनसार समाज और व्यक्तियों के मूल्यों में परिवर्तन होते रहते हैं और जीवन मूल्य परिवर्तन होने के साथ विशिष्ट वर्ग में भी परिवर्तन होता रहता है।

गेटेना मोस्का (1858-1941) का विशिष्ट वर्ग सिद्धांत : मोस्का ने पैरेटो की तरह विशिष्ट वर्ग तथा विशिष्ट वर्ग के परिचलन या प्रवाह का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। मोस्का ने अपने सिद्धांत के आरंभ में अरस्तु के सरकारों के वर्गीकरण – राजतंत्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्र को अस्वीकार करते हुए कहा है कि केवल एक प्रकार की सरकार विश्व में कार्यशील है और वह है अल्पतंत्र।

मोस्का ने लिखा है, कम विकसित समाज से लेकर पूर्ण विकसित समाज तक दो वर्ग उपभरते हैं – एक वर्ग जो शासन करता है और दूसरा जो शासित होता है। जितना बड़ा राजनीतिक समुदाय होगा, शासकीय अल्पसंख्यकों का अनुपात उतना ही कम होगा और बहुसंख्यकों के लिए शासित होना अधिक कठिन होगा, बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों के विरोध में प्रतिक्रिया करने के लिए संगठित होना उतना ही कठिन होगा। मोस्का के अनुसार शासित वर्ग श्रेष्ठ, संगठित तथा अपने गुणों के कारण समाज द्वारा सम्मानित होता है। उसने अपने शासक वर्ग को शासक अभिजन या राजनीतिक विशिष्ट वर्ग कहा है।

पैरेटो की तरह मोस्का ने भी कहा है कि विशिष्ट वर्ग एक स्थिर बंद समूह नहीं होता है। उसने शासक वर्ग में दो विशेषताएं बताई हैं – शासन करने की क्षमता और नियंत्रण रखने की क्षमता। जब शासक वर्ग में शासन करने की क्षमता नहीं रहती और शासक वर्ग की शासन करने में रुचि कम हो जाती है और शासक वर्ग के बाहर के लोग बड़ी संख्या में इन क्षमताओं का विकास कर लेते हैं तो पुराने शासक वर्ग को हटाकर उसके स्थान पर नए शासक वर्ग की स्थापना कर दी जाती है। मोस्का का ये विश्वास है कि यदि शासक वर्ग नागरिकों को आवश्यक सुविधाएं प्रदान नहीं करता अथवा जो सेवाएं वह प्रदान करता है, वे मूल्यवान नहीं रहती या समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन आता है तो शासकों में परिवर्तन आना स्वाभाविक है।

मोस्का ने लिखा है कि अल्पसंख्यक वर्ग संगठित होता है जबकि बहुसंख्यक वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति उसके सामने अकेला होता है, इसी कारण अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग पर शासन करने में सफल हो जाता है। इसके

अलावा अल्पसंख्यक वर्ग में प्राय: श्रेष्ठ व्यक्तियों की बहुलता होती है। मोस्का के अनुसार राजनीतिक दलों में भी दो वर्ग होते हैं। इनमें अभिजनों को उच्च स्थान प्राप्त होते हैं और वही दल के नेता कहलाते हैं। अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए अल्पसंख्यक वर्ग जिन तरीकों का प्रयोग करता है मोस्का ने उन्हें राजनीतिक नुस्खा का नाम दिया है।

शासक वर्ग में वैधता के संबंध में भी मोस्का ने दो प्रकार की प्रवृत्तियों का वर्णन किया है – कुलीनतंत्रीय तथा लोकतंत्रीय। जब शासक वर्ग में नए लोगों की भर्ती शासकीय वर्ग के परिवारों से की जाती है तो यह कुलीनतंत्रीय कहलाती है।

रॉबर्ट मिचल्स का विशिष्ट वर्ग सिद्धांत (1876-1936) : रॉबर्ट मिचल्स जर्मनी का विद्वान था जिसने मोस्का की ही मूलभूत मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों का वर्णन किया है। परन्तु रॉबर्ट मिचल्स ने विशिष्ट वर्ग की अवधारणा का अध्ययन अधिक वैज्ञानिक ढंग से किया है। उसने पहली बार सभी सामाजिक संगठनों के संबंध में एक परिकल्पनात्मक कानून की स्थापना की जिसे राजनीति शास्त्री अल्पतंत्र का लौह नियम कहते हैं।

रॉबर्ट मिचल्स के लौह नियम के सिद्धांत के आधार पर अनेक राजनीतिक दलों, सामाजिक संगठनों का विश्लेषण किया है और ये सिद्ध करने का प्रयास किया है कि राजनीतिक दलों पर अल्पतंत्र का लौह नियम लागू होता है अर्थात प्रत्येक राजनीतिक दल पर कुछ लोगों का नियंत्रण होता है। मिचल्स के अनुसार प्रत्येक लोकतंत्र में दल का शासन होता है और दल के संगठन पर कुछ नेताओं का नियंत्रण होता है। ये दल देखने में तो लोकतांत्रित लगता है, परन्तु वास्तव में ऐसी विशाल नौकरशाही की तरह है जिसमें कुछ अधिकारी लोक शासन करते हैं। मिचल्स की दृष्टि में यह ऐसा संगठन है जो निर्वाचितों को निर्वाचकों पर, अधिदेशकों को अधिदेश देने वालों पर तथा शक्ति प्राप्त करने वालों पर शासक को जन्म देता है। कौन कहता है संगठन कहलाता है, अल्पतंत्र। मिचल्स ने इस तथ्य को अल्पतंत्र का लौह का नियम कहा है। मिचल्स के अनुसार जो भी संगठन स्वयं को लोकतांत्रिक कहते हैं उनमें लोकतंत्र न होकर थोड़े-से लोगों का शासन होता है। इस अल्पतंत्र के तीन आधार हैं – मानव स्वभाव, राजनीतिक संगठन की प्रकृति और संघर्ष की प्रकृति।

विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत तथा अल्पतंत्र के लौह नियम सिद्धांत में मुख्य अंतर इस बात का है कि विशिष्ट वर्ग को समाज की मौन या अप्रत्यक्ष स्वीकृति प्राप्त होती है क्योंकि जनता में ये धारणा बन जाती है कि अमुक व्यक्ति योग्य है तथा उसके निर्णय सही होते हैं। दूसरी ओर अल्पतंत्र का लौह नियम सिद्धांत जनता की स्वीकृति का परिणाम न होकर उनकी उदासीनता तथा असफलता का परिणाम है। अल्पतंत्र के शासकों का जन्म इसलिए होता है क्योंकि जनता अपनी बात को शासकों के सामने दृढ़तापूर्वक नहीं रख सकती और न ही शासकों के निर्णयों को चुनौती देने की क्षमता होती। मिचल्स का ये अटल विश्वास है कि सभी समाजों में वास्तव में अल्पसंख्यकों का जनता पर शासन पाया जाता है।

विशिष्ट वर्ग के विभिन्न सिद्धांतों की समान विशेषताएं :

1. सभी सिद्धांत मानते हैं कि समाज में दो वर्ग होते हैं – विशिष्ट वर्ग तथा आम जनता।

2. प्रत्येक समाज के शासन की सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होती है और इन्हें विशिष्ट वर्ग कहा जाता है।

3. शासकीय विशिष्ट वर्ग के सदस्य प्रमुख पदों पर आसीन होते हैं और निर्णय लेने वाले तंत्र पर नियंत्रण रखते हैं।

4. विशिष्ट वर्ग सिद्धांत पूर्ण समानता को नहीं मानता।

5. प्रत्येक वर्ग में विशिष्ट वर्ग परिवर्तित होते रहते हैं।

6. लोकतंत्र वास्तव में अपने अंतिम रूप में अल्पतंत्रीय ही होता है। लोकतंत्रीय व्यवस्था में थोड़े से व्यक्तियों का शासन होता है।

7. शासकीय विशिष्ट वर्ग की जनता के प्रति उत्तरदायी होना केवल एक मिथ्या है क्योंकि योग्य तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों को अज्ञानियों के प्रति उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

8. विशिष्ट वर्ग सिद्धांत लोकतंत्रीय व्यवस्था में जनमत को बहुत अधिक महत्व देता है, परन्तु यह सिद्धांत जनमत को विशिष्ट वर्ग की ही एक रचना मानता है।

9. यह मानता है कि लोगों की प्रभुसत्ता लोगों की इच्छा, लोगों द्वारा सरकार तथा ऐसे अन्य शीर्षकों को विशिष्ट वर्ग इसलिए निर्मित तथा अपनाता है कि जनता पर अपने शासन की वैधता स्थापित कर सके।

1. विशिष्ट वर्ग का शासन स्वाभाविक है तथा कोई भी राजनीतिक व्यवस्था चाहे वह लोकतांत्रिक हो या समाजवादी, बिना विशिष्ट वर्ग के सफल नहीं हो सकती।

11. चुनाव विशिष्ट वर्ग को सामने लागने का एक साधन है।

विशिष्ट वर्ग सिद्धांत की कमियां :

1. यह सिद्धांत असमानता को समाज का आधार मानता है। सभी व्यक्तियों को समान न मानना मूल रूप से गलत है।

2. समाज का विशिष्ट तथा आम वर्ग में विभाजन उचित नहीं है क्योंकि समाज में अनेक वर्ग होते हैं।

3. यह सिद्धांत प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष तौर पर सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्थाओं का समर्थन करती है। नाजीवादियों और फासीवादियों ने अपनी तानाशाही स्थापित करने के लिए इस सिद्धांत का सहारा लिया।

4. ये सिद्धांत राजनीतिक प्रक्रिया में सामूहिक प्रक्रिया में सामूहिक राजनीतिक भागीदारी के समकालीन आदर्श का निश्चित रूप से विरोध करता है।

5. इस सिद्धांत ने इस बात पर तो जोर दिया है कि लोकतंत्र की व्यवस्था में अल्पसंख्यकों का शासन होता है, लेकिन यह नहीं बतलाया कि लोकतंत्र व्यवस्था को सही मायनों में जनता का शासन कैसे बनाया जा सकता है।

6. इसका यह मानना ठीक नहीं कि लोकतंत्र का उद्देश्य जनता का कल्याण करना नहीं है।

7. ये सिद्धांत लोकतंत्र के विचारधारात्मक पहलुओं के स्थान पर संस्थागत पहलू पर आधारित है।

8. यह लोकतंत्रीय व्यवस्था में लोगों के महत्व, लोकतांत्रिक व्यवस्था के महत्व तथा एक राज्य की सरकार के कानूनों, नीतियों, योजनाओं तथा निर्णयों के निर्माण में जनता द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका को कोई महत्व नहीं देता जबकि ये अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

9. विशिष्ट वर्ग सिद्धांत लोगों की सामाजिक, राजनीतिक तथा कानूनी समानता को नहीं मानता जो कि गलत है।

इस सिद्धांत में अनेक दोष पाए गए हैं, लेकिन हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते ये सिद्धांत राजनीतिक व्यवस्थाओं की वास्तविक कार्यशीलता तथा एक राजनीतिक व्यवस्था में नेताओं के वास्तविक व्यवहार के विश्लेषण पर ध्यान केंद्रित करता है। विशिष्ट वर्ग सिद्धांत की इस बात में सच्चाई है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था

में शक्ति का प्रयोग वास्तव में व्यक्तियों के एक छोटे समूह द्वारा किया जाता है परन्तु इस सिद्धांत की इस बात को स्वीकार करना संभव नहीं है कि शासन करने वाले व्यक्तियों का समूह अवश्य ही समाज में सर्वश्रेष्ठ तथा बुद्धिमान है। समाज में ऐसे श्रेष्ठ तथा उत्तम व्यक्तियों की कमी नहीं है जो राजनीति व शक्ति से दूर रहना पसंद करते हैं। एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में विशिष्ट वर्ग का अस्तित्व बहुत सी आदर्श स्थितियों पर निर्भर करता है।

७.३ सारांश :

श्रेष्ठ वर्ग का अस्तित्व केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं है, अपितु सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी इस वर्ग का अस्तित्व पाया जाता है। इसी कारण सामाजिक श्रेष्ठ वर्ग, धार्मिक श्रेष्ठ वर्ग, आर्थिक श्रेष्ठ वर्ग आदि के नाम सुनते हैं। यहां यह भी वर्णन योग्य है कि श्रेष्ठ वर्ग का अस्तित्व न केवल विशाल संगठनों में ही है, अपितु इसका अस्तित्व प्रत्येक छोटे स्तर के संगठन या संस्था, समुदाय, क्लब, व्यापार संघ आदि में भी पाया जाता है और राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग आधुनिक राजनीतिक संसार की एक ऐसी अटल सत्यता है जिससे स्वतंत्र होने का शासन प्रणाली का कोई रूप गर्व नहीं कर सकता।

७.४ सूचक शब्द :

राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग का अर्थ : प्रजातंत्र के संबंध में कहा जाता है कि यह लोगों के लिए लोगों के द्वारा सरकार है। परन्तु राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग की धारणा इसकी परिभाषा का खंडन करती है। श्रेष्ठ वर्ग का सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि मनुष्यों में प्राकृतिक तौर पर ही असमानता पाई जाती है। इसका मुख्य आधार यह है कि समाज में दो प्रकार के लोग रहते हैं – श्रेष्ठ वर्ग जिनके अंदर नेतृत्व करने की क्षमता होती है और दूसरी प्रकार के वह साधारण लोग हैं जिनके भाग्य में शासित बनना ही लिखा है। प्रत्येक समाज में बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो साधारण लोगों का नेतृत्व करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को ही श्रेष्ठ वर्ग की संज्ञा दी जाती है।

राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग व प्राकृतिक असमानता : प्रकृति ने सब मनुष्यों को एक जैसी मनोवृत्तियां, शारीरिक तत्व, मानसिक योग्यताएं आदि नहीं दी हैं। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि मनुष्यों में परस्पर प्राकृतिक असमानता पाई जाती है। मनुष्यों की यह प्राकृतिक असमानता ही राजनीतिक श्रेष्ठ वर्ग की धारणा का मूल आधार है। यह धारणा इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग होते हैं – पहला वह जिसके लोगों में शासन या नेतृत्व की योग्यता होती है और दूसरा वह जिसके लोगों में नेतृत्व क्षमता नहीं होती। यदि मनुष्य प्राकृतिक तौर पर असमान न हो तो भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों और योग्यताओं का होना संभव नहीं हो सकता था।

७.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. विशिष्ट वर्ग की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।
२. विशिष्ट वर्ग की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
३. विशिष्ट वर्ग के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करें।
४. विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत की चर्चा करें।

७.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

राजनीतिक सहभागिता

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम राजनीतिक सहभागिता की अवधारणा के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही राजनीतिक सहभागिता के प्रकार, राजनीतिक सहभागिता के आधार पर नागरिकों का वर्गीकरण, राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने वाले तत्व, राजनीतिक सहभागिता का महत्व, राजनीतिक सहभागिता के साधन आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

८.० उद्देश्य
८.१ परिचय
८.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
८.२.१ राजनीतिक सहभागिता की अवधारणा
८.२.२ राजनीतिक सहभागिता के प्रकार
८.२.३ राजनीतिक सहभागिता के आधार पर नागरिकों का वर्गीकरण
८.२.४ राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने वाले तत्व
८.२.५ राजनीतिक सहभागिता का महत्व
८.२.६ राजनीतिक सहभागिता के साधन
८.३ सारांश
८.४ सूचक शब्द
८.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
८.६ संदर्भित पुस्तकें

८.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

राजनीतिक सहभागिता की अवधारणा के बारे में जानना

राजनीतिक सहभागिता के प्रकारों से परिचित होना
राजनीतिक सहभागिता के आधार पर नागरिकों के वर्गीकरण की जानकारी लेना
राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने वाले तत्वों के बारे में जानना
राजनीतिक सहभागिता का महत्व जानना
राजनीतिक सहभागिता के साधनों से परिचित होना

८.१ परिचय :

राजनीतिक सहभागिता से आशय है कि किसी क्षेत्र, राज्य या राष्ट्र विशेष के नागरिकों की राजनीति में कितनी भागीदारी है। लोकतंत्र तो पूरी तरह से इसी पर निर्भर करता है कि वहां की प्रजा की भागीदारी राजनीति में किस रूप में तथा कितनी है। वास्तव में लोकतंत्र में भी आम जनता की राजनीतिक भागीदारी बहुत कम होती है, क्योंकि वह एक बार अपने प्रतिनिधि चुनकर भेज देती है तो उसके बाद वही लोग सारे निर्णय लेते हैं। इस प्रकार हर निर्णय में आम जनता की सलाह नहीं ली जाती।

प्रस्तुत अध्याय में राजनीतिक सहभागिता की अवधारणा, अर्थ, परिभाषा, प्रकार, इसे निर्धारित या प्रभावित करने वाले तत्व, इसके महत्व के साथ-साथ इसको प्राप्त करने के साधनों का अध्ययन भी किया जाएगा।

८.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

राजनीतिक सहभागिता की अवधारणा
राजनीतिक सहभागिता के प्रकार
राजनीतिक सहभागिता के आधार पर नागरिकों का वर्गीकरण
राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने वाले तत्व
राजनीतिक सहभागिता का महत्व
राजनीतिक सहभागिता के साधन

८.२.१ राजनीतिक सहभागिता - प्रकार और निश्चित करने वाले तत्व :

स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव, लोकतंत्र का मूल आधार माने जाते हैं। परन्तु यह एक व्यावहारिक सत्यता है कि केवल इन्हीं तत्वों का अस्तित्व किसी देश के प्रजातंत्र को सफल नहीं बना सकता। प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिए इन तत्वों के अतिरिक्त सबसे अधिक आवश्यकता राजनीतिक सहभागिता की है। यदि यह कहा जाए कि राजनीतिक सहभागिता लोकतंत्र की सफलता हेतु सबसे अधिक महत्वपूर्ण आधार है तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। मैकलोस्की का कथन है कि सहभागिता एक प्रमुख साधन है जिसके द्वारा लोकतंत्र में सहमति प्रदान की और वापस ली जाती है और शासकों को शासितों के प्रति उत्तरदायी बनाया जाता है। कहने का अभिप्राय है कि लोकतंत्रीय प्रणाली में राजनीतिक सहभागिता का बहुत अधिक महत्व है। राजनीतिक सहभागिता के अर्थों और प्रकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन निम्न है :

राजनीतिक सहभागिता का अर्थ :

राजनीतिक सहभागिता से अभिप्राय उन गतिविधियों में भाग लेना है जो किसी भी रूप में राजनीतिक विधि से संबद्ध हैं। दूसरे शब्दों में राजनीतिक सहभागिता का अर्थ है लोगों की राजनीतिक क्रिया में भूमिका। हीन्ह युलाऊ के शब्दों में – साधारण जनता का निर्णय–निर्माण प्रक्रिया अथवा नीति निर्माण में भागीदारिता को राजनीतिक भागीदारी कहते हैं।

नी, वर्बा और किम के अनुसार, राजनीतिक सहभागिता में मतदान और अभियान क्रिया में भाग लेने के अतिरिक्त नागरिकों द्वारा प्रारंभ किए गए संपर्क और सहकारी गतिविधियां भी शामिल होती हैं। अन्य शब्दों में मताधिकार का प्रयोग एक प्रकार की राजनीतिक सहभागिता है, लेकिन राजनीतिक सहभागिता के अर्थों को केवल मताधिकार प्रयोग तक ही सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि राजनीतिक सहभागिता में व्यक्तियों की और भी अनेक गतिविधियां आती हैं। ऐसी गतिविधियों को जी. एल. वुडवर्ड ने निम्न रूपों में व्यक्त किया है :

1. चुनाव स्थान पर मताधिकार का प्रयोग करना
2. किसी दबाव समूह का सदस्य होने के नाते दबाव समूहों का समर्थन करना।
3. विधायकों में प्रत्यक्ष रूप में संचारण करना
4. राजनीतिक दल के कार्यों में भाग लेना और इस प्रकार विधायकों पर अपना दावा स्थापति करना।
5. अन्य नागरिकों तक मौखिक रूप में राजनीतिक विचार पहुंचाने के कार्य में स्वाभावित रूप में लगे रहना।

लैस्टर मिलबरैत ने ऐसी गतिविधियों को निम्न तीन श्रेणियों में बांटा है :

1. वादकुशल गतिविधियां : ऐसी गतिविधियों में किसी र्साजनिक पद पर आसीन होना, दल के किसी पद का अधिकारी या प्रत्याशी होना, दल के लिए चंदा एकत्र करना, दल की ऐसी सभाओं में सम्मिलित होना जहां नीतियों का निर्माण किया जाता है, दल के द्वारा चलाए गए किसी आंदोलन में सम्मिलित होना आदि शामिल हैं।

2. अस्थायी गतिविधियां : ऐसी गतिविधियों में किीस राजनीतिक सभा या प्रदर्शन में सम्मिलित होना, किसी दल के नीति के प्रति सहानुभूति या समर्थन की अभिव्यक्ति करना, किसी दल को कभी–कभी चंदा देना आदि शामिल हैं।

3. दर्शक गतिविधियां : ऐसी गतिविधियों में मत प्रयुक्त करना, अन्य व्यक्तियों को किसी विशेष पक्ष में मत प्रयुक्त करने के लिए प्रभावित करना, राजनीतिक वाद–विवाद आरंभ करना या उसमें शामिल होना इत्यादि शामिल हैं।

आल्मंड एवं पावेल का विचार है कि जो लोग निवेश मांगों और विकास के कार्यों में किसी भी रूप में भाग लते हैं उन्हें राजनीतिक सहभागी कह सकते हैं। उनके अनुसार राजनीतिक सहभागिता का अर्थ है कि प्रणाली की निर्णय करने की विधि से समाज के लोगों का संबद्ध होता है।

साधारण शब्दों में हम कह सकते हैं कि शासकों का चयन करने में नीति–निर्माण के कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में भाग लेने की क्रिया को ही राजनीतिक सहभागिता कहा जाता है। अन्य शब्दों में राजनीतिक विधि से संबंधित किसी कार्य में किसी भी रूप में भाग लेने की क्रिया को राजनीतिक सहभागिता की संज्ञा दी जा सकती है।

1. समानता : राजनीतिक सहभागिता की मुख्य विशेषता समानता है। इसका अर्थ है कि सभी नागरिकों को समान रूप से राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए और उनमें किसी आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए।

2. स्वतंत्रता : राजनीतिक सहभागिता में लोगों को स्वतंत्रता प्राप्त होती है ताकि वे राजनीतिक गतिविधियों में स्वतंत्रता से भाग ले सकें।

3. देशभक्ति : राजनीतिक सहभागिता से लोगों में देशभक्ति की भावना पैदा होती है क्योंकि सभी को राजनीति में भाग लेने का समान अवसर प्राप्त होता है।

4. राजनीतिक अधिकार : राजनीतिक सहभागिता की एक और विशेषता यह है कि इसमें सभी व्यस्क नागरिक को समान रूप से राजनीतिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं। नागरिकों को मताधिकार देने व चुने जाने का अधिकार प्राप्त होता है।

5. जन प्रभुसत्ता : राजनीतिक सहभागिता में प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है क्योंकि सभी निर्णय प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा अथवा उसके द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा लिए जाते हैं।

८.२.२ राजनीतिक सहभागिता के प्रकार :

राजनीतिक सहभागिता की दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि राजनीतिक सहभागिता स्वैच्छिक होती है अर्थात इच्छा के विरुद्ध किसी को राजनीतिक विधि में भाग लेने के लिए विवश किया जाता है तो यह राजनीतिक सहभागिता नहीं होगी। दूसरी बात यह कि समस्त व्यक्ति राजनीतिक विधि में एक जैसी मात्रा में और एक ही प्रकार के राजनीतिक सहभागी व्यक्ति राजनीतिक प्रणाली या देश की राजनीति में कोई विशेष रुचि नहीं रखते। इसी कारण कहा जाता है कि राजनीतिक सहभागिता मुख्यत: दो प्रकार की होती है :

1. क्रियाशील राजनीतिक सहभागिता : क्रियाशील सहभागिता का अर्थ है कि व्यक्ति देश की राजनीति में प्रमुख रूप से भाग लेता हो। वह किसी सार्वजनिक पद पर आसीन हो सकता है, दल के किसी पद के अधिकारी के रूप में कार्यरत हो सकता है, साधारण चुनावों या दल के चुनावों में प्रत्याशी के रूप में भाग ले सकता है।

2. क्रियाहीन राजनीतिक सहभागिता : इसका अर्थ है कि व्यक्ति राजनीतिक विधि में कोई विशेष भूमिका अभिनीत न करता हो और न ही वह देश की व्यावहारिक दैनिक राजनीति में कोई विशेष भाग लेता हो। किसी भी देश में समस्त व्यक्ति क्रियाशील राजनीतिक सहभागी नहीं हो सकते और अधिकांश क्रियाहीन राजनीतिक सहभागी ही होते हैं।

इस आधार पर राजनीतिक सहभागिता दो प्रकार की हो सकती है :

3. प्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता : जब नागरिक देश की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं तो उसे प्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता कहते हैं। प्रत्यक्ष राजनीतिक भागीदारी में लोग सीधे शासकों के चुनाव और नीति-निर्माण में भाग लेते हैं। जब लोग स्वयं कानूनों का निर्माण करें, स्वयं ही कानूनों को लागू करें तथा स्वयं ही कानूनों की व्याख्या करें तो उसे प्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता कहते हैं।

4. अप्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता : जब नागरिक अपने शासकों के चुनाव और निर्णय व नीति निर्माण के कार्य में अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं तो उसे अप्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता कहा जाता है। वर्तमान में जनसंख्या अधिक होने के कारण कानून निर्माण के लिए तथा अन्य कार्यों के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। विधानमंडल लोगों के नाम पर कानून निर्माण करते हैं तथा अन्य नीतियों को स्वीकृति देते हैं।

उद्देश्य के आधार पर :

5. सहायक राजनीतिक सहभागिता : सहायक राजनीतिक सहभागिता का अर्थ यह माना जाता है कि जब

कुछ निश्चित लक्ष्य प्राप्त करने हेतु राजनीतिक विधि में भाग लिया जाए। जब राजनीतिक सहभागिता को किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो वह सहायक या साधनीय राजनीतिक सहभागिता होती है।

6. द्योतक राजनीतिक सहभागिता : जब किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजनीतिक विधि में भाग नहीं लिया जाता, अपितु सहज ही किसी कार्य में कोई व्यक्ति सहभागी बन जाता है। उदाहरणस्वरूप जब अनेक व्यक्ति निरुद्देश्य मताधिकार का प्रयोग करते हैं तो वे द्योतक राजनीतिक सहभागिता के प्रतीक होते हैं।

7. औचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता : जब लोग अपने हितों के लिए औचित्यपूर्ण अथवा संवैधानिक साधनों के द्वारा राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते हैं तो उसे औचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता कहते हैं। जो किसी दल का सदस्य बनते हैं, राजनीतिक नीतियों का प्रचार करते हैं, सभाएं करते हैं, अपने उम्मदीवारों को चुनाव जिताने के लिए मताधिकार का प्रयोग करते हैं आदि इसमें शामिल होते हैं।

8. अनौचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता : जब लोग अपने हितों की रक्षा तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनुचित तथा गैर-संवैधानिक साधनों के द्वारा राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते हैं तो उसे अनौचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता कहते हैं। जब लोग अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संवैधानिक साधनों को त्यागकर दंगे-फसाद, तोड़-फोड़ और हिंसात्मक कार्यवाहियों में भाग लेते हैं तो उसे अनौचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता कहा जाता है।

८.२.३ राजनीतिक सहभागिता के स्तर के आधार पर नागरिकों का वर्गीकरण :

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में चाहे लोकतंत्रीय हो चाहे सर्वसत्तावादी व्यवस्था नागरिकों को शासन व्यवस्था में कुछ न कुछ भाग अवश्य दिया जाता है। लोकतंत्रीय व्यवस्था में राजनीतिक शिक्षा के प्रसार तथा राजनीतिक समीकरण के द्वारा लोगों को राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए उत्साहित तथा प्रेरित किया जाता है।

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में न तो सभी नागरिक समान रूप से राजनीतिक भागीदारी करते हैं और न ही सभी नागरिक राजनीति से अलग रहते हैं। राबर्ट ए. डाहल ने राजनीतिक सहभागिता के स्तर के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित नागरिकों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है :

1. अराजनीतिक वर्ग
2. राजनीतिक वर्ग
3. शक्ति इच्छुक वर्ग
4. शक्तिशाली वर्ग

1. अराजनीतिक वर्ग : प्रत्येक देश में ऐसे बहुत-से व्यक्ति होते हैं जिनका राजनीति से कुछ लेना-देना नहीं होता और वे राजनीतिक गतिविधियों से दूर रहना पसंद करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को उदासीन अथवा निष्क्रिय व्यक्ति कहा जाता है। आधुनिक लोकतंत्रीय राज्यों में ऐसे लोगों की संख्या काफी होती है। डाहल के अनुसार कई बार वे यह समझते हैं कि राजनीति की अपेक्षा अन्य गतिविधियों में भाग लेने से अधिक लाभ हो सकता है। कई बार उनकी सोच होती है कि जब वे राजनीति के निर्णयों को बदलने में असमर्थ हैं तो उन्हें राजनीति से क्या लेना। इसके अलावा राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के मार्ग में जितनी अधिक बाधाएं होंगी, उतना ही राजनीति में कम भाग लेंगे।

2. राजनीतिक वर्ग : जो लोग राजनीति में रुचि रखते हैं, राजनीतिक व्यवस्था के बारे में जानकारी रखते हैं और राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं तो उन्हें समाज का राजनीतिक वर्ग कहा जाता है। डाहल के अनुसार ये लोग राजनीति में तभी अधिक भाग लेते हैं इन्हें अधिक लाभ होने की संभावना अधिक दिखाई दे, राजनीतिक निर्णयों में सफल होने की संभावना दिखाई दे, राजनीति में भाग न लेने पर बुरे परिणामों की आशंका हो तथा राजनीति में भाग लेने में अधिक कठिनाइयां न आती हों।

डाहल ने राजनीतिक वर्ग में आने वाले व्यक्तियों को आगे दो उप-वर्गों में विभाजित किया है :

3. शक्ति इच्छुक : समाज के राजनीतिक वर्ग में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सत्ता प्राप्त करने के बड़े इच्छुक होते हैं। जिन लोगों के पास अधिक साधन होते हैं वे अपने साधनों का प्रयोग कुशलतापूर्वक करके शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। डाहल के अनुसार इसके तीन कारण हैं : वे देश हित में शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं या अचेतन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं।

4. शक्तिशाली : शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक होती है लेकिन व्यवहार में बहुत कम व्यक्ति ही शक्ति प्राप्त करने में सफल होते हैं। किसी व्यक्ति के अधिक शक्तिशाली होने के दो कारण हो सकते हैं : प्रयोग किए गए साधनों की मात्रा में अंतर तथा साधनों के प्रयोग करने की निपुणता या कुशलता में अंतर।

वुडवर्ड तथा रोपर ने अमेरिकन नागरिकों की राजनीतिक भागीदारी का विश्लेषण करते हुए इन्हें चार भागों में बांटा है :

1. अति सक्रिय : इस वर्ग में वे नागरिक सम्मिलित किए जाते हैं जो राजनीति को अपना व्यवसाय बना लेते हैं और राजनीतिक गतिविधियों में बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं। इस वर्ग के नागरिक राजनीतिक नेतृत्व प्रदान करते हैं।

2. सक्रिय : इस वर्ग में वे नागरिक आते हैं जो राजनीति में रुचि रखते हैं, चुनाव अभियान में भाग लेते हैं, मतदान करते हैं तथा राजनीति को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

3. अक्रियाशील : केवल मतदान में भाग लेने वाले तथा राजनीतिक सत्ता से दूर रहने वाले इस श्रेणी में आते हैं।

4. अति क्रियाशील : इस श्रेणी में वे लोग आते हैं जो राजनीति के प्रति बिल्कुल उदासीन होते हैं। ऐसे नागरिक अपने मताधिकार का प्रयोग करने भी नहीं जाते।

८.२.४ राजनीतिक सहभागिता को निश्चित या प्रभावित करने वाले तत्व :

विश्व में कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसमें रह रहे सभी लोगों की राजनीतिक सहभागिता का स्तर एक जैसा हो। वास्तव में राजनीतिक सहभागिता स्तर न तो समस्त देशों में एक जैसा हो सकता है और न ही एक देश में सभी लोगों की राजनीतिक सहभागिता बराबर होती है। प्रत्येक समाज में राजनीतिक पक्ष से दो वर्गों का अस्तित्व माना जाता है -

1. विशिष्ट राजनीतिक वर्ग और 2. सामान्य राजनीतिक वर्ग। विशिष्ट राजनीतिक वर्ग में वे लोग सम्मिलित होते हैं जिनका देश की राजनीति में प्रमुख स्थान हो। ये लोग शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं और अपने अहम

को संतुष्ट करने के लिए ये राजनीतिक विधि से बड़ी सक्रियता से भाग लेते हैं। जहां तक सामान्य राजनीतिक वर्ग का संबंध है उनकी राजनीतिक सहभागिता का स्तर निश्चित करने के लिए कुछ विशेष तथ्यों की भूमिका होती है :

1. मनोवैज्ञानिक तत्व : प्रत्येक व्यक्ति मनोवैज्ञानिक भावनाओं का पुतला है। उसका संपूर्ण व्यवहार इन मनोवैज्ञानिक भावनाओं का ही परिणाम होता है। कई मनुष्य स्वाभाविक ही निराशावादी होते हैं। ऐसे मनुष्यों को राजनीतिक सहभागिता की क्रिया में सम्मिलित होने के लिए कोई उत्सुकता नहीं होती। रॉबर्ट ए. डाहल का कथन है कि जो नागरिक राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित करने के लिए अपनी योग्यता के प्रति निराशावादी हैं वे इस आधार पर राजनीति छोड़ देते हैं कि वे जो कुछ करते हैं, उसका कोई प्रभाव नहीं है। कई बार कुछ मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग इसलिए नहीं करते क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि एक मत का चुनाव परिणाम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। नागरिक जन अधिकारियों के समक्ष अपने विचार इसलिए प्रस्तुत नहीं करते क्योंकि उनका विश्वास है कि जन मत अधिकारी उन वर्ग के लोगों के प्रति कोई ध्यान नहीं देंगे।

ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति राजनीतिक सहभागिता को उत्साहित नहीं करती बल्कि नागरिकों को निराशावादी और क्रियाहीन मनुष्य बनाती है।

जिन लोगों में नेतृत्व, सामाजिक दायित्व, आत्मविश्वास और राजनीतिक क्षमता के गुण होते हैं वे राजनीति में अधिक भाग लेते हैं और उन्हें सफलता भी प्राप्त होती है। अव्यवस्थित व्यक्ति राजनीति में रुचि नहीं लेते। ऐसे व्यक्ति जो राजनीतिक मामलों के प्रति उदासीन होते हैं वे मतदान में भाग नहीं लेते और न ही चुनाव परिणामों में किसी तरह की कोई रुचि रखते हैं।

2. सामाजिक और आर्थिक तथ्य : सामाजिक और आर्थिक तथ्य भी वातावरण को उसकी राजनीतिक सहभागिता के स्वरूप और स्तर को निश्चित करने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करता है। इन तथ्यों में शिक्षा, व्यवसाय, आय, लिंग, आयु, निवास स्थान, धर्म, नस्ल या जाति और समूह आदि सम्मिलित होते हैं।

जितने लोग पढ़े-लिखे होंगे उतना ही उनमें नागरिक उत्तरदायित्व, राजनीतिक बुद्धिमता, उच्च स्तरीय राजनीति रुचि और आत्मविश्वास की भावना विकसित होगी। इसी प्रकार शिक्षित लोग अच्छे व्यवसाय या व्यापार में प्रवेश करते हैं। इसलिए यह स्वाभाविक बन जाता है कि अच्छी शिक्षा एवं अच्छे व्यवसाय या व्यापार राजनीतिक सहभागिता के स्तर को प्रभावित करते हैं।

जिन लोगों का परिवार, व्यवसाय, उच्च पद, जाति आदि के आधार पर सामाजिक स्तर ऊंचा होता है वे उच्च स्तर की राजनीतिक जानकारी एवं राजनीतिक क्षमता रखते हैं। इसी कारण वे राजनीतिक गतिविधियों में अधिक भाग लेते हैं। इसी प्रकार अधिकांश आय का तत्व अच्छे व्यवसाय से संबद्ध होता है। जो लोग उद्योग या व्यापार में हैं, उनके लिए राजनीति में इसलिए भी विशेष रूचि रखना आवश्यक होता है क्योंकि देश की राजनीति का उनके उद्योग तथा व्यापार से बहुत निकटवर्ती संबंध होता है। लिंग, आयु एवं वैवाहिक संबंध इत्यादि भी राजनीतिक सहभागिता के स्तर को प्रभावित करते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की बजाय शहरी क्षेत्र के लोगों की राजनीतिक सहभागिता में अधिक रुचि होती है। निवास स्थान इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी स्थान पर आकर रहता है तो वहां की राजनीतिक गतिविधियों में तत्काल सक्रिय भाग नहीं ले सकता। इसी प्रकार धर्म एवं जाति उन देशों में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है जहां विभिन्न धर्मों और जातियों के लोग रहते हैं।

मनुष्य अपनी अनन्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनेक समूहों का निर्माण करता है। वह किसी मनोरंजन क्लब, खेल क्लब, लोक कल्याणकारी संस्था या व्यापारिक संघ आदि का सदस्य भी हो सकता है। यहां से मिलने वाली प्रेरणा भी उसकी राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करती है।

3. राजनीतिक वातावरण : जहां राजनीतिक सहभागिता को सामाजिक वातावरण के उपर्युक्त वर्णित तथ्य प्रभावित करते हैं, वहीं सरकारी ढांचा, राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय महान घटना, राजनीतिक दल, राजनीतिक अभियान, समस्याएं और विचारधारा, शक्तियों का विकेंद्रीकरण, जनप्रसारण के प्रभावशाली साधन, राजनीतिक जागृति आदि भी प्रभावित करते हैं।

यदि सरकारी ढांचा साधारण और सरल स्वरूप का होगा तो लोगों की उसमें कुछ रुचि अवश्य ही विकसित होगी। दूसरी ओर यदि ढांचा जटिल होगा तो लोग राजनीतिक सहभागिता के प्रति उत्साहित नहीं होंगे बल्कि उनका निराशावादी दृष्टिकोण उन्हें राजनीति से दूर रहने के लिए विवश कर देगा। इसी प्रकार महान घटना भी राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए जब बांग्लादेश को आजाद करवाने के लिए हमारी सेनाओं को लड़ना पड़ा था तो इस महान घटना से संपूर्ण राष्ट्र में राजनीतिक जागृति उत्पन्न हो गई थी।

राजनीतिक दलों के द्वारा ही लोगों को राष्ट्रीय समस्याओं और राष्ट्रीय नीतियों का ज्ञान प्राप्त होता है और राजनीतिक दल विभिन्न प्रकार की राजनीतिक शिक्षा लोगों को देते हैं। राजनीतिक दल विभिन्न विषयों पर आंदोलन चलाते हैं और लोगों को उस आंदोलन के पक्ष में करने के लिए अनेक प्रकार के कार्य करते हैं। अत: ये भी राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करते हैं। इसी कारण राजनीतिक अभियान भी लोगों में जागृति उत्पन्न करते हैं तथा सक्रिय राजनीति में भाग लेने के लिए प्रेरित करते हैं। नेताओं की रैलियां, प्रदर्शन, हड़ताल हआदि लोगों को राजनीति में भाग लेने के लिए प्रेरित करती हैं। इसी प्रकार विशेष प्रकार की समस्याओं को हल करवाने के लिए भी लोग राजनीति में भाग लेते हैं। रोटी, कपड़ा और मकान की समस्याएं आम आदमी को राजनीतिक सहभागिता के लिए उत्तेजित करती हैं। इसी तरह विशेष विचारधारा के पक्षधर अपनी विचारधारा को व्यावहारिक रूप देने के लिए राजनीति में सक्रिय भाग लेते हैं।

जिस देश में शक्तियों का विशाल स्तर पर विकेंद्रीकरण किया जाएगा तो साधारण लोगों को भी स्थानीय और प्रांत स्तर पर शक्तियों का प्रयोग करने में भाग लेने के लिए पर्याप्त अवसर मिलेंगे और वे राजनीति में भाग लेने को प्रेरित होंगे। इसी तरह यदि जन प्रसार के साधन, रेडियो, टीवी, समाचार पत्र आदि सरकारी नियंत्रण से मुक्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक और पूर्ण इमानदारी से कार्य करेंगे तो ये लोगों की राजनीतिक सहभागिता को अवश्य ही प्रोत्साहित करेंगे।

यदि लोग राजनीतिक पक्ष से उचित रूप से जागृत नहीं होंगे तो राजनीतिक सहभागिता को निर्धारित करने वाले तथ्य लोगों पर विशेष प्रभाव उत्पन्न करने में कम सफल होंगे। अत: राजनीतिक सहभागिता के लिए राजनीतिक जागृति होना भी आवश्यक है।

4. कुछ अन्य तथ्य :

1. देश की भौगोलिक स्थिति : यदि किसी देश का समूचा क्षेत्र सामान्य नहीं है तो उस देश क सब लोगों की राजनीतिक सहभागिता का स्तर सामान्य नहीं होगा। भारत के मैदानी इलाके के लोग पहाड़ी इलाके के लोगों से राजनीतिक पक्ष से अधिक जागृत तथा आर्थिक रूप से आगे होते हैं। अत: उनकी राजनीतिक सहभागिता पहाड़ों में रहने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक होती है।

2. जनसंख्या : जिन देशों की जनसंख्या अधिक होती है वहां के लोग राजनीति में कम भाग लेते हैं और जिन देशों की जनसंख्या कम होती है उनके नागरिकों की राजनीतिक सहभागिता अधिक होती है।

3. यातायात की सुविधाएं : यातायात सुविधाएं विशाल स्तर पर उपलब्ध हों तो अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले परस्पर संपर्क में अवश्य आएंगे। उनका यह संपर्क एक-दूसरे की राजनीतिक जानकारी और अन्य विचारों को प्रभावित करेगा। इसके अलावा यातायात सुविधाएं लोगों को राजनीतिक सभाओं आदि में भाग लेने के लिए सहायक सिद्ध होंगी।

4. सभ्यता का विकास : जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होगा, वैसे-वैसे लोगों के मानसिक स्तर का विकास और उनके समूचे दृष्टिकोण का आधुनिकीकरण अवश्य होगा। उन्हें आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध होंगी तो राजनीतिक सहभागिता का स्तर भी विकसित होता जाएगा।

८.२.५ राजनीतिक सहभागिता का महत्व :

आधुनिक युग लोकतंत्र का युग है और लोकतंत्र को राजनीतिक सहभागिता से ही सफल बनाया जा सकता है। राजनीतिक सहभागिता का महत्व न केवल लोकतंत्रतात्मक देशों में है, बल्कि इसका महत्व साम्यवादी तानाशाही देशों में भी है।

1. स्थिरता : जब लोग राजनीतिक कार्यों में भाग लेते हैं तो उनमें सरकार के प्रति विश्वास पैदा होता है। विश्वास से लोगों में संतोष की भावना पैदा होती है जिससे समाज में स्थिरता आती है।

2. समानता : लोकतांत्रिक देशों में सभी व्यस्कों को समान रूप से मत डालने का अधिकार दिया जाता है जिससे समाज में समानता की भावना उत्पन्न होती है। समाज के जब सभी एक साथ एक लाइन में खड़े होकर वोट डालते हैं तो उनकी समानता की भावना पैदा होना स्वाभाविक है।

3. नैतिक गुण : राजनीतिक सहभागिता लोगों में उनके नैतिक गुण उत्पन्न करती है। इससे लोगों में सहयोग, सहनशीलता तथा व्यक्तिगत जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न होती है।

4. कानूनों का स्वेच्छा से पालन : राजनीतिक सहभागिता से लोग सरकार को अपनी सरकार समझते हैं। लोग कानूनों का खुशी से तथा स्वेच्छा से पालन करते हैं।

5. देशभक्ति : राजनीतिक सहभागिता से लोगों में अपने देश के लिए श्रद्धा तथा प्रेम जागृत होता है। देशभक्ति की भावना के कारण व्यक्ति देश के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने के लिए तत्पर रहते हैं।

6. राजनीतिक शिक्षा : राजनीतिक सहभागिता से लोगों को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। उन्हें देश की समस्याओं और शासन की नीतियों के बारे में ज्ञान प्राप्त होती है। उन्हें अपने अधिकारों व कर्तव्यों का ज्ञान भी प्राप्त होता है।

7.शांति तथा व्यवस्था : राजनीतिक सहभागिता के कारण लोग सरकार को अपना समझते हैं तथा कानूनों एवं आदेशों का स्वेच्छा से पालन करते हैं। इस कारण देश में शांति व व्यवस्था बनी रहती है।

8. अधिक स्वतंत्रता : राजनीतिक सहभागिता के द्वारा लोगों को अधिक स्वतंत्रता मिलती है क्योंकि लोगों के प्रतिनिधि लोगों के जीवन को सुखी बनाने के लिए उन्हें अधिक से अधिक स्वतंत्रताएं प्रदान करते हैं।

८.२.६ लोकतंत्रीय व्यवस्थाओं में राजनीतिक सहभागिता के साधन :

लोकतंत्रीय व्यवस्था में शासन के सभी स्तरों पर लोगों को भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है। स्थानीय स्तर पर स्थानीय स्वशासन का संगठन व संचालन स्वयं जनता द्वारा किया जाता है। स्थानीय समस्याओं को सुलझाने तथा स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व स्थानीय प्रतिनिधियों का होता है।

लोकतंत्रीय व्यवस्था में लोग अपने प्रतिनिधि चुनकर कानून निर्माण प्रक्रिया में भाग लेते हैं परन्तु जिन देशों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र पाया जाता है वहां के लोग कानून निर्माण प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं। स्विट्जरलैंड विश्व का एकमात्र ऐसा देश है जहां प्रत्यक्ष प्रजातंत्र को अपनाया गया है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के लोग निम्न साधनों द्वारा राजनीति में भाग लेते हैं :

1. जनमत संग्रह : जनमत संग्रह द्वारा विधानमंडलों द्वारा पास किए गए बिलों तथा संविधान में संशोधन प्रस्तावों को अंतिम रूप में में स्वीकार करने से पूर्व जनता की राय ली जाती है। यह एक निषेधाधिकार शक्ति है जिसके द्वारा जनता किसी भी बिल को कानून बनने से रोक सकती है।

2. प्रस्तावाधिकार : इसके द्वारा जनता कानून निर्माण करने के लिए प्रस्ताव पेश कर सकती है। विधानमंडल उस प्रस्ताव से सहमत हो या न हो तब भी उस प्रस्ताव को जनता की राय के लिए रखा जाता है। यदि जनता उसे स्वीकार कर लेती है तो वह कानून बन जाता है चाहे विधानमंडल उस प्रस्ताव के विरुद्ध ही क्यों न हो।

3. प्रारंभिक सभा या लैंडजगेमिण्ड : प्रारंभिक सभाएं स्विट्जरलैंड के कुछ कैण्टन में पाई जाती हैं। प्रारंभिक सभा एक राजनीतिक संस्था है जिसमें उन कैण्टनों के सभी मतदाता शामिल होते हैं। उस कैण्टन की राजनीतिक शक्ति इस सभा के पास होती है। यही कानूनों का निर्माण करती है और कार्यपालिका के सदस्यों, कैण्टन के न्यायाधीशों तथा अन्य कर्मचारियों का चुनाव इसी सभा द्वारा किया जाता है।

4. वापसी : यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा लोगों को अपने प्रतिनिधियों के कार्यों पर नियंत्रण तथा निगरानी रखने का अधिकार प्राप्त होता है। यदि जनता अपने प्रतिनिधि पर अविश्वास जताए तो वह उसे वापस बुला सकती है और उसके स्थान पर किसी अन्य प्रतिनिधि को चुनकर भेज सकती है। इसके लिए निश्चित संख्या में मतदाताओं का प्रस्ताव सरकार के पास भेजना आवश्यक होता है।

5. मत संग्रह : यह ऐसा साधन है जिसके द्वारा लोगों को किसी भी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय विषय या समस्या के संबंध में मत देने को कहा जाता है। मतसंग्रह प्राय: राजनीतिक विवादों पर करवाया जाता है न कि कानूनों मामलों पर। यदि लोगों का बहुमत पक्ष में मत देता है तो सरकार उसी के अनुसार निर्णय लेती है।

८.३ सारांश :

राजनीतिक सहभागिता से अभिप्राय उन गतिविधियों में भाग लेना है जो किसी भी रूप में राजनीतिक विधि से संबद्ध हैं। दूसरे शब्दों में राजनीतिक सहभागिता का अर्थ है लोगों की राजनीतिक क्रिया में भूमिका। हीन्ह युलाऊ के शब्दों में – साधारण जनता का निर्णय–निर्माण प्रक्रिया अथवा नीति निर्माण में भागीदारिता को राजनीतिक भागीदारी कहते हैं।

क्रियाशील सहभागिता का अर्थ है कि व्यक्ति देश की राजनीति में प्रमुख रूप से भाग लेता हो। वह किसी सार्वजनिक पद पर आसीन हो सकता है, दल के किसी पद के अधिकारी के रूप में कार्यरत हो सकता है, साधारण चुनावों या दल के चुनावों में प्रत्याशी के रूप में भाग ले सकता है।

जब नागरिक देश की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं तो उसे प्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता कहते

हैं। प्रत्यक्ष राजनीतिक भागीदारी में लोग सीधे शासकों के चुनाव और नीति–निर्माण में भाग लेते हैं। जब लोग स्वयं कानूनों का निर्माण करें, स्वयं ही कानूनों को लागू करें तथा स्वयं ही कानूनों की व्याख्या करें तो उसे प्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता कहते हैं।

जब नागरिक अपने शासकों के चुनाव और निर्णय व नीति निर्माण के कार्य में अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं तो उसे अप्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता कहा जाता है। वर्तमान में जनसंख्या अधिक होने के कारण कानून निर्माण के लिए तथा अन्य कार्यों के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। विधानमंडल लोगों के नाम पर कानून निर्माण करते हैं तथा अन्य नीतियों को स्वीकृति देते हैं।

८.४ सूचक शब्द :

राजनीतिक सहभागिता का अर्थ : राजनीतिक सहभागिता से अभिप्राय उन गतिविधियों में भाग लेना है जो किसी भी रूप में राजनीतिक विधि से संबद्ध हैं। दूसरे शब्दों में राजनीतिक सहभागिता का अर्थ है लोगों की राजनीतिक क्रिया में भूमिका। हीन्ह युलाऊ के शब्दों में – साधारण जनता का निर्णय–निर्माण प्रक्रिया अथवा नीति निर्माण में भागीदारिता को राजनीतिक भागीदारी कहते हैं।

क्रियाशील राजनीतिक सहभागिता : क्रियाशील सहभागिता का अर्थ है कि व्यक्ति देश की राजनीति में प्रमुख रूप से भाग लेता हो। वह किसी सार्वजनिक पद पर आसीन हो सकता है, दल के किसी पद के अधिकारी के रूप में कार्यरत हो सकता है, साधारण चुनावों या दल के चुनावों में प्रत्याशी के रूप में भाग ले सकता है।

क्रियाहीन राजनीतिक सहभागिता : इसका अर्थ है कि व्यक्ति राजनीतिक विधि में कोई विशेष भूमिका अभिनीत न करता हो और न ही वह देश की व्यावहारिक दैनिक राजनीति में कोई विशेष भाग लेता हो। किसी भी देश में समस्त व्यक्ति क्रियाशील राजनीतिक सहभागी नहीं हो सकते और अधिकांश क्रियाहीन राजनीतिक सहभागी ही होते हैं।

सहायक राजनीतिक सहभागिता : सहायक राजनीतिक सहभागिता का अर्थ यह माना जाता है कि जब कुछ निश्चित लक्ष्य प्राप्त करने हेतु राजनीतिक विधि में भाग लिया जाए। जब राजनीतिक सहभागिता को किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो वह सहायक या साधनीय राजनीतिक सहभागिता होती है।

द्योतक राजनीतिक सहभागिता : जब किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजनीतिक विधि में भाग नहीं लिया जाता, अपितु सहज ही किसी कार्य में कोई व्यक्ति सहभागी बन जाता है। उदाहरणस्वरूप जब अनेक व्यक्ति निरुद्देश्य मताधिकार का प्रयोग करते हैं तो वे द्योतक राजनीतिक सहभागिता के प्रतीक होते हैं।

औचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता : जब लोग अपने हितों के लिए औचित्यपूर्ण अथवा संवैधानिक साधनों के द्वारा राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते हैं तो उसे औचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता कहते हैं। जो किसी दल का सदस्य बनते हैं, राजनीतिक नीतियों का प्रचार करते हैं, सभाएं करते हैं, अपने उम्मदीवारों को चुनाव जिताने के लिए मताधिकार का प्रयोग करते हैं आदि इसमें शामिल होते हैं।

अनौचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता : जब लोग अपने हितों की रक्षा तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनुचित तथा गैर–संवैधानिक साधनों के द्वारा राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते हैं तो उसे अनौचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता कहते हैं। जब लोग अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए

संवैधानिक साधनों को त्यागकर दंगे-फसाद, तोड़-फोड़ और हिंसात्मक कार्यवाहियों में भाग लेते हैं तो उसे अनौचित्यपूर्ण साधनों पर आधारित राजनीतिक सहभागिता कहा जाता है।

८.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. राजनीतिक सहभागिता की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।
२. राजनीतिक सहभागिता की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
३. राजनीतिक सहभागिता के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करें।
४. राजनीतिक सहभागिता के सिद्धांत की चर्चा करें।
५. राजनीतिक सहभागिता के आधार पर नागरिकों के वर्गीकरण के बारे में लिखें।
६.राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने वाले तत्वों की चर्चा करें।

८.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

खंड– बी इकाई – दो अध्याय – नौ

राष्ट्र और राज्य

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम राज्य व राष्ट्र की अवधारणा के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही राज्य व राष्ट्र में भेद, राज्य की आवश्यकता, राज्य की परिभाषाएं, राज्य के आधारभूत तत्व आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

९.० उद्देश्य
९.१ परिचय
९.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
९.२.१ राज्य व राष्ट्र की अवधारणा
९.२.२ राज्य व राष्ट्र में भेद
९.२.३ राज्य की आवश्यकता
९.२.४ राज्य की परिभाषाएं
९.२.५ राज्य के आधारभूत तत्व
९.३ सारांश
९.४ सूचक शब्द
९.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
९.६ संदर्भित पुस्तकें

९.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

- राज्य व राष्ट्र की अवधारणा के बारे में जानना
- राज्य व राष्ट्र में भेद से परिचित होना
- राज्य की आवश्यकता का पता लगाना
- राज्य की परिभाषाओं से परिचित होना
- राज्य के आधारभूत तत्वों के बारे में जानना

९.१ परिचय :

आम आदमी की भाषा में राष्ट्र का मतलब एक देश होता है तो राज्य का मतलब एक प्रदेश होता है, लेकिन राजनीतिक रूप से इन दोनों के अर्थ बहुत विस्तृत हैं। राष्ट्र एवं राज्यों के अस्तित्व, उनकी शासन प्रणाली, उनकी नीतियां एवं कानून प्रत्यक्ष रूप से समाज के लिए बने होते हैं और प्रत्येक आदमी को प्रभावित करते हैं। राष्ट्रीय नीतियां जहां पूरे देश को एक साथ प्रभावित करती हैं, वहीं राज्य द्वारा बनाई गई नीतियां उस राज्य के निवासियों पर प्रभाव डालती हैं।

राष्ट्र व राज्य के अर्थ, उनकी विभिन्न परिभाषाओं, दोनों में अंतर, इनके निर्धारक तत्वों के बारे में विस्तार से जानने के लिए इस अध्याय का अध्ययन आवश्यक है।

९.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

राज्य व राष्ट्र की अवधारणा
राज्य व राष्ट्र में भेद
राज्य की आवश्यकता
राज्य की परिभाषाएं
राज्य के आधारभूत तत्व

९.२.१ राज्य तथा राष्ट्र की अवधारणा :

राजनीति शास्त्र में प्रयोग होने वाले कई ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ, भाव व परिभाषा के बारे में इस शास्त्र के सब विद्वान एक मत नहीं रखते। 'राष्ट्र' शब्द उनमें से एक है। इस आम प्रयोग होने वाले शब्द को राजनीति शास्त्र में लेखकों ने अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा है, इसलिए इस शब्द की परिभाषाएं कई प्रकार से दी गई हैं। इस दृष्टिकोण को हम प्रमुख रूप से तीन भागों में बांट सकते हैं : 1. जातीय दृष्टिकोण, 2. सांस्कृतिक व मानसिक दृष्टिकोण तथा 3. राजनीतिक दृष्टिकोण।

1. जातीय दृष्टिकोण : जिन लेखकों ने इस दृष्टि से राष्ट्र को समझा है उन्होंने राष्ट्र शब्द के अंग्रेजी रूपांतर के मूल शब्दों का आधर रखा है। नेशन शब्द लैटिन भाषा के दो शब्दों नेशियो और नेटस से निकाला गया है। इनके अर्थ हैं - जन्म या नस्ल और पैदा हुआ। इस शब्दों के अर्थों के आधार पर एक ही जाति, नस्ल या वंश से संबद्ध लोगों को राष्ट्र कहा जाता है।

परिभाषाएं :

क. बर्गेस के अनुसार, राष्ट्र वह जनसंख्या है जो जातीय एकता के सूत्र में बंधी हो और भौगोलिक एकता वाले प्रदेश में बसी हो।

ख. लीकॉक के अनुसार राष्ट्र ऐसे लोगों के संघ को कहते हैं जो किसी वंश या जाति के सूचक हों।

जाति की समरूपता को राष्ट्र का आधार मानना वर्तमान में ठीक नहीं। आजकल आप्रवास, यातायात व संचार, सामाजिक संसर्ग और अंतरजातीय विवाहों की अवस्थाओं के नस्ल व जाति की शुद्धि लगभग असंभव बना

दी है। इस तरह यदि हम जाति की समरूपता को ही राष्ट्र का तत्व मानें तो आजकल कोई भी राष्ट्र नहीं है।

2. सांस्कृतिक व मानसिक दृष्टिकोण : कुछ लेखक राष्ट्र का आधार लोगों में मानसिक एकता को मानते हैं और वह यह भी मानते हैं कि यह एकता की भावना सामान्य भाषा, धर्म, संस्कृति, इतिहास, परंपराओं आदि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है।

परिभाषाएं :

क. ब्लटशली के अनुसार, राष्ट्र ऐसे मनुष्यों के समूह को कहते हैं जो विशेषतया भाषा और रीति-रिवाजों के द्वारा एक समान सभ्यता में बंधे हों और जिससे उनमें एकता और समस्त विदेशियों से भिन्नता की भावना पैदा होती हो।

ख. होजर के अनुसार, राष्ट्र का निर्माण जाति या भाषा के आधार पर नहीं बल्कि लोगों की इकट्ठे रहने की भावना के आधार पर होता है।

ग. बार्कर के अनुसार, राष्ट्र लोगों का वह समूह है जो निश्चित भू भाग पर रहते हों और इस कारण पारस्परिक प्रेम के बंधनों से एक-दूसरे के साथ बंधे हुए हैं।

यह दृष्टिकोण काफी हद तक पहले दृष्टिकोण से अधिक ठीक व व्यावहारिक है। जहां तक मानसिक व आत्मिक एकता का संबंध है, वह तो राष्ट्र निर्माण के लिए अनिवार्य है ही, परन्तु यह कहना कि यह एकता केवल समान धम्र, भाषा, रीति रिवाज आदि के नाते ही पनप सकती है, गलत है। उदाहरण के तौर पर भारत एक राष्ट्र है परन्तु सब भारतवासियों के धर्म, भाषा आदि एक समान नहीं हैं।

3. राजनीतिक दृष्टिकोण : आधुनिक लेखक अधिकतर राष्ट्र का अर्थ केवल राजनीतिक संगठन से लेते हैं। उनका विचार है कि राष्ट्र केवल उस समूह को नहीं कहते जो सांस्कृतिक व आध्यात्मिक बंधनों से बंधा हो बल्कि यह समूह राजनीतिक तौर पर चेतन होना चाहिए।

परिभाषाएं :

क. हेज के अनुसार, एक राष्ट्रीयता एकता और संप्रभुतसंपन्न स्वतंत्रता प्राप्त करने से राष्ट्र बन जाती है।

ख. ऐसमीन के अनुसार, राष्ट्र का वैधानिक मानवीकरण है।

ग. लार्ड ब्राइस के अनुसार, राष्ट्र वह राष्ट्रीयता है जिसने अपने आप को स्वतंत्र या स्वतंत्र होने की इच्छा रखने वाली राजनीतिक संस्था के रूप में संगठित कर लिया है।

घ. प्रो. रोज के अनुसार, राजनीतिक तौर पर संगठित लोगों को राष्ट्र कहते हैं।

यह दृष्टिकोण भी पूर्णतया ठीक नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र शब्द का अर्थ लगाना या प्रयोग करना ज्यादा ठीक और यथार्थ नहीं। गार्नर के शब्दों में, राष्ट्र के लिए लोगों का राज्य के रूप में संगठित होना आवश्यक नहीं है और न ही राज्य के लिए राष्ट्र होना आवश्यक है। उदाहरण के तौर पर पाकिस्तान एक राज्य तो था पर एक राष्ट्र नहीं। इसी राज्य में दो राष्ट्र थे, एक बंगाली दूसरा पाकिस्तानी। बांग्ला देश के लोगों का राष्ट्र तो शुरू से ही है, परन्तु उनका राज्य अभी ही बन सका।

निष्कर्ष : उपरोक्त कोई भी दृष्टिकोण अपने आप में संपूर्ण नहीं है, हर दृष्टिकोण में कम या ज्यादा सच्चाई का अंश है। अत: राष्ट्र का पूरा और ठीक अर्थ इन सब दृष्टिकोणों के मिश्रण से जुटाया जा सकता है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र ऐसे लोगों के समूह को कहते हैं जो जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, ऐतिहासिक या किसी और बात या बातों की समानता के आधार पर अपने आपको आत्मिक या मानसिक तौर पर एक समझे और

इकट्ठे रहने में ही अपने जीवन और अपनी संस्कृति आदि को सुरक्षित महसूस करे।

९.२.२ राष्ट्र और राज्य में भेद :

साधारणत: राज्य और राष्ट्र में कोई अंतर नहीं माना जाता। राष्ट्र राज्य के बहुत ही समीप है, इसमें भी कोई शक नहीं। राज्यों के संघों को प्राय: राष्ट्रों का संघ ही कहा जाता है जैसे कि राष्ट्र लीग, संयुक्त राष्ट्र संघ।

आधुनिक युग में राष्ट्र राज्य ही प्राय: मिलते हैं जो एक राष्ट्र-एक राज्य के सिद्धांत पर बने हैं। परन्तु राष्ट्र और राज्य अलग-अलग हैं और इनमें निश्चित रूप से भेद है।

1. राज्य के चार अनविार्य तत्व हैं : राज्य के चार आवश्यक तत्व हैं - जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार तथा प्रभुसत्ता। इनके मिलने से ही राज्य का निर्माण होता है। इनमें से यदि एक भी तत्व का अभाव हो तो राज्य नहीं बन सकता। परन्तु राष्ट्र के निर्माण के लिए कोई तत्व अनिवार्य नहीं है। राष्ट्र तो सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावनाओं द्वारा संगठित समुदाय है। राष्ट्र का निर्माण लोगों की चेतना से ही होता है।

2. राष्ट्र के लिए लोगों में एकता की भावना का होना आवश्यक है, राज्य के लिए नहीं : राष्ट्र उस जनसमुदाय को ही कहा जा सकता है जिसमें एकता या ऐक्य की भावना हो। राष्ट्र में लोगों के समान धर्म, समान भाषा, समान संस्कृति, समान इतिहास, समान विचारधारा और समान इच्छाओं के आधार पर उत्पन्न एकता की भावना का होना आवश्यक है, परन्तु राज्य के लोगों में एकता की भावना का होना आवश्यक नहीं। राज्य के लिए लोगों का राजनीतिक दृष्टि से संगठित होना ही आवश्यक है।

3. राज्य के लिए निश्चित भू-भाग आवश्यक है, राष्ट्र के लिए नहीं : राज्य एक प्रादेशिक संस्था है, परन्तु राष्ट्र के लिए निश्चित भूभाग का होना आवश्यक नहीं। राष्ट्र का संबंध लोगों में उत्पन्न एकता की भावना से है, किसी निश्चत प्रदेश से नहीं। राष्ट्रीय भावना प्रादेशिक सीमाओं में बंधकर नहीं रह सकती। वह तो उसे फांद कर आगे भी बढ़ सकती है और यह भी संभव है कि यह उस निश्चित प्रदेश में भी पूरी तरह से न फैल सके। एक राष्ट्र के सदस्य एक छोटे से स्थान पर भी सीमित रह सकते हैं और समस्त संसार में भी फैले हो सकते हैं।

4. एक राज्य में कई राष्ट्र और एक राष्ट्र में कई राज्य हो सकते हैं : वैसे तो आधुनिक युग में एक राष्ट्र-एक राज्य के सिद्धांत पर जोर दिया जाता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि एक राज्य में एक ही राष्ट्र हो या एक राष्ट्र में एक राज्य की प्रभुसत्ता दो या इससे भी अधिक राष्ट्रों पर लागू हो सकती है जैसे कि अस्ट्रिया और हंगरी को मिलकार एक बार एक राज्य स्थापित कर दिया गया था, परन्तु फिर भी उनके तो अलग-अलग राष्ट्र रहे। इसके विपरीत एक राष्ट्र दो राज्यों में फैला हुआ हो सकता है।

5. राज्य के लि प्रभुसत्ता का होना अनिवार्य है, राष्ट्र के लिए नहीं : राज्य के पास प्रभुसत्ता होती है और इसका होना उसके अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। इसके बिना राज्य का निर्माण हो ही नहीं सकता। प्रभुसत्ता के कारण पशुबल या पाशविक शक्ति होती है जिसका प्रयोग वह अपने सदस्यों पर कर सकता है परन्तु राष्ट्र के पास कोई प्रभुसत्ता नहीं होती। राष्ट्र स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और यह प्राप्त होने पर प्रभुसत्ता की भी प्राप्ति हो जाती है, परन्तु इसके साथ ही वह राज्य बन जाता है जो इस प्रभुसत्ता का प्रयोग करता है।

6. राज्य न तो राष्ट्र को उत्पन्न कर सकता है और न ही उसे समाप्त कर सकता है : राज्य के पास प्रभुसत्ता होने के कारण अपने भू-भाग में स्थित सब व्यक्तियों तथा व्यक्तियों की संस्थाओं पर उसका पूरा नियंत्रण रहता है, परन्तु राज्य राष्ट्र को बनाने वाली एकता की भावना को न तो उत्पन्न कर सकता है और न ही उसे समाप्त

कर सकता है। लोगों में राष्ट्रीय भावना अपने आप उत्पन्न होती है जिसके कई आधार हो सकते हैं। ऐसा देखा गया है कि विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले, विभिन्न धर्मों को मानने वाले, विभिन्न जातियों से संबंधित, विभिन्न विचारों को प्रकट करने वाले लोगों में भी एकता की भावना पैदा हो जाती है और वे एक राष्ट्र के अंग बन जाते हैं। राज्य उस भावना को समाप्त भी नहीं कर सकता।

९.२.३ राज्य की आवश्यकता :

समाज में रहते व्यक्ति के लिए कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य है क्योंकि नियमों के पालन के बिना किसी भी संस्था या संगठन का कुशलतापूर्वक कार्य करना बिल्कुल असंभव है। परन्तु व्यक्ति सामाजिक नियमों का पालन सुगमता से नहीं करते क्योंकि मानव स्वभाव में पशुवृत्ति और स्वार्थी भावनाएं इतनी अधिक बलवान हैं कि व्यक्ति अपने निजी हितों को प्रफुल्लित करने के लिए सामाजिक और राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध भी कार्य करने में संकोच नहीं करते। इसी कारण समाज में ऐसे प्रभावशाली राजनीतिक संगठन की आवश्यकता क्षेत्र में रहने, दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन न करने और कर्तव्यों का पालन करने के लिए विवश कर सके। राज्य का ऐसा ही राजनीतिक संगठन है जो इस आवश्यकता की ही उपज है।

राज्य के शाब्दिक अर्थ : राजनीति शास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय राज्य है। राजनीति शास्त्र का आरंभ और अंत राज्य के साथ ही होता है।

राज्य को अंग्रेजी में स्टेट कहा जाता है और स्टेट लैटिन भाषा के शब्द स्टट्स से निकला है। इसका अर्थ है दूसरों के समक्ष उच्च स्तर। शाब्दिक अर्थों के पक्ष से राज्य उस संगठन का नाम है जिसका स्तर अन्य संगठनों और लोगों के स्तर से ऊंचा है।

राज्य की धारणा के प्रति परंपरागत दृष्टिकोण : समस्त राजनीतिक संस्थाओं से राज्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्था है। यह विश्व व्यापक संस्था है। राज्य की धारणा के प्रति समय की गति के साथ-साथ कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं। प्राचीन काल में कबायली या आदिवासी राज्यों, यूनानी नगर-राज्यों, सामन्ती राज्यों इत्यादि का युग था। इन युगों में राज्य की वह धारणा विकसित नहीं हुई थी जो आधुनिक समय में प्रायः स्वीकार की जाती है। इन युगों में राज्य एवं समाज में और राज्य एवं सरकार में कोई विशेष अंतर नहीं किया जाता था, परन्तु जब से राष्ट्रीय राज्यों का युग आरंभ हुआ है उस समय से ही राज्य की एक नियमित धारणा का विकास होना आरंभ हो गया।

राज्य की ऐसी धारणा को विकसित करने में अन्य विचारकों के अतिरिक्त इंग्लैंड के विद्वान हॉब्ज एवं लॉक और फ्रांस के विद्वान रूसो का विशेष योगदान रहा। वर्तमान समय में यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य एक अदृश्य संस्था है जिसका निर्माण करने के लिए जनसंख्या, निश्चित भूमि, संगठित सरकार एवं प्रभुसत्ता की आवश्यकता है।

९.२.४ राज्य की परिभाषाएं :

राज्य की प्रकृति, उद्देश्य और अधिकार क्षेत्र के विषय में सभी राजनीति शास्त्रों के विचार समान नहीं हैं। इसी कारण उनकी राज्य की परिभाषाएं भी भिन्न हैं। मैक्आइवर के अनुसार, कुछ लेखक राज्य की परिभाषा केवल श्रेणी संगठन के रूप में करते हैं, कुछ अन्य विचारक इसे ऐसा संगठन मानते हैं जो किसी श्रेणी की नहीं अपितु

समाज के कल्याण के लिए है। कुछ विचारक इसे शक्ति का और कुछ जन कल्याण का प्रतीक मानते हैं। कुछ इसे राष्ट्र के समान और कुछ अन्य राष्ट्रीयता को अस्थायी या अनावश्यक मानते हैं। कुछ इसे बीमा निगम के समान और कई इसे जीवन की मूलपीठ मानते हैं। कुछ के लिए यह आवश्यक बुराई है और कुछ अन्य के लिए यह ईश्वरीय वरदान है। इसी कारण राज्य की उतनी परिभाषाएं मिलती हैं जितने राजनीति वैज्ञानिक।

1. अरस्तु के अनसार, राज्य, गांवों और परिवारों का समूह है जिसका उद्देश्य एक संपूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की स्थापना करना है जिससे हमारा अभिप्राय सुखी और संपन्न जीवन है।

परन्तु वर्तमान समय में राज्य को गांवों और परिवारों का समूह नहीं माना जा सकता।

2. स्विट्जरलैंड के लेखक ब्लर्शली के अनुसार, राजनीतिक दृष्टिकोण से एक निश्चित भूमि पर संगठित जनसंख्या राज्य है।

3. हालैंड के अनुसार, राज्य मनुष्यों के ऐसे समूह का नाम है जो निश्चित भाग में रहता है और जिसमें बहुसंख्या के आधार पर एक वर्ग अपने विरोधियों पर शासन करता है।

हालैंड की इस परिभाषा में राज्य की आंतरिक प्रभुसत्ता का वर्णन तो है, परन्तु बाह्य प्रभुसत्ता का वर्णन नहीं है।

डा. गार्नर के अनुसार, राज्य कम या अधिक लोगों का समूह है जो भूमि के निश्चित भाग पर रहता हो, बाह्य नियंत्रण से पूरी तरह लगभग स्वतंत्र हो और जिसकी अपनी एक संगठित सरकार हो जिसकी आज्ञा का पालन वहां के लोग स्वाभाविक रूप से करते हों।

यह परिभाषा श्रेष्ठ मानी जाती है।

९.२.५ राज्य के आधारभूत तत्व :

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर राज्य के आधारभूत तत्व निम्न हैं :

1. जनसंख्या : जनसंख्या राज्य का एक महत्वपूर्ण मानवीय तत्व है। इसके बिना राज्य की स्थापना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सहस्त्रों मील वन या समुद्र जहां मनुष्य जाति का नामोनिशान नही मिल सकता, वहां राज्य नहीं बन सकता। उसी प्रकार जनसंख्या के बिना राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। राज्य की जनसंख्या न तो इतनी अधिक होनी चाहिए कि उसका योग्य प्रबंध करना भी कठिन हो जाए और न इतनी कम कि देश का विकास भी संभव न हो।

2. निश्चित भूमि : भूमि को राज्य का भौतिक तत्व माना जाता है। राज्य के लिए एक निश्चित भूमि का होना अनिवार्य है। खानाबदोश लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं, वे राज्य का निर्माण नहीं कर सकते। ब्लर्टशली के अनुसार, राज्य का पहला आधार लोग हैं और इसके साथ ही दूसरा आधार भूमि है। लोगों की वह संख्या तब तक राज्य नहीं बन सकती जब तक उनके पास निश्चित भूमि न हो। राज्य के निश्चित क्षेत्र में केवल शुष्क भूमि ही नहीं अपितु राज्य में स्थित प्राकृतिक साधन भी सम्मिलित हैं। जहां तक समुद्री सीमा का संबंध है, विभिन्न राज्यों ने इस संबंधी अलग-अलग नियम अपनाए हैं। राज्य का क्षेत्रफल निश्चित करने के लिए भी कोई ठोस नियम नहीं है। जहां तक हो सके राज्य की भूमि और जनसंख्या में संतुलन अवश्य होना चाहिए ताकि राज्य को आर्थिक व राजनीतिक संकटों का अधिक सामना न करना पड़े।

3. सरकार : किसी निश्चित प्रदेश में रहने वाले लोगों का समूह तब तक राज्य नहीं कहा जा सकता जब

तक उनकी अपनी कोई सरकार न हो। सरकार ही एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा राज्य की इच्छाओं को पूर्ण किया जाता है। वास्तव में सरकार के अस्तित्व के बिना राज्य की इच्छा को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। सरकार द्वारा ही लोगों के परस्पर संबंधों को नियमित किया जाता है। सरकार का रूप किसी देश में प्रजातंत्रीय, किसी में संवैधानिक राजतंत्र और किसी में अधिनायकतंत्र अथवा सैनिक अधिनायकवादी है। उनका रूप तो कोई भी हो सकता है, परन्तु सरकार का होना आवश्यक है।

4. प्रभुसत्ता : प्रभुसत्ता शब्द लैटिन भाषा के सुपरनेस शब्द से उपजा है जिसका अर्थ सर्वोच्च सत्ता है। प्रभुसत्ता राज्य का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है जो इसको अन्य सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं से विशेष भिन्नता प्रदान करता है। प्रभुसत्ता के दो रूप हैं :

क. आंतरिक प्रभुसत्ता : आंतरिक प्रभुसत्ता का अर्थ है कि राज्य अपने क्षेत्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं से श्रेष्ठ है और सभी के लिए राज्य की आज्ञा का पालन आवश्यक है। जो व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन नहीं करता, राज्य उसे दंड देने की शक्ति रखता है।

ख. बाह्य प्रभुसत्ता : बाह्य प्रभुसत्ता का अर्थ है कि राज्य बाह्य नियंत्रण से स्वतंत्र है। यदि कोई राज्य किसी अन्य राज्य के अधीन है तो उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि यदि राज्य अन्य देशों से संबंध स्थापित करके कुछ प्रतिबंधों को स्वीकार करता है लेकिन इससे उसकी प्रभुसत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

राज्य के कुछ अन्य महत्वपूर्ण तत्व : जनसंख्या, भूमि, सरकार और प्रभुसत्ता के बिना राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इन आधारभूत तत्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण तत्व भी माने जाते हैं। ये तत्व हैं :

1. स्थिरता : राज्य स्थायी होता है। स्थिरता इसका एक महत्वपूर्ण तत्व है। यदि एक राज्य किसी अन्य राज्य की भूमि को अपने अधिकार में ले ले तो दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता समाप्त हो जाएगी। पराजित राज्य के लोग उस विजेता राज्य के सदस्य बन जाएंगे। अर्थात प्रभुसत्ता होने से एक राज्य का नाम मिट सकता है, परन्तु उसके लोग किसी न किसी राज्य के सदस्य अवश्य बने रहेंगे।

2. समानता : प्रत्येक राज्य अपने-अपने क्षेत्र में सर्वशक्तिमान होता है और किसी विदेशी नियंत्रण के अधीन नहीं होता। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस जैसे महान देशों का यद्यपि बहुत प्रभाव है, परन्तु राज्य के रूप में उन्हें कोई विशेष स्थिति प्राप्त नहीं है बल्कि सभी राज्य एक समान होते हैं।

3. मान्यता : वर्तमान युग में मान्यता भी राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। कुछ विचारकों का मत है कि जब तक किसी राज्य को अन्य राज्य मान्यता प्रदान नहीं करते, वह अंतरराष्ट्रीय समुदायों का सदस्य नहीं बन सकता। ओपनहेम के अनुसार, पूर्ण राज्य का स्तर प्राप्त करने के लिए अन्य राज्यों द्वारा मान्यता दी जानी बहुत अनिवार्य है।

4. एकता : एकता को भी राज्य का एक तत्व स्वीकार किया जाता है। एकता का अभिप्राय यह है कि निश्चित भूमि पर रहने वाले लोग एक ही प्रभुता के अधीन हों। उन पर एक ही शासन और एक ही प्रकार के कानून लागू होते हों।

उपर्युक्त तत्व राज्य के आधारभूत तत्व नहीं हैं। जहां तक स्थिरता, समानता और एकता का संबंध है, प्रत्येक राज्य में ये तत्व विद्यमान हैं। इन तत्वों की पृथक रूप से विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये सभी

तत्व राज्य की प्रभुसत्ता में ही सम्मिलित हैं। जिस राज्य के पास संपूर्ण प्रभुसत्ता है उसमें स्थिरता, समानता और एकता का होना स्वाभाविक है। चीन जैसे देश को अनेक अन्य देशों ने अभी तक मान्यता प्रदान नहीं की, परन्तु इजराइल के राज्य होने की स्थिति को कोई चेतावनी नहीं दी जाती।

स्पष्ट है कि मान्यता का कोई विशेष महत्व नहीं है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि जनसंख्या, भूमि, सरकार और प्रभुसत्ता राज्य के अनिवार्य तत्व हैं तथा शेष सभी तत्व इन तत्वों में ही सम्मिलित हैं।

९.३ सारांश :

राजनीति शास्त्र में प्रयोग होने वाले कई ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ, भाव व परिभाषा के बारे में इस शास्त्र के सब विद्वान एक मत नहीं रखते। 'राष्ट्र' शब्द उनमें से एक है। इस आम प्रयोग होने वाले शब्द को राजनीति शास्त्र में लेखकों ने अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा है, इसलिए इस शब्द की परिभाषाएं कई प्रकार से दी गई हैं।

राष्ट्र का पूरा और ठीक अर्थ इन सब दृष्टिकोणों के मिश्रण से जुटाया जा सकता है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र ऐसे लोगों के समूह को कहते हैं जो जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, ऐतिहासिक या किसी और बात या बातों की समानता के आधार पर अपने आपको आत्मिक या मानसिक तौर पर एक समझे और इकट्ठे रहने में ही अपने जीवन और अपनी संस्कृति आदि को सुरक्षित महसूस करे।

राज्य की प्रकृति, उद्देश्य और अधिकार क्षेत्र के विषय में सभी राजनीति शास्त्रों के विचार समान नहीं हैं। इसी कारण उनकी राज्य की परिभाषाएं भी भिन्न हैं। मैक्आइवर के अनुसार, कुछ लेखक राज्य की परिभाषा केवल श्रेणी संगठन के रूप में करते हैं, कुछ अन्य विचारक इसे ऐसा संगठन मानते हैं जो किसी श्रेणी की नहीं अपितु समाज के कल्याण के लिए है। कुछ विचारक इसे शक्ति का और कुछ जन कल्याण का प्रतीक मानते हैं। कुछ इसे राष्ट्र के समान और कुछ अन्य राष्ट्रीयता को अस्थायी या अनावश्यक मानते हैं।

आंतरिक प्रभुसत्ता का अर्थ है कि राज्य अपने क्षेत्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं से श्रेष्ठ है और सभी के लिए राज्य की आज्ञा का पालन आवश्यक है। जो व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन नहीं करता, राज्य उसे दंड देने की शक्ति रखता है।

बाह्य प्रभुसत्ता का अर्थ है कि राज्य बाह्य नियंत्रण से स्वतंत्र है। यदि कोई राज्य किसी अन्य राज्य के अधीन है तो उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि यदि राज्य अन्य देशों से संबंध स्थापित करके कुछ प्रतिबंधों को स्वीकार करता है लेकिन इससे उसकी प्रभुसत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

९.४ सूचक शब्द :

राज्य तथा राष्ट्र : राजनीति शास्त्र में प्रयोग होने वाले कई ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ, भाव व परिभाषा के बारे में इस शास्त्र के सब विद्वान एक मत नहीं रखते। 'राष्ट्र' शब्द उनमें से एक है। इस आम प्रयोग होने वाले शब्द को राजनीति शास्त्र में लेखकों ने अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा है, इसलिए इस शब्द की परिभाषाएं कई प्रकार से दी गई हैं।

राज्य के अनविार्य तत्व : राज्य के चार आवश्यक तत्व हैं - जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार तथा प्रभुसत्ता। इनके मिलने से ही राज्य का निर्माण होता है। इनमें से यदि एक भी तत्व का अभाव हो तो राज्य नहीं बन सकता। परन्तु राष्ट्र के निर्माण के लिए कोई तत्व अनिवार्य नहीं है। राष्ट्र तो सांस्कृतिक और आध्यात्मिक

भावनाओं द्वारा संगठित समुदाय है। राष्ट्र का निर्माण लोगों की चेतना से ही होता है।

एकता की भावना : राष्ट्र उस जनसमुदाय को ही कहा जा सकता है जिसमें एकता या ऐक्य की भावना हो। राष्ट्र में लोगों के समान धर्म, समान भाषा, समान संस्कृति, समान इतिहास, समान विचारधारा और समान इच्छाओं के आधार पर उत्पन्न एकता की भावना का होना आवश्यक है, परन्तु राज्य के लोगों में एकता की भावना का होना आवश्यक नहीं। राज्य के लिए लोगों का राजनीतिक दृष्टि से संगठित होना ही आवश्यक है।

निश्चित भू-भाग : राज्य एक प्रादेशिक संस्था है, परन्तु राष्ट्र के लिए निश्चित भूभाग का होना आवश्यक नहीं। राष्ट्र का संबंध लोगों में उत्पन्न एकता की भावना से है, किसी निश्चत प्रदेश से नहीं। राष्ट्रीय भावना प्रादेशिक सीमाओं में बंधकर नहीं रह सकती। वह तो उसे फांद कर आगे भी बढ़ सकती है और यह भी संभव है कि यह उस निश्चित प्रदेश में भी पूरी तरह से न फैल सके। एक राष्ट्र के सदस्य एक छोटे से स्थान पर भी सीमित रह सकते हैं और समस्त संसार में भी फैले हो सकते हैं।

एक राज्य में कई राष्ट्र और एक राष्ट्र में कई राज्य : वैसे तो आधुनिक युग में एक राष्ट्र-एक राज्य के सिद्धांत पर जोर दिया जाता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि एक राज्य में एक ही राष्ट्र हो या एक राष्ट्र में एक राज्य की प्रभुसत्ता दो या इससे भी अधिक राष्ट्रों पर लागू हो सकती है जैसे कि अस्ट्रिया और हंगरी को मिलकार एक बार एक राज्य स्थापित कर दिया गया था, परन्तु फिर भी उनके तो अलग-अलग राष्ट्र रहे। इसके विपरीत एक राष्ट्र दो राज्यों में फैला हुआ हो सकता है।

प्रभुसत्ता : राज्य के पास प्रभुसत्ता होती है और इसका होना उसके अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। इसके बिना राज्य का निर्माण हो ही नहीं सकता। प्रभुसत्ता के कारण पशुबल या पाशविक शक्ति होती है जिसका प्रयोग वह अपने सदस्यों पर कर सकता है परन्तु राष्ट्र के पास कोई प्रभुसत्ता नहीं होती। राष्ट्र स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और यह प्राप्त होने पर प्रभुसत्ता की भी प्राप्ति हो जाती है, परन्तु इसके साथ ही वह राज्य बन जाता है जो इस प्रभुसत्ता का प्रयोग करता है।

राज्य : राज्य की प्रकृति, उद्देश्य और अधिकार क्षेत्र के विषय में सभी राजनीति शास्त्रों के विचार समान नहीं हैं। इसी कारण उनकी राज्य की परिभाषाएं भी भिन्न हैं। मैक्आइवर के अनुसार, कुछ लेखक राज्य की परिभाषा केवल श्रेणी संगठन के रूप में करते हैं, कुछ अन्य विचारक इसे ऐसा संगठन मानते हैं जो किसी श्रेणी की नहीं अपितु समाज के कल्याण के लिए है। कुछ विचारक इसे शक्ति का और कुछ जन कल्याण का प्रतीक मानते हैं। कुछ इसे राष्ट्र के समान और कुछ अन्य राष्ट्रीयता को अस्थायी या अनावश्यक मानते हैं।

९.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. राज्य व राष्ट्र की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।
२. राज्य व राष्ट्र की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
३. राज्य व राष्ट्र के विभिन्न तत्वों की चर्चा करें।
४. राज्य व राष्ट्र के सिद्धांत की चर्चा करें।

९.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।

भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

सरकार के रूप – एकात्मक और संघात्मक

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम सरकार के एकात्मक व संघात्मक रूप के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही एकात्मक सरकार की परिभाषाएं , एकात्मक सरकार की विशेषताएं, एकात्मक सरकार के गुण, एकात्मक सरकार के दोष, संघात्मक सरकार की परिभाषाएं, संघात्मक सरकार की विशेषताएं, संघात्मक सरकार के गुण, संघात्मक सरकार के अवगुण, संघात्मक व एकात्मक सरकार के गुण–अवगुणों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

१०.० उद्देश्य
१०.१ परिचय
१०.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
१०.२.१ सरकार का एकात्मक व संघात्मक रूप
१०.२.२ एकात्मक सरकार की परिभाषाएं
१०.२.३ एकात्मक सरकार की विशेषताएं
१०.२.४ एकात्मक सरकार के गुण
१०.२.५ एकात्मक सरकार के दोष
१०.२.६ संघात्मक सरकार की परिभाषाएं
१०.२.७ संघात्मक सरकार की विशेषताएं
१०.२.८ संघात्मक सरकार के गुण
१०.२.९ संघात्मक सरकार के अवगुण
१०.२.१० संघात्मक व एकात्मक सरकार के गुण–अवगुणों का तुलनात्मक अध्ययन
१०.३ सारांश
१०.४ सूचक शब्द
१०.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
१०.६ संदर्भित पुस्तकें

१०.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

सरकार के एकात्मक व संघात्मक रूप से परिचित होना
एकात्मक सरकार की परिभाषाओं के बारे में जानना
एकात्मक सरकार की विशेषताएं पता करना
एकात्मक सरकार के गुण जानना
एकात्मक सरकार के दोष से परिचित होना
संघात्मक सरकार की परिभाषाएं जानना
संघात्मक सरकार की विशेषताएं पता करना
संघात्मक सरकार के गुणों से परिचित होना
संघात्मक सरकार के अवगुण जानना
संघात्मक व एकात्मक सरकार के गुण–अवगुणों का तुलनात्मक अध्ययन करना

१०.१ परिचय :

लोकतंत्र में सरकार दो प्रकार की हो सकती है–पहली जिसमें सारी शक्तियों का एक ही केंद्र हो तथा दूसरे जिसमें प्रांतीय सरकारों को अलग शक्तियां मिली होती हैं और केंद्र सरकार उन्हें नहीं छीन सकती। दोनों प्रकार की सरकार के अपने–अपने गुण हैं तो अपने–अपने अवगुण भी हैं। दोनों में कुछ समानताएं पाई जाती हैं तो कुछ असमानताएं भी होती हैं। यह भी राष्ट्र विशेष पर निर्भर करता है कि वह अपने लिए किस प्रकार की सरकार को स्वीकार करता है।

इस अध्याय में हम पहले एकात्मक सरकार का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं, गुण तथा दोषों का अध्ययन करेंगे और बाद में संघात्मक सरकार के।

१०.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

सरकार का एकात्मक व संघात्मक रूप
एकात्मक सरकार की परिभाषाएं
एकात्मक सरकार की विशेषताएं
एकात्मक सरकार के गुण
एकात्मक सरकार के दोष
संघात्मक सरकार की परिभाषाएं
संघात्मक सरकार की विशेषताएं
संघात्मक सरकार के गुण
संघात्मक सरकार के अवगुण

संघात्मक व एकात्मक सरकार के गुण–अवगुणों का तुलनात्मक अध्ययन

१०.२.१ सरकार के रूप - एकात्मक और संघात्मक :

आधुनिक समय में सरकार का संगठन या तो संघात्मक या एकात्मक आधार पर किया जाता है। आधुनिक राज्यों की जनसंख्या और क्षेत्रफल इतने विस्तृत हो गए हैं कि शासन की सुविधा के लिए राज्य को कई इकाइयों में विभाजित किया जाता है, जिन्हें प्रांत कहा जाता है। इन इकाइयों का सरकारों में किस प्रकार का संबंध है। इनके आधार पर सरकार के दो भेद पाए जाते हैं : एकात्मक और संघात्मक।

१०.२.२ एकात्मक सरकार की परिभाषाएं :

एकात्मक सरकार की परिभाषा डॉक्टर फाइनर के अनुसार, एकात्मक सरकार वह प्रणाली है जिसमें समस्त शक्तियां केवल एक केंद्र को अर्पित की जाएं और संपूर्ण क्षेत्र में उस केंद्र की इच्छा और उसके अधिकार कानूनी पक्ष से सर्वशक्तिमान हों।

मिस्टर विलोबी के अनुसार, एकात्मक सरकार वह सरकार है जिसमें पहले सभी शक्तियां एक केंद्रीय सरकार को प्रदान की जाएं और वह सरकार जैसे ही उचित समझे उन शक्तियों का विभाजन प्रदेशों में करे और वह इस संबंध में पूर्ण स्वतंत्र भी हो।

१०.२.३ एकात्मक सरकार की विशेषताएं :

1. एकल प्रशासन : इसका भावार्थ यह है कि इसमें एक ही सर्वशक्तिमान केंद्रीय सरकार होगी, एक ही विधानमंडल और एक ही कार्यपालिका। प्रांतों के लिए भिन्न–भिन्न विधानमंडल नहीं होते। जापान, चीन आदि में एकात्मक सरकारें हैं।

2. शक्तियों का विभाजन असंभव : इस शासन प्रणाली में समस्त शक्तियां केंद्रीय सरकार के पास होती हैं और अलग–अलग स्वाधीन प्रांतों का अस्तित्व नहीं होता।

3. एकल नागरिकता : जहां एकात्मक सरकार होगी वहां संघात्मक राज्य की तरह द्विक नागरिकता नहीं होगी, अपितु सभी नागरिकों के लिए एक ही नागरिकता होगी जैसे जापान व फ्रांस में है।

4. लिखित या अलिखित संविधान : जहां एकात्मक सरकार होगी वहां संविधान लिखित भी हो सकता है और अलिखित भी। जिस प्रकार इंग्लैंड में एकात्मक सरकार है और संविधान अलिखित है और फ्रांस में भी एकात्मक सरकार है परन्तु संविधान लिखित है।

5. कठोर या लचीला संविधान : एकात्मक सरकार में संविधान भी कठोर हो सकता है और लचीला भी। जैसे इंग्लैंड का संविधान लचीला है, परन्तु फ्रांस का कुछ कठोर है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि एकात्मक सरकार में समस्त शक्ति केंद्र के पास होती है। राज्य प्रबंध की सुविधा हेतु प्रांत अथवा इकाइयां बनाई जा सकती हैं, परन्तु इन इकाइयों का अस्तित्व संवैधानिक नहीं होता और सरकार इन्हें कभी भी समाप्त कर सकती है।

१०.२.४ एकात्मक सरकार के गुण :

1. स्थायी राज्य प्रबंध : एकात्मक सरकार में राज्य सुदृढ़ होता है। इसका कारण है कि समस्त शक्तियां केंद्र के पास होती हैं। केंद्र इन शक्तियों का प्रयोग दृढ़ता से कर सकता है।

2. शासन की एकरूपता : इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि संपूर्ण देश के लिए एक जैसी नीतियों का निर्माण किया जाता है और संपूर्ण देश में एक ही कानून लागू होता है।

3. शासन संगठन सरल होता है : इस शासन प्रणाली में केंद्र और प्रांत में शक्तियों का विभाजन न होने के कारण कोई क्षेत्र सीमित नहीं होता अपितु केंद्र सरकार प्रत्येक विषय पर कानून बना सकती है।

4. लचीला शासन : एकात्मक सरकार में संविधान प्राय: लचीला होता है। समय की मांग के अनुसार आवश्यक परिवर्तन संविधान में किए जा सकते हैं।

5. राष्ट्रीय एकता : एकात्मक सरकार में राष्ट्रीय एकता स्थिर रहती है। समस्त देश के लिए एक विधानमंडल, एक कार्यपालिका और न्यायपालिका होने के कारण व्यक्तियों में एकता की भावना उत्पन्न होती है।

6. कम खर्चीला शासन : एकात्मक सरकार में एक ही विधानपालिका, एक ही कार्यपालिका और एक ही न्यायपालिका होने के कारण यह शासन कम खर्चीला होता है।

7. संकटकाल में लाभदायक : संकटकाल का सामना करने के लिए निर्णय को तुरंत और दृढ़ता के साथ लागू करना बहुत आवश्यक होता है। दृढ़ निर्णय केवल एकात्मक शासन प्रणाली में ही संभव हैं।

8. छोटे राज्यों के लिए उचित शासन प्रणाली : जिन राज्यों की जनसंख्या और क्षेत्र कम होते हैं, उनके लिए यह पूर्णत: उचित शासन-प्रणाली है।

१०.२.५ एकात्मक सरकार के दोष :

1. कार्य की अधिकता : राज्य को नागरिकों की सुरक्षा करने और देश में शांति स्थापित करने के लिए अतिरिक्त नागरिकों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के लिए अनेक कार्य करने पड़ते हैं। इसी कारण राज्य के कार्य बहुत बढ़ गए हैं।

2. शक्तियों का केंद्रीयकरण अच्छे शासन के लिए हानिकारक : शक्तियों का केंद्रीयकरण लोकतंत्र के हितों के अनुकूल नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से सरकार में निपुणता नहीं आ सकती।

3. स्थानीय आवश्यकताएं उचित रूप से पूर्ण नहीं होती : एकात्मक सरकार में केंद्र सरकार को न तो स्थानीय आवश्यकताओं का ज्ञान होता है और न ही उसके पास स्थानीय समस्याओं को निपटाने के लिए आवश्यक समय बचता है।

4. नौकरशाही का प्रभाव : एकात्मक सरकार में प्रांतीय शासन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा नहीं किया जाता, अपितु सरकार द्वारा नियुक्त किए गए सरकार अधिकारी प्रांतीय शासन का प्रबंध करते हैं।

5. बड़े राज्यों के लिए अनुकूल नहीं : जिन राज्यों की जनसंख्या व क्षेत्रफल बहुत विशाल है, उनके लिए एकात्मक सरकार समुचित शासन प्रणाली नहीं है।

6. शासन पर बहुमत जाति के लोगों के अधिकार की संभावना : एकात्मक सरकार से यह संभव हो सकता है कि बहुमत जाति अथवा धर्म के लोग केंद्रीय सरकार पर अधिकार कर लें।

संक्षेप में हम कहते हैं कि एकात्मक सरकार उन राज्यों के लिए जिनका क्षेत्रफल कम है, जनसंख्या अधिक नहीं है और जातियों या धर्मों के लोग नहीं रहते, एक समुचित शासन प्रणाली है।

१०.२.६ संघात्मक सरकार :

डॉक्टर फाइनर के अनुसार, संघात्मक राज्य वह राज्य है जिसमें अधिकार और शक्ति का कुछ भाग स्थानीय राज्यों को दिया जाए, दूसरा भाग संघात्मक सरकार को दिया जाए जो अपने स्थानीय राज्यों की इच्छा से बनी है।

डॉक्टर गार्नर के शब्दों में, संघ एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें केंद्र और स्थानीय सरकारें एक ही शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में जिसको संविधान अथवा संसद के कानून निश्चित करते हैं, सर्वोच्च होती हैं।

अत: संघात्मक सरकार वह शासन प्रणाली है जिसमें संविधान द्वारा केंद्र और उसके राज्यों के मध्य सरकार की संपूर्ण शक्तियों का विभाजन किया गया हो और राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होकर कार्य करती हों।

१०.२.७ संघात्मक सरकार की विशेषताएं :

1. द्विक शासन : संघात्मक सरकार में द्विक शासन होता है : एक केंद्रीय शासन और द्वितीय स्थानीय शासन। संघ और स्थानीय सरकारों के अधिकार संविधान द्वारा निश्चित होते हैं।

2. शक्तियों का विभाजन : संघात्मक प्रणाली में शक्तियां संविधान द्वारा केंद्र और प्रांतीय सरकारों में विभक्त होती हैं परन्तु प्रभुसत्ता विभाजित नहीं की जा सकती।

3. लिखित संविधान : संघात्मक सरकार में संविधान सदैव लिखित होता है, क्योंकि लिखित संविधान में शक्तियों का विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि शक्तियों का विभाजन न किया जाए तो केंद्रीय सरकार और राज्य सरकारों में विवादों का निर्णय करना बहुत कठिन हो जाएगा।

4. कठोर संविधान : संघात्मक सरकार में संविधान का कठोर होना आवश्यक है। केंद्रीय सरकार को स्वेच्छा से इसमें संशोधन का अधिकार नहीं होता। राज्य सरकारों से परामर्श के बाद ही संविधान में संशोधन हो सकता है।

5. संविधान की सर्वोच्चता : संघात्मक सरकारों में संविधान सर्वोच्च होता है। न तो केंद्रीय सरकार और न ही राज्य सरकारें ऐसा कोई कानून बना सकतीं जो संविधान की किसी धारा के विरुद्ध हो। स्वतंत्र न्यायपालिका ऐसे कानून को रद्द कर देती है जो संविधान की धारा के विरुद्ध हो।

6. न्यायपालिका की श्रेष्ठता : संघात्मक सरकार में न्यायपालिका की सर्वोच्चता आवश्यक है।

7. द्विक नागरिकता : कई संघात्मक शासन-प्रणाणियों में व्यक्तियों को द्विक नागरिकता दी गई है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिकों को संपूर्ण राज्य की नागरिकता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उस प्रांत की भी नागरिकता प्राप्त होती है जहां वह रहता है।

8. द्वि सदनीय प्रणाली : द्वि सदनीय प्रणाली संघात्मक सरकार का कोई लक्षण नहीं है, परन्तु समस्त संघात्मक शासन-प्रणाली में द्वि-सदनीय प्रणाली ही अपनाई गई है, जैसे - संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत यूनियन, कनाडा, भारत आदि में। निम्न सदन जनता का प्रतिनिधित्व करता है और ऊपरी सदन प्रांतों का प्रतिनिधित्व करता है।

१०.२.८ संघात्मक सरकार के गुण :

1. राष्ट्रीय एकता और स्वशासन का सम्मिश्रण : संघात्मक सरकार की यह विशेषता है कि इसमें राष्ट्रीय एकता बनी रहती है और इकाइयों के लिए स्वशासन भी।

2. स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति : प्रत्येक राज्य की स्थानीय आवश्यकताएं भिन्न-भिन्न होती हैं। उनकी पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न ढंग अपनाए जा सकते हैं क्योंकि एक ही ढंग द्वारा सभी राज्यों की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती।

3. राजनीतिक शिक्षा : प्रत्येक नागरिक प्रांतीय राज्य प्रबंध में भाग लेकर ऐसा दृष्टिकोण ग्रहण करता है जो उसे राष्ट्रीय समस्याओं को समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इन सभी बातों से नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है, जो लोकतंत्र की सफलता के लिए अत्यंत आवश्य है।

4. कुशल शासन : संघात्मक सरकार एक योग्य शासन स्थापित करती है। इसका कारण यह है कि शक्तियों के विभाजन द्वारा दोनों सरकार अपने-अपने निश्चित क्षेत्र के अंतर्गत कार्य करती हैं।

5. बड़े राज्यों के लिए बहुत लाभदायक : बड़े राज्यों में संघात्मक विधि लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

१०.२.९ संघात्मक सरकार के अवगुण :

1. निर्बल शासन : शक्तियों के विभाजन के कारण शासन में दृढ़ता नहीं आ सकती। शक्तियों के विभाजन से प्रभुसत्ता व्यक्त करने के दो साधन हो जाते हैं। प्राय: केंद्र और इकाइयों में परस्पर विवाद संघ प्रणाली में होते रहते हैं।

2. शासन में समानता नहीं होती : संघात्मक विधि में इकाइयां निश्चित क्षेत्र में स्वेच्छा से कानून बनाने में स्वतंत्र होती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक प्रांत में भिन्न-भिन्न कानून पारित होते हैं।

3. द्विक नागरिका, द्विक निष्ठा को जन्म देती है : द्विक नागरिकता का यह दोष है कि यह व्यक्ति के मन में प्रांत और देश के प्रति दो निष्ठाओं को जन्म देती है।

4. खर्चीला शासन : संघात्मक सरकार में द्विक शासन होने के कारण अधिक धन खर्च होता है। चुनाव का कार्य इतना अधिक हो जाता है कि अधिकांश धन इसका प्रबंध करने के लिए व्यय किया जाता है।

5. केंद्र और प्रांतीय सरकारों में विवादों की संभावना : यद्यपि संघात्मक सरकार में केंद्र और प्रांतीय सरकारों के अधिकार क्षेत्र निश्चित होते हैं, परन्तु फिर भी केंद्र और प्रांतीय सरकारों में विवाद उत्पन्न होने की संभावना होती है।

6. राष्ट्रीय एकता निर्बल हो सकती है : संघात्मक प्रणाली में राष्ट्रीय एकता को धक्का लगता है, क्योंकि लोगों में प्रांतवाद इतना बल ग्रहण कर लेता है कि राज्य सरकारें राष्ट्रीय हितों को भूलकर प्रांतीय उन्नति की ओर ही ध्यान देती हैं।

संक्षेप में, संघात्मक शासन-प्रणाली में दोष है, पर फिर भी इसके अधिक लाभदायक होने से अधिकांश देशों ने ऐसी प्रणाली को अपना लिया है।

संघात्मक और एकात्मक सरकारों में अंतर : संघात्मक और एकात्मक सरकारों में निम्न अंतर हो सकते हैं :

1. शासन के ढांचे के प्रति : संघात्मक शासन प्रणाली में दो प्रकार की सरकारें होती हैं- केंद्रीय व प्रांतीय,

लेकिन एकात्मक शासन प्रणाली में एक ही केंद्रीय सरकार होती है।

2. शक्तियों के विभाजन के प्रति : संघात्मक प्रणाली में केंद्र और राज्यों में शक्तियों का विभाजन किया जाता है। राष्ट्रीय महत्व के विषय केंद्र सरकार व प्रांतीय महत्व के विषय राज्य सरकार के अधीन होते हैं। इसके विपरीत एकात्मक प्रणाली में राज्य सरकार नहीं होती।

3. संविधान के लिखित रूप के संबंध में : संघात्मक प्रणाली में संविधान का लिखित रूप में होना आवश्यक है, लेकिन एकात्मक प्रणाली में संविधान का लिखित होना आवश्यक नहीं है।

4. संविधान की संशोधन विधि : संघात्मक प्रणाली में कठोर संविधान का होना बहुत आवश्यक है। इसमें संशोधन करने का ढंग साधारण कानून पास करने के ढंग से बिल्कुल अलग होता है। परन्तु एकात्मक प्रणाली में संविधान का कठोर होना आवश्यक नहीं।

5. न्यायपालिका की स्वतंत्रता और शक्तियां : संघात्मक प्रणाली में न्यायपालिका के स्वतंत्र होने के साथ-साथ न्यायिक पुनरावलोकन का भी अधिकार होता है। परन्तु एकात्मक प्रणाली में न्यायपालिका को इतनी व्यापक शक्तियां देना कोई आवश्यक नहीं है।

6. नागरिकता के प्रति :संघात्मक प्रणाली में व्यक्ति को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है। इसके विपरीत एकात्मक प्रणाली में दोहरी नागरिकता हो ही नहीं सकती।

7. विधानमंडल के संगठन के प्रति : संघात्मक प्रणाली में विधानमंडल का संगठन दो सदनों में किया जाता है। परन्तु एकात्मक प्रणाली में विधानमंडल का संगठन दो सदनों में होना कोई आवश्यक नहीं है। इस प्रणाली में अलग राज्य नहीं होते इसलिए किसी विशेष सदन द्वारा उनकी विशेष प्रतिनिधित्व की कोई समस्या नहीं होती।

एकात्मक सरकार और संघात्मक सरकार के गुणों और अवगुणों का तुलनात्मक अध्ययन : दोनों प्रणालियों में संगठन और सैद्धांतिक पक्ष से अनेक अंतर और भेद हैं। हम एक प्रणाली के गुणों और दूसरी के अवगुणों की तुलना करेंगे :

१०.२.१० एकात्मक सरकार के गुण और संघात्मक सरकार के अवगुण :

1. प्रशासन के विषय में : एकात्मक सरकार में सभी शक्तियां एक ही केंद्रीय सरकार के पास होती हैं। अत: एक दृढ़ और कुशल शासन प्रबंध संभव होता है। इसके अतिरिक्त एक ही शक्तिशाली केंद्रीय सरकार का अस्तित्व होने के कारण संपूर्ण शासन में एकरूपता होती है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में दो सरकारों का अस्तित्व और अलग-अलग अधिकार क्षेत्र होने के कारण संपूर्ण देश में शासन और नीतियों में एकरूपता नहीं होती।

2. राष्ट्रीय एकता की दृष्टि में : एकात्मक प्रणाली में संपूर्ण देश के लिए एक ही विधानमंडल, एक ही कार्यपालिका और एक ही न्यायपालिका होने के कारण एकता की भावना उत्पन्न होती है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में राष्ट्रीय एकता की बजाय क्षेत्रीय भावना पैदा होने की भावना अधिक होती है।

3. व्यय के पक्ष में : एक ही शासन प्रबंध होने के कारण एकात्मक सरकार कम खर्चीली प्रणाली मानी गई है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में द्विक शासन होने के कारण इस पर अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है।

4. विदेशी संबंधों के संचालन के विषय में : एकात्मक प्रणाली में केंद्रीय सरकार दृढ़ता और आसानी से विदेश-नीति को कार्यान्वित कर सकती है। संघात्मक प्रणाली में केंद्रीय सरकार अपने विदेश संबंधों का संचालन स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर सकती क्योंकि उसे कुछ विषयों के संबंध में प्रांतीय सरकारों की सहमति प्राप्त करनी होती

है।

5. संकटकाल का सामना करने की योग्यता : एकात्मक प्रणाली एक ही शक्तिशाली केंद्रीय सरकार होने के कारण निर्णय तत्काल ले सकती है तथा उन्हें कठोरता से लागू भी कर सकती है। अत: इसे संकट का सामना करने के लिए उपयुक्त सरकार माना जाता है। परन्तु संघात्मक प्रणाली में केंद्र और राज्य सरकारों में शक्तियों का विभाजन होने के कारण तत्काल निर्णय लेना और उन्हें कठोरता से लागू करने की संभावना कम होती है।

6. दायित्व निश्चित करने के विषय में : एकात्मक सरकार में किसी कार्य या नीति के विषय में दायित्व निश्चित करना बहुत आसान होता है। परन्तु इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में किसी नीति या कार्य के विषय में दायित्व निश्चित करना इतना आसान नहीं है।

7. शासन में स्थिरता के पक्ष में : शासन में स्थिरता के पक्ष में एकात्मक सरकार अधिक गुणकारी है। परन्तु इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में केंद्र व राज्य सरकारों में विवाद की संभावना किसी कारण और किसी भी समय उत्पन्न हो सकती है। इस कारण संघात्मक प्रणाली में स्थिर शासन की स्वाभाविक ही कम संभावना होगी।

इससे स्पष्ट है कि इन दोनों प्रणाली में कुछ सैद्धांतिक गुण भी हैं और अवगुण भी हैं, परन्तु व्यवहार में इन अवगुणों को दूर करना कोई कठिन समस्या नहीं है। जहां कभी भी दोनों में से कोई भी प्रणाली ग्रहण की जाती है, वहां उस प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए उचित कदम पहले ही उठा लिए जाते हैं। किसी देश की विरोध परिस्थितियों को सम्मुख रखकर ही शासन प्रणाली का चयन किया जाता है और आवश्यकता के अनुसार उस प्रणाली को लाभप्रद बनाने के लिए आवश्यक व्यवस्थाएं कर ली जाती हैं।

१०.३ सारांश:

एकात्मक सरकार वह प्रणाली है जिसमें समस्त शक्तियां केवल एक केंद्र को अर्पित की जाएं और संपूर्ण क्षेत्र में उस केंद्र की इच्छा और उसके अधिकार कानूनी पक्ष से सर्वशक्तिमान हों। एकात्मक सरकार वह सरकार है जिसमें पहले सभी शक्तियां एक केंद्रीय सरकार को प्रदान की जाएं और वह सरकार जैसे ही उचित समझे उन शक्तियों का विभाजन प्रदेशों में करे और वह इस संबंध में पूर्ण स्वतंत्र भी हो।

डॉक्टर फाइनर के अनुसार, संघात्मक राज्य वह राज्य है जिसमें अधिकार और शक्ति का कुछ भाग स्थानीय राज्यों को दिया जाए, दूसरा भाग संघात्मक सरकार को दिया जाए जो अपने स्थानीय राज्यों की इच्छा से बनी है।

डॉक्टर गार्नर के शब्दों में, संघ एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें केंद्र और स्थानीय सरकारें एक ही शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में जिसको संविधान अथवा संसद के कानून निश्चित करते हैं, सर्वोच्च होती हैं। अत: संघात्मक सरकार वह शासन प्रणाली है जिसमें संविधान द्वारा केंद्र और उसके राज्यों के मध्य सरकार की संपूर्ण शक्तियों का विभाजन किया गया हो और राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होकर कार्य करती हों।

एकात्मक सरकार में सभी शक्तियां एक ही केंद्रीय सरकार के पास होती हैं। अत: एक दृढ़ और कुशल शासन प्रबंध संभव होता है। इसके अतिरिक्त एक ही शक्तिशाली केंद्रीय सरकार का अस्तित्व होने के कारण संपूर्ण शासन में एकरूपता होती है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में दो सरकारों का अस्तित्व और अलग-अलग अधिकार क्षेत्र होने के कारण संपूर्ण देश में शासन और नीतियों में एकरूपता नहीं होती।

एकात्मक प्रणाली में संपूर्ण देश के लिए एक ही विधानमंडल, एक ही कार्यपालिका और एक ही

न्यायपालिका होने के कारण एकता की भावना उत्पन्न होती है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में राष्ट्रीय एकता की बजाय क्षेत्रीय भावना पैदा होने की भावना अधिक होती है।

एक ही शासन प्रबंध होने के कारण एकात्मक सरकार कम खर्चीली प्रणाली मानी गई है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में द्विक शासन होने के कारण इस पर अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है।

एकात्मक प्रणाली में केंद्रीय सरकार दृढ़ता और आसानी से विदेश-नीति को कार्यान्वित कर सकती है। संघात्मक प्रणाली में केंद्रीय सरकार अपने विदेश संबंधों का संचालन स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर सकती क्योंकि उसे कुछ विषयों के संबंध में प्रांतीय सरकारों की सहमति प्राप्त करनी होती है।

१०.४ सूचक शब्द:

एकात्मक सरकार : एकात्मक सरकार वह प्रणाली है जिसमें समस्त शक्तियां केवल एक केंद्र को अर्पित की जाएं और संपूर्ण क्षेत्र में उस केंद्र की इच्छा और उसके अधिकार कानूनी पक्ष से सर्वशक्तिमान हों। मिस्टर विलोबी के अनुसार, एकात्मक सरकार वह सरकार है जिसमें पहले सभी शक्तियां एक केंद्रीय सरकार को प्रदान की जाएं और वह सरकार जैसे ही उचित समझे उन शक्तियों का विभाजन प्रदेशों में करे और वह इस संबंध में पूर्ण स्वतंत्र भी हो।

संघात्मक सरकार : संघात्मक राज्य वह राज्य है जिसमें अधिकार और शक्ति का कुछ भाग स्थानीय राज्यों को दिया जाए, दूसरा भाग संघात्मक सरकार को दिया जाए जो अपने स्थानीय राज्यों की इच्छा से बनी है। डॉक्टर गार्नर के शब्दों में, संघ एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें केंद्र और स्थानीय सरकारें एक ही शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में जिसको संविधान अथवा संसद के कानून निश्चित करते हैं, सर्वोच्च होती हैं।

एकात्मक और संघात्मक सरकार में प्रशासन : एकात्मक सरकार में सभी शक्तियां एक ही केंद्रीय सरकार के पास होती हैं। अत: एक दृढ़ और कुशल शासन प्रबंध संभव होता है। इसके अतिरिक्त एक ही शक्तिशाली केंद्रीय सरकार का अस्तित्व होने के कारण संपूर्ण शासन में एकरूपता होती है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में दो सरकारों का अस्तित्व और अलग-अलग अधिकार क्षेत्र होने के कारण संपूर्ण देश में शासन और नीतियों में एकरूपता नहीं होती।

एकात्मक और संघात्मक सरकार में राष्ट्रीय एकता : एकात्मक प्रणाली में संपूर्ण देश के लिए एक ही विधानमंडल, एक ही कार्यपालिका और एक ही न्यायपालिका होने के कारण एकता की भावना उत्पन्न होती है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में राष्ट्रीय एकता की बजाय क्षेत्रीय भावना पैदा होने की भावना अधिक होती है।

एकात्मक और संघात्मक सरकार में व्यय : एक ही शासन प्रबंध होने के कारण एकात्मक सरकार कम खर्चीली प्रणाली मानी गई है। इसके विपरीत संघात्मक प्रणाली में द्विक शासन होने के कारण इस पर अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है।

एकात्मक और संघात्मक सरकार में विदेशी संबंध : एकात्मक प्रणाली में केंद्रीय सरकार दृढ़ता और आसानी से विदेश-नीति को कार्यान्वित कर सकती है। संघात्मक प्रणाली में केंद्रीय सरकार अपने विदेश संबंधों का संचालन स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर सकती क्योंकि उसे कुछ विषयों के संबंध में प्रांतीय सरकारों की सहमति प्राप्त करनी होती है।

१०.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. सरकार की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।

२. सरकार की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।

३. सरकार के विभिन्न तत्वों की चर्चा करें।

४. सरकार के प्रकारों की चर्चा करें।

१०.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।

भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।

मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।

राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।

दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।

राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।

ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

सरकार के रूप – संसदीय व अध्यक्षात्मक

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम सरकार के संसदीय व अध्यक्षात्मक रूप के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही संसदीय सरकार की परिभाषाएं , संसदीय सरकार की विशेषताएं, संसदीय सरकार के गुण, संसदीय सरकार के दोष, अध्यक्षात्मक सरकार की परिभाषाएं, अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषताएं, अध्यक्षात्मक सरकार के गुण व अध्यक्षात्मक सरकार के दोष आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

११.० उद्देश्य
११.१ परिचय
११.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
११.२.१ सरकार का संसदीय व अध्यक्षात्मक रूप
११.२.२ संसदीय सरकार की परिभाषाएं
११.२.३ संसदीय सरकार की विशेषताएं
११.२.४ संसदीय सरकार के गुण
११.२.५ संसदीय सरकार के दोष
११.२.६ अध्यक्षात्मक सरकार की परिभाषाएं
११.२.७ अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषताएं
११.२.८ अध्यक्षात्मक सरकार के गुण
११.२.९ अध्यक्षात्मक सरकार के अवगुण
११.३ सारांश
११.४ सूचक शब्द
११.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
११.६ संदर्भित पुस्तकें

११.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

सरकार का संसदीय व अध्यक्षात्मक रूप
संसदीय सरकार की परिभाषाएं
संसदीय सरकार की विशेषताएं
संसदीय सरकार के गुण
संसदीय सरकार के दोष
अध्यक्षात्मक सरकार की परिभाषाएं
अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषताएं
अध्यक्षात्मक सरकार के गुण
अध्यक्षात्मक सरकार के अवगुण

११.१ परिचय :

कार्यपालिका और विधानपालिका के संबंधों के आधार पर सरकार के दो रूप हो सकते हैं – संसदीय और अध्यक्षात्मक। संसदीय सरकार उसे कहा जाएगा जिसमें कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति जवाबदेह होती है और जिसमें कार्यपालिका की विधानपालिका के प्रति कोई जवाबदेही न हो उसे अध्यक्षात्मक सरकार कहा जाता है। लोकतंत्र में यदि जनता चाहे तो वह ऐसी प्रणाली चुन सकती है जिसमें कार्यपालिका की जवाबदेही होती है कि विधानपालिका के अनुसार कार्य करे। इसके अलावा जनता के प्रतिनिधि पूरे देश के लिए दूसरी प्रणाली का चयन भी कर सकते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हम संसदीय सरकार की परिभाषा या अर्थ, उसकी विशेषताएं, संसदीय सरकार के गुण और दोष, अध्यक्षात्मक सरकार का अर्थ एवं परिभाषा, उसकी विशेषताएं, गुण एवं दोष आदि की विस्तार से चर्चा करेंगे।

११.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

सरकार का संसदीय व अध्यक्षात्मक रूप
संसदीय सरकार की परिभाषाएं
संसदीय सरकार की विशेषताएं
संसदीय सरकार के गुण
संसदीय सरकार के दोष
अध्यक्षात्मक सरकार की परिभाषाएं
अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषताएं
अध्यक्षात्मक सरकार के गुण
अध्यक्षात्मक सरकार के अवगुण

११.२.१ सरकार के रूप - संसदीय व अध्यक्षात्मक

विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सरकार के तीन मुख्य अंग हैं। विधानपालिका और कार्यपालिका में किस प्रकार के संबंध हैं? इस आधार पर आधुनिक सरकार के दो रूप माने जाते हैं - संसदीय और अध्यक्षात्मक। कार्यपालिका यदि विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी है और दोनों में निकटतम संबंध है तो उसको संसदीय सरकार कहा जाता है। यदि कार्यपालिका विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं है और दोनों में कोई घनिष्ठ संबंध नहीं, अपितु दोनों एक-दूसरे से पूर्णतया अलग हैं तो उसे अध्यक्षात्मक सरकार कहा जाता है।

११.२.२ संसदीय सरकार की परिभाषा :

डाक्टर गार्नर ने संसदीय सरकार की परिभाषा इस प्रकार दी है, 'संसदीय सरकार वह शासन प्रणाली है जिसमें यथार्थ कार्यपालिका का अभिप्राय मंत्रिमंडल, विधानपालिका या उसके एक लोकप्रिय सदन के लिए और अंत में निर्वाचकों के प्रति अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी हो, जबकि राज्य का मुखिया, जोकि नाममात्र का मुखिया होता है, वह अनुत्तरदायी होता है।' संसदीय शासन प्रणाली को मंत्रीमंडल सरकार अथवा उत्तरदायी सरकार के प्रति भी कहा जाता है। इसे मंत्रीमंडलीय सरकार इसलिए कहते हैं क्योंकि कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग वास्तव में मंत्रिमंडल ही करता है। इसको उत्तरदायी शासन प्रणाली इसलिए कहा जाता है, क्योंकि मंत्रिमंडल अपने सभी कार्यों और नीतियों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।

११.२.३ संसदीय सरकार की विशेषताएं :

1. राज्य का अध्यक्ष नाममात्र होता है : संसदीय सरकार का मुखिया, यद्यपि वह निर्वाचित राष्ट्रपति हो या पैतृक रूप से सम्राट हो, केवल नाममात्र अध्यक्ष होता है। संविधान के अनुसार उसे सभी शक्तियां दी जाती हैं और उसी के नाम पर ही शासन का प्रबंध चलाया जाता है।

2. मंत्रिमंडल ही वास्तविक कार्यपालिका : संसदीय सरकार का अध्यक्ष अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वेच्छा से नहीं कर सकता अपितु उसका प्रयोग मंत्रिमंडल द्वारा होता है जो देश की वास्तविक कार्यपालिका है।

3. कार्यपालिका और विधानपालिका में घनिष्ठ संबंध : संसदीय प्रणाली की तृतीय विशेषता यह है कि कार्यपालिका और विधानपालिका में बहुत घनिष्ठ संबंध होता है। मंत्रिमंडल में केवल वे ही व्यक्ति लिए जाते हैं जो संसद के दोनों सदनों में से किसी एक के सदस्य होते हैं।

4. कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होती है : संसदीय सरकार में कार्यपालिका अपनी प्रत्येक नीति और कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होती है।

5. कार्यपालिका का अनिश्चित समय : संसदीय प्रणाली की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें कार्यपालिका का कार्यकाल यद्यपि निश्चित होता है, परन्तु निश्चित समय से पहले विधानपालिका द्वारा कार्यपालिका को पदच्युत किया जात सकता है।

6. सामूहिक उत्तरदायित्व : कार्यपालिका विधानमंडल के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है।

7. व्यक्तिगत उत्तरदायित्व : मंत्रिमंडल के सामूहिक उत्तरदायित्व से प्रत्येक मंत्री व्यक्तिगत रूप से भी

उत्तरदायी होता है।

8. मंत्रिमंडल का नेता प्रधानमंत्री होता है : संसदीय शासन प्रणाली में मंत्रिमंडल का होना आवश्यक है। मंत्रिमंडल का नेता प्रधानमंत्री होता है और सभी मंत्री उसके नेतृत्व के अधीन कार्य करते हैं।

9. राजनीतिक एकरूपता : संसदीय सरकार की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि मंत्रिमंडल में राजनीतिक एकरूपता हो। राजनीतिक एकरूपता का अर्थ यह है कि मंत्रिमंडल के सभी मंत्री एक ही राजनीतिक दल से संबंधित हों। यदि मंत्री भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों से लिए जाएं तो शासन का कुशलतापूर्वक संचालन बहुत कठिन हो जाएगा।

10. मंत्रिमंडल की कार्यवाही को गुप्त रखना : संसदीय शासन प्रणाली में सभी निर्णय मंत्रिमंडल की बैठक में लिए जाते हैं। प्रत्येक मंत्री को अपना पद ग्रहण करने से पहले शपथ लेनी पड़ती है कि वह मंत्रिमंडल की समस्त कार्यवाही को गुप्त रखेगा।

11. संसद के निचले सदन को भंग करने का अधिकार प्रधानमंत्री के पास : संसदीय शासन प्रणाली में संसद के निचले सदन को भंग करने का अधिकार प्रधानमंत्री के पास होता है।

निष्कर्ष : संसदीय शासन प्रणाली सैद्धांतिक रूप से उपर्युक्त विशेषताएं अवश्य होनी चाहिएं, परन्तु यह देखने में आया है कि कई राष्ट्रीय आवश्यकताओं अथवा विशेष अवस्थाओं के कारण कई देशों की संसदीय शासन प्रणालियों में ये विशेषताएं नहीं अपनाई जातीं।

११.२.४ संसदीय सरकार के गुण :

1. अच्छे कानूनों के निर्माण की संभावना : संसदीय सरकार में कार्यपालिका और विधानपालिका में बहुत घनिष्ठ संबंध होने के कारण अच्छे कानूनों का निर्माण होता है क्योंकि कानूनों को लागू करने वाले ही कानूनों के निर्माता होते हैं।

2. उत्तरदायी सरकार : इस प्रणाली द्वारा लोगों की प्रभुसत्ता के सिद्धांत को यथार्थ रूप दिया जा सकता है।

3. लचीला शासन : कार्यपालिका को निश्चित समय से पहले भी पदच्युत किया जा सकता है।

4. योग्य व्यक्तियों की सरकार : इसमें प्राय: बहुमत योग्य व्यक्तियों का होता है। उन योग्य व्यक्तियों में से ही शासन प्रबंध के लिए मंत्री नियुक्त किए जाते हैं।

5. लोगों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है : सरकार बनाने के लिए प्रत्येक दल जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करता है। शासक दल अपनी अच्छी नीतियों का प्रचार करता है और विरोधी दल उनकी आलोचना करता है। ये सब बातें राजनीतिक शिक्षा देती हैं।

6. नाममात्र मुखिया प्रशासन के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकता है : संसदीय प्रणाली में संवैधानिक नाममात्र मुखिया की व्यक्तिगत शक्तियां नहीं होतीं, परन्तु संकट व आपात समय में शासन के लिए लाभदायक सिद्ध होता है।

7. वैकल्पिक शासन का प्रबंध संभव : जिस समय शासक दल का बहुमत संसद में समाप्त हो जाए तो उसको त्यागपत्र देना पड़ता है। ऐसे में यदि विरोधी दल का नेता भी सरकार बनाने के योग्य न हो तो देश का नाममात्र मुखिया स्वेच्छा से किसी व्यक्ति को भी सरकार बनाने के लिए कह सकता है।

8. परिवर्तित समय की आवश्यकतानुसार शासन में परिवर्तन संभव : इस शासन प्रणाली का यह मुख्य

लाभ है कि समय की मांग के अनुसार किसी समय भी शासन परिवर्तन किया जा सकता है।

११.२.५ संसदीय प्रणाली के दोष :

1. सरकार की अस्थिरता : संसदीय प्रणाली में मंत्रिमंडल का समय निश्चित नहीं होता। सरकार की अस्थिरता देश के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होती है।

2. नीति में निरंतरता की कमी : संसदीय प्रणाली में सरकार की स्थिरता की कम संभावना होती है। इसलिए कोई भी शासक दल अपनी नीतियों में निरंतरता नहीं रख सकता।

3. शक्ति पृथक्कता के सिद्धांत के विरुद्ध : संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका और विधानपालिका की शक्ति यां व्यावहारिक रूप से एक ही संस्था के पास एकत्रित होती हैं।

4. मंत्रिमंडल का अधिनायकतंत्र : संसदीय प्रणाली की सरकार बहुमत की सरकार होती है। जब तक संसद में एक दल का बहुमत स्थापित है, उनको शासन के पद से कोई हटा नहीं सकता। इसका अर्थ है कि बहुमतदल तानाशाही स्थापित कर सकता है।

5. शासन में निपुणता नहीं आती : इस प्रणाली में मंत्रियों को अनेक कार्य करने पड़ते हैं। ये सभी शासन में निपुणता नहीं आने देते।

6. संकटकाल के लिए समुचित सरकार नहीं : संकट के समय शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता होती है जो संसदीय प्रणाली में संभव नहीं।

7. राजनीतिक दलों का अधिक प्रभाव : राजनीतिक दलों की ऐसी नीति राष्ट्र को कई गुटों में भी विभक्त कर देती है जो राष्ट्रीय एकता को किसी भी समय नष्ट कर सकती है।

निष्कर्ष : संसदीय सरकार के दोष सैद्धांतिक हैं, व्यावहारिक नहीं और इन दोषों पर बड़ी आसानी से नियंत्रण किया जा सकता है, क्योंकि जिन देशों में इस प्रणाली को अपनाया गया है उनमें यह सफलतापूर्वक कार्य कर रही है।

११.२.६ अध्यक्षात्मक सरकार की परिभाषाएं :

सरकार के तीन महत्वपूर्ण अंग माने गए हैं : कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका। आधुनिक राज्य को कार्यपालिका और विधानपालिका के परस्पर संबंधों के आधार पर दो रूपों में विभाजित किया जाता है – संसदीय सरकार और अध्यक्षात्मक सरकार। यदि कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है और दोनों के मध्य कोई घनिष्ठ संबंध नहीं, अपितु वे एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक हैं तो उसे अध्यक्षात्मक सरकार कहा जाता है।

डॉ. गार्नर ने कहा है, 'अध्यक्षात्मक सरकार वह शासन प्रणाली है जिससे कार्यपालिका भावार्थ राज्य का अध्यक्ष और उसके मंत्री संवैधानिक रूप में विधानपालिका से अपने कार्यकाल के प्रति स्वतंत्रत हों, अपनी राजनीतिक नीतियों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी न हों। इस प्रकार की प्रणाली में राज्य का अध्यक्ष नाममात्र नहीं होता अपितु वास्तविक अध्यक्ष होता है और उन सभी शक्तियों का प्रयोग भी करता है जो संविधान और कानून द्वारा उसे मिलती हैं।'

११.२.७ अध्यक्षात्मक सरकार की विशेषताएं :

1. राज्य का अध्यक्ष वास्तविक कार्यपालिका होता है।
2. मंत्रिमंडल केवल एक परामर्शदात्री संस्था है।
3. कार्यपालिका और विधानपालिका में पृथक्कता।
4. कार्यपालिका का निश्चित समय।
5. कार्यपालिका का अनुत्तरदायित्व।

११.२.८ अध्यक्षात्मक सरकार के गुण :

1. स्थायी शासन : अध्यक्षात्मक शासन का एक मुख्य गुण सरकार की स्थिरता है। राज्य के अध्यक्ष, जो कि वास्तविक शासक होता है, निश्चित समय से पहले पद से हटाना लगभग असंभव होता है।

2. योग्य व्यक्तियों का शासन : कार्यपालिका का अध्यक्ष प्राय: बहुत महान व्यक्तित्व का स्वामी होता है। योग्यता ही किसी व्यक्ति को अध्यक्षात्मक प्रणाली में मंत्री पद पर ले जा सकती है।

3. आपातकाल में समुचित सरकार : संकटकाल का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए दृढ़ तथा शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। ये दोनों गुण अध्यक्षात्मक प्रणाली में मिलते हैं।

4. शक्तियों की पृथक्कता के सिद्धांत पर आधारित शासन : अध्यक्षात्मक सरकार में शक्तियों का केंद्रीयकरण नहीं किया जाता, अपितु सरकार की तीनों शक्तियों को भिन्न-भिन्न शक्तियों को सौंप दिया जाता है।

5. राजनीतिक दलों के दुष्प्रभावों से बचाव : अध्यक्षात्मक प्रणाली में राजनीतिक दल होते तो अवश्य हैं, परन्तु उन्हें जनता के मन पर दुष्प्रभाव डालने के अवसर प्राय: कम मिलते हैं।

6. बहुदलीय प्रणाली के लिए समुचित : अध्यक्षात्मक सरकार उस राज्य के लिए बहुत ही समुचित प्रणाली है जहां राजनीतिक दलों की संख्या अधिक है।

7. नीति में निरंतरता संभव रहती है : कार्यपालिका की अवधि निश्चित होने से एक ही नीति को लंबे समय तक चलाया जा सकता है। यदि नीति को शीघ्र ही बदल दिया जाए तो यह शासन के लिए लाभदायक नहीं हो सकती है। नीति में एकरूपता और निरंतरता राष्ट्रीय हितों के अनुकूल है।

११.२.९ अध्यक्षात्मक सरकार के दोष :

1. निरंकुशता की संभावना : अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कार्यप्रणाली को निश्चित समय से पहले पदच्युत नहीं किया जा सकता। अध्यक्ष के विरुद्ध महाभियोग का मुकदमा चलाकर हटाया जा सकता है, लेकिन इसके लिए आवश्यक बहुमत की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में अध्यक्ष के निरंकुश बन जाने की संभावना भी हो सकती है।

2. अनुत्तरदायी शासन : शक्ति और उत्तरदायित्व दोनों साथ-साथ चलते हैं, परन्तु जहां शक्ति को उत्तरदायित्व से पृथक कर दिया जाए वहां शासक स्वेच्छाचारी बन सकते हैं, अध्यक्षात्मक सरकार का यह सबसे बड़ा अवगुण है।

3. प्रशासन में विवादों की संभावना : अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका और विधानपालिका का परस्पर कोई संबंध नहीं होता। दोनों अंगों का चुनाव राजनीतिक दलों के आधार पर होता है। संभव है कि

कार्यपालिका पर एक राजनीतिक दल का अधिपत्य हो और विधानपालिका पर दूसरे दल का। ऐसी स्थिति में विवाद उत्पन्न हो सकते हैं।

4. शक्तियों की पृथक्कता संभव नहीं : अध्यक्षात्मक प्रणाली इस सिद्धांत पर आधारित है, लेकिन शक्तियों की पृथक्कता का सिद्धांत न तो व्यावहारिक रूप से संभव है और न उपयोगी।

5. शासन की कठोरता : अध्यक्षात्मक सरकार संसदीय सरकार की भांति लचीली नहीं होती। उसको समय की आवश्यकतानुसार बदला नहीं जा सकता।

6. कठोर संविधान : अध्यक्षात्मक सरकार में संविधान बहुत कठोर होता है। समय की आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन करना बहुत कठिन होता है।

7. विदेशी संबंधों में निर्बल : विदेशी संबंधों में अध्यक्षात्मक शासन बहुत निर्बल सिद्ध हुआ है।

निष्कर्ष : अध्यक्षात्मक शासन के गुण और दोषों पर विचार-विमर्श के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अध्यक्षात्मक सरकार एक अच्छी प्रणाली है, परन्तु संसदीय सराकर की तरह इतनी लोकप्रिय नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। सत्य तो यह है कि कोई भी प्रणाली दोषरहित नहीं हो सकती। किस प्रणाली को अपनाया जाए इसका निर्णय देश की अवस्थाओं के अनुसार ही किया जाता है।

११.३ सारांश :

विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सरकार के तीन मुख्य अंग हैं। विधानपालिका और कार्यपालिका में किस प्रकार के संबंध हैं? इस आधार पर आधुनिक सरकार के दो रूप माने जाते हैं - संसदीय और अध्यक्षात्मक। कार्यपालिका यदि विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी है और दोनों में निकटतम संबंध है तो उसको संसदीय सरकार कहा जाता है। यदि कार्यपालिका विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं है और दोनों में कोई घनिष्ठ संबंध नहीं, अपितु दोनों एक-दूसरे से पूर्णतया अलग हैं तो उसे अध्यक्षात्मक सरकार कहा जाता है।

संसदीय सरकार वह शासन प्रणाली है जिसमें यथार्थ कार्यपालिका का अभिप्राय मंत्रिमंडल, विधानपालिका या उसके एक लोकप्रिय सदन के लिए और अंत में निर्वाचकों के प्रति अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी हो, जबकि राज्य का मुखिया, जोकि नाममात्र का मुखिया होता है, वह अनुत्तरदायी होता है।

संसदीय शासन प्रणाली सैद्धांतिक रूप से उपर्युक्त विशेषताएं अवश्य होनी चाहिएं, परन्तु यह देखने में आया है कि कई राष्ट्रीय आवश्यकताओं अथवा विशेष अवस्थाओं के कारण कई देशों की संसदीय शासन प्रणालियों में ये विशेषताएं नहीं अपनाई जातीं।

अध्यक्षात्मक सरकार वह शासन प्रणाली है जिससे कार्यपालिका भावार्थ राज्य का अध्यक्ष और उसके मंत्री संवैधानिक रूप में विधानपालिका से अपने कार्यकाल के प्रति स्वतंत्रत हों, अपनी राजनीतिक नीतियों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी न हों। इस प्रकार की प्रणाली में राज्य का अध्यक्ष नाममात्र नहीं होता अपितु वास्तविक अध्यक्ष होता है और उन सभी शक्तियों का प्रयोग भी करता है जो संविधान और कानून द्वारा उसे मिलती हैं।

११.४ सूचक शब्द :

संसदीय सरकार : संसदीय सरकार वह शासन प्रणाली है जिसमें यथार्थ कार्यपालिका का अभिप्राय मंत्रिमंडल, विधानपालिका या उसके एक लोकप्रिय सदन के लिए और अंत में निर्वाचकों के प्रति अपनी

राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी हो, जबकि राज्य का मुखिया, जोकि नाममात्र का मुखिया होता है, वह अनुत्तरदायी होता है।

अध्यक्षात्मक सरकार : सरकार के तीन महत्वपूर्ण अंग माने गए हैं : कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका। आधुनिक राज्य को कार्यपालिका और विधानपालिका के परस्पर संबंधों के आधार पर दो रूपों में विभाजित किया जाता है – संसदीय सरकार और अध्यक्षात्मक सरकार। यदि कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है और दोनों के मध्य कोई घनिष्ठ संबंध नहीं, अपितु वे एक–दूसरे से पूर्णतया पृथक हैं तो उसे अध्यक्षात्मक सरकार कहा जाता है।

अध्यक्षात्मक शासन के गुण और दोषों पर विचार–विमर्श के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अध्यक्षात्मक सरकार एक अच्छी प्रणाली है, परन्तु संसदीय सराकर की तरह इतनी लोकप्रिय नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। सत्य तो यह है कि कोई भी प्रणाली दोषरहित नहीं हो सकती। किस प्रणाली को अपनाया जाए इसका निर्णय देश की अवस्थाओं के अनुसार ही किया जाता है।

११.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. संसदीय सरकार की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।
२. अध्यक्षात्मक सरकार की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।
३. संसदीय सरकार की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
४. अध्यक्षात्मक सरकार की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
५. संसदीय सरकार के विभिन्न तत्वों की चर्चा करें।
६. अध्यक्षात्मक सरकार के विभिन्न तत्वों की चर्चा करें।

११.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

बीए मास कम्यूनिकेशन – द्वितीय वर्ष *बीएमसी –१०७* **राजनीति विज्ञान**

खंड– बी इकाई – दो अध्याय – बारह

सरकार के रूप – प्रजातंत्रीय तथा अधिनायकतंत्रीय

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम सरकार के प्रजातंत्रीय व अधिनायकतंत्रीय रूप के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही प्रजातंत्रीय सरकार की परिभाषाएं , प्रजातंत्रीय सरकार की विशेषताएं, प्रजातंत्रीय सरकार के गुण, प्रजातंत्रीय सरकार के दोष, अधिनायकतंत्रीय सरकार की परिभाषाएं, अधिनायकतंत्रीय सरकार की विशेषताएं, अधिनायकतंत्रीय सरकार के गुण व अधिनायकतंत्रीय सरकार के दोष आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

१२.० उद्देश्य
१२.१ परिचय
१२.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
१२.२.१ सरकार का प्रजातंत्रीय व अधिनायकतंत्रीय रूप
१२.२.२ प्रजातंत्रीय सरकार की परिभाषाएं
१२.२.३ प्रजातंत्रीय सरकार की विशेषताएं
१२.२.४ प्रजातंत्रीय सरकार के गुण
१२.२.५ प्रजातंत्रीय सरकार के दोष
१२.२.६ प्रजातंत्र के रूप
१२.२.७ प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के साधन
१२.२.८ प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के गुण
१२.२.९ प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के अवगुण
१२.३ सारांश
१२.४ सूचक शब्द
१२.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
१२.६ संदर्भित पुस्तकें

१२.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

सरकार का प्रजातंत्रीय व अधिनायकतंत्रीय रूप
प्रजातंत्रीय सरकार की परिभाषाएं जानना
प्रजातंत्रीय सरकार की विशेषताएं ज्ञात करना
प्रजातंत्रीय सरकार के गुणों का पता लगाना
प्रजातंत्रीय सरकार के दोषों से परिचित होना
प्रजातंत्र के रूपों से अवगत होना
प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के साधन जानना
प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के गुणों से परिचित होना
प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के अवगुणों की जानकारी लेना

१२.१ परिचय :

शासन के आधार पर सरकार को दो भागों में बांटा जा सकता है –पहली प्रजातंत्रीय सरकार और दूसरी अधिनायकतंत्रीय सरकार। प्रजातंत्रीय सरकार में जनता अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनती है। ये प्रतिनिधि ही जनता के लिए विकास कार्यों से लेकर कानून बनाने तक का काम करते हैं। दूसरी ओर अधिनायकतंत्र में सारी शक्तियां एक ही व्यक्ति के पास होती हैं। वह अपनी इच्छा के अनुसार उनका प्रयोग करता है तथा उसका आदेश ही कानून के समान माना जाता है।

इस अध्याय में हम अधिनायक तंत्र और प्रजातंत्र का अर्थ, उनकी परिभाषाओं, उनके लक्षण या विशेषताएं दोनों के गुण एवं दोष,उनके विभिन्न रूप आदि का अध्ययन करेंगे।

१२.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

सरकार का प्रजातंत्रीय व अधिनायकतंत्रीय रूप
प्रजातंत्रीय सरकार की परिभाषाएं
प्रजातंत्रीय सरकार की विशेषताएं
प्रजातंत्रीय सरकार के गुण
प्रजातंत्रीय सरकार के दोष
प्रजातंत्र के रूप
प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के साधन
प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के गुण
प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के अवगुण

१२.२.१ सरकार के रूप – प्रजातंत्रीय तथा अधिनायकतंत्रीय

अधिनायक तंत्र : अधिनायक तंत्र के अंतर्गत शासन शक्तियां एक व्यक्ति के पास होती हैं। शक्तियों को वह अपनी इच्छानुसार प्रयुक्त करता है तथा उसका हर आदेश कानून के समान होता है। ऐसे व्यक्ति ने शासन शक्ति वंशानुगत आधारों पर नहीं, अपितु अपने बल के आधार पर प्राप्त की है।

आधुनिक युग में लोकतंत्रीय प्रणाली इतनी लोकप्रिय है कि इसे लोकतंत्र का युग ही कहा जाता है।

प्रजातंत्र का अर्थ : प्रजातंत्र हिन्दी भाषा का शब्द है और यह अंग्रेजी के शब्द का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी का शब्द डेमोक्रेसी यूनानी भाषा के दो शब्दों डीमोस और क्रेटिया से मिलकर बना है। डीमोस का अर्थ प्रजा और क्रेटिया का अर्थ शासन है। इस प्रकार लोकतंत्र का शाब्दिक अर्थ प्रजा अथवा लोगों का शासन है।

१२.२.२ प्रजातंत्रीय सरकार की परिभाषाएं :

1. प्रो. सीले के अनुसार, प्रजातंत्र ऐसी सरकार है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग हो।

2. प्रो. डायसी के कथनानुसार, प्रजातंत्र एक ऐसी प्रणाली है जिसमें शासक वर्ग राष्ट्र का एक बड़ा भाग हो।

3. अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने कहा है कि प्रजातंत्र लोगों का, लोगों द्वारा तथा लोगों के लिए शासन है।

अत: प्रजातंत्र में सर्वोच्च शक्ति जनता के पास होती है और जनता ही अप्रत्यक्ष रूप से स्वयं पर शासन करती है।

१२.२.३ प्रजातंत्रीय सरकार की विशेषताएं :

1. समानता : लोकतंत्र इस विश्वास पर आधारित है कि सभी व्यक्ति समान हैं और जन्म, जाति, वंश, धर्म संपत्ति या सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर उनमें भेदभाव नहीं किया जा सकता।

2. स्वतंत्रता : स्वतंत्रता से अभिप्राय है कि व्यक्ति को समुदायों या समूहों के कार्यों में सरकार का निर्माण करने में भाग लेने का स्वतंत्र अधिकार होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सरकार की आलोचना करने, संघ बनाने और मानवीय जीवन की अन्य आवश्यक स्वतंत्रताओं का उपयोग करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होना चाहिए।

3. भ्रातृत्व : सामाजिक समानता का अभिप्राय है कि समाज में रह रहे सभी लोगों को समान रूप से अधिकार दिए जाएं। इससे लोगों में भ्रातृत्व की भावना विकसित होती है।

4. विकासवादी स्वरूप : प्रजातंत्र मनुष्य को तर्कशील और नैतिक प्राणी मानता है। प्रजातंत्र में हिंसा का कोई स्थान नहीं है। यह मूल रूप से विकावादी धारणा है।

5. वयस्क मताधिकार : वयस्क मताधिकार का अर्थ है कि मताधिकार प्रदान करने के लिए एक विशेष आयु निश्चित की जाती है तथा उस आयु तक पहुंचने वाले व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार प्रदान किया जाता है।

6. मौलिक अधिकार : लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में लोगों को सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं। मौलिक अधिकारों में मत देने, चुनाव लड़ने, विचार अभिव्यक्त करने, प्रार्थना पत्र देने आदि के अधिकार भी सम्मिलित होते हैं।

7. नियकालिक चुनाव : इस प्रणाली में निम्न स्तर से लेकर उच्च स्तर तक की राजनीतिक संस्थाएं चुनावों के आधार पर निर्मित होती हैं। इन संस्थाओं के सदस्यों के निश्चित समय के पश्चात चुनाव होते हैं।

8. बहुमत का शासन : लोकतंत्र मूल रूप से इस धारणा पर आधारित है कि शासन के विषय में सभी महत्वपूर्ण निर्णयों को लोगों द्वारा लिया जाए, परन्तु आधुनिक विशाल राष्ट्रीय राज्यों में लोकतंत्र की यह धारणा व्यावहारिक रूप में असंभव है। आधुनिक युग में अप्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रचलित है। यह इस धारणा पर आधारित है कि शासन की नीतियों के विषय में निर्णय लोगों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा लिए जाएं।

9. कानून का शासन : समाज में किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का शासन नहीं होता, अपितु कानून का शासन होता है।

१२.२.४ प्रजातंत्रीय सरकार के गुण :

1. प्रजातंत्र सामान्य लोगों की भलाई का उद्देश्य रखता है : प्रजातंत्र में प्रभुसत्ता जनता के हाथ में होती है। इसलिए जनता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में स्वयं शासक होती है और प्रजातंत्र का मुख्य उद्देश्य समस्त जनता की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक उन्नति है।

2. समानता के सिद्धांत पर आधारित : प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली में समानता से अभिप्राय केवल राजनीतिक समानता से ही नहीं, बल्कि आर्थिक और सामाजिक समानता से भी है।

3. स्वतंत्रता मानवीय विकास के लिए अनिवार्य है : प्रजातंत्र का मुख्य स्तम्भ स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता के बिना व्यक्ति का पूर्ण रूप से विकास संभव नहीं है। व्यक्ति को जितनी स्वतंत्रता प्रजातंत्र में प्राप्त हो सकती है, उतनी किसी अन्य शासन प्रणाली में नहीं होती।

4. लोगों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है : चुनावों में विजय पाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दल अपनी नीतियों की घोषणा करते हैं। जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है और शासन में भाग लेती है। इससे जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है।

5. विद्रोह या क्रांति की संभावना नहीं : प्रजातंत्र में अयोग्य सरकार को बदलने के लिए हिंसक कार्यवाहियां नहीं की जाती अपितु जनता अपने मताधिकार के प्रयोग से बड़े शांतिपूर्ण ढंग से सरकार को बदल सकती है।

6. कानून की अधिक आज्ञाकारिता : प्रजातंत्र में लोगों के निर्वाचित प्रतिनिधि कानून का निर्माण करते हैं। यह स्वाभाविक है कि जनता की इच्छानुसार जतना के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित कानूनों की आज्ञा का पालन अधिक होगा।

7. देशक्ति की भावना : प्रजातंत्र लोगों की अपनी सरकार होती है। लोग इसको सफलतापूर्वक चलाने का प्रयत्न करते हैं। इस तरह लोगों का अपने देश के साथ प्यार बढ़ता है और लोग राष्ट्र को अपना राष्ट्र समझते हैं।

8. राष्ट्र चरित्र का निर्माण : किसी शासन की श्रेष्ठता शासन प्रबंध, आर्थिक उन्नति और निष्पक्ष न्याय के साथ-साथ नागरिकों के चरित्र पर भी निर्भर करती है। प्रजातंत्र में नागरिकों में ऐसी राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होती है कि वे राष्ट्र को हानि पहुंचाने की संभावना वाला कोई काम नहीं करते।

9. प्रगतिशील सरकार : प्रजातंत्र को प्रगतिशील प्रणाली कहा जा सकता है, क्योंकि जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार इस प्रणाली में संभव हैं, वे अन्य किसी प्रणाली में नहीं हो सकते।

१२.२.५ प्रजातंत्रीय सरकार के दोष :

1. गुणों से मात्रा पर अधिक बल : प्रजातंत्र में हो सकता है बहुमत प्राप्त करने वाला व्यक्ति गुणवान न हो। उदाहरण के तौर पर यदि 2 मूर्ख एक ओर तथा 19 बुद्धिमान दूसरी ओर मत देते हैं तो प्रजातंत्र के अनुसार विजय मूर्खों के प्रत्याशी की होगी।

2. अयोग्य व्यक्तियों का शासन : प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में शासन में भाग लेने का अधिकार है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में इतनी योग्यता नहीं होती कि वे योग्य प्रत्याशियों का ही निर्वाचन करें। इससे अयोग्य प्रतिनिधि भी सरकार में शामिल हो जाते हैं।

4. व्ययी शासन : प्रजातंत्र में जनता और सरकार का अधिकांश धन चुनावों का प्रबंध करने में ही व्यय हो जाता है।

5. अधिकांश मतदाता चुनाव में रुचि नहीं लेते।

6. राजनीतिक दलों का बुरा प्रभाव : राजनीतिक दलों को प्रजातंत्र शासन प्रणाली की आधारशिला माना जाता है, परन्तु राजनीतिक दल अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए ऐसी नीतियां अपनाते हैं जो लोगों के मन में स्वार्थ की भावना उत्पन्न करती हैं।

7. धनवानों का शासन : चुनाव लड़ना निर्धन व्यक्तियों के वश में नहीं है। ऐसे में प्रजातंत्र धनवानों का शासन ही होगा।

8. बहुमत का अधिनायकतंत्र : कोई दल बहुमत को प्राप्त कर लेता है तो वह अपने मनमाने ढंग से शासन चलाता है। अल्पसंख्यक दल सरकार की आलोचना करने के अतिरिक्त बहुमत को कोई हानि नहीं पहुंचा सकता।

9. सरकार स्थायी नहीं रहती : अधिकांश देशों में बहुदलीय प्रणाली मिलती है। इसलिए बहुमत न मिलने पर कई दलों की संयुक्त सरकार बनाई जाती है जो अस्थायी होती है।

१२.२.६ प्रजातंत्र के रूप :

क. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र : प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में सब नागरिक प्रत्यक्ष रूप में शासन के कार्यों में भाग लेते हैं। अपने देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रत्येक नागरिक कानून बनाने, सार्वजनिक नीतियों का निर्माण करने, देश का वार्षिक बजट पारित करने, नए टैक्स लगाने या पुराने टैक्स समाप्त करने आदि में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है।

ख. अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र : अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र में जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग नहीं लेती, बल्कि अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन पर नियंत्रण करती है।

१२.२.७ प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के साधन :

1. जनमत संग्रह : जनमत संग्रह का अर्थ है कि कानून को अंतिम स्वीकृति देने की शक्ति जनता के पास है। जनमत संग्रह के द्वारा पारित कानूनों के विषय में अंतिम स्वीकृति जनता से ली जाती है। जनमत संग्रह दो प्रकार का हो सकता है :

क. अनिवार्य जनमत संग्रह : इसमें विधानमंडल द्वारा पारित कोई भी बिल उस समय तक कानून नहीं बन

सकता जब तक उस कानून को जनमत संग्रह द्वारा जनता स्वीकार नहीं कर लेती।

ख. ऐच्छिक जनमत संग्रह : इसमें जनता विधानमंडल द्वारा पारित कानूनों को जनमत संग्रह के लिए प्रस्तुत करने की मांग कर सकती है।

2. प्रस्ताव अधिकार : प्रस्ताव अधिकार ऐसा साधन है जिसके द्वारा जनता किसी विषय के संबंध में विधानमंडल को कानून बनाने के लिए कह सकती है। साधारण शब्दों में नागरिक जिस विषय के संबंध में कानून का निर्माण करवाना चाहते हैं उस विषय के संबंध में वे एक प्रस्ताव विधानमंडल में प्रस्तुत कर दें और विधानमंडल निश्चित विधि के अनुसार उस विषय पर कानून बना देगा। यह दो प्रकार का हो सकता है :

क. सूत्रबद्ध प्रस्ताव अधिकार : इसका अभिप्राय है कि जनता किसी कानून का निर्माण करने के संबंध में या संविधान में संशोधन करने के संबंध में प्रत्येक पक्ष में संपूर्ण एक बिल विधानमंडल को प्रस्तुत करे तो इसे सूत्रबद्ध प्रस्ताव कहते हैं।

ख. असूत्रबद्ध प्रस्ताव : जनता किस विषय के संबंध में कानून का निर्माण करवाना चाहती है, उस संबंध में प्रत्येक पक्ष में संपूर्ण बिल पेश नहीं करती, बल्कि उस विषय के संबंध में कानून का निर्माण करवाने के लिए प्रस्ताव द्वारा अपनी इच्छा को व्यक्त करती है। इस पर विधानमंडल बिल तैयार करता है।

3. लोकमत संग्रह : लोकमत संग्रह व जनमत संग्रह के अर्थों में कोई विशेष अंतर नहीं है। लेकिन जनमत संग्रह से भावार्थ विधानमंडल द्वारा पारित किए कानून से संबंधित लोगों की स्वीकृति या अस्वीकृति लेना है, परन्तु लोकमत संग्रह द्वारा लोगों का मत किसी कानून के विषय में नहीं प्राप्त किया जाता, बल्कि यह साधन किसी राजनीतिक विषय के संबंध में लोगों का मत जानने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। पाकिस्तान काफी समय से कश्मीर में लोकमत संग्रह करवाने की मांग कर रहा है।

4. प्रत्याह्वान : इसका अर्थ है कि यदि जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि जनता की इच्छानुसार कार्यों को पूरा नहीं कर सकते तो लोगों की एक निश्चित संख्या उनके प्रत्याह्वान की मांग करती है। इसके द्वारा जनता के प्रतिनिधियों को अपने कर्तव्यों को पूर्ण करने के लिए विवश किया जा सकता है। किसी भ्रष्टाचारी प्रतिनिधि या अधिकारी को लोग किसी भी समय वापस बुला सकते हैं।

१२.२.८ प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के गुण :

1. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में जनता वास्तव में राजनीति की स्वामी होती है।
2. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र जनता की इच्छाओं और राजनीतिक वातावरण को जानने का बहुत बढ़िया साधन है।
3. जनमत संग्रह और प्रस्ताव अधिकार द्वारा जनता और विधानमंडल का परस्पर संबंध बना रहता है।
4. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के साधनों द्वारा जनता को बहुत अच्छी राजनीतिक शिक्षा मिलती है।
5. लोगों में उत्तरदायित्व और देशप्रेम की भावना उत्पन्न होती है।
6. अंतिम रूप में जनता द्वारा स्वीकृत होने के कारण कानून नैतिक पक्ष से दृढ़ होते हैं।
7. विधानमंडल के सदस्य मनमानी नहीं कर सकते।
8. जनमत संग्रह द्वारा नागरिक अपनी राजनीतिक और सामाजिक प्रणालियों की रक्षा कर सकते हैं।

१२.२.९ प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के अवगुण :

1. जब कोई कानून नागरिकों द्वारा रद्द हो जाता है तो विधानमंडल के सम्मान पर कड़ी चोट लगती है।

2. साधारण जनता जनमत संग्रह और प्रस्ताव अधिकार का उचित प्रयोग नहीं कर सकती।

3. जनता को कानून को स्वीकार या रद्द करने की शक्ति मिल जाती है, परन्तु उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं होता।

4. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास होने की कम संभावना होती है।

5. जनमत संग्रह के परिणाम जनता की इच्छा का सही प्रतीक नहीं होते, क्योंकि बहुत से नागरिक जनमत संग्रह में भाग नहीं लेते।

6. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के साधनों को लागू करने केि लिए बहुत व्यय होता है।

निष्कर्ष : प्रत्यक्ष प्रजातंत्र उन राज्यों के लिए ही संभव है जिनकी जनसंख्या और क्षेत्रफल बहुत कम है।

१२.२.१० प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक अवस्थाएं :

1. सचेत नागरिकता : सचेत नागरिक को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान होता हे। प्रजातंत्र की सफलता के लिए ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है जो अपने अधिकारों और देश की समस्याओं के प्रति सचेत रहें और अपनी बुद्धि द्वारा देश की समस्याओं का समाधान करने में पूर्ण सहयोग दें।

2. लोगों का उच्च नैतिक स्तर : धर्म के आदर्शों की तरह यदि नागरिकों का नैतिक स्तर ऊंचा न होगा तो प्रजांतत्र कुछ स्वार्थी लोगों के हाथ में कठपुतली बन जाएगा।

3. शिक्षित जनता : अशिक्षित व्यक्ति न तो देश की समस्याओं को समझने की सूझ रखता है और न ही सचेत नागरिक बनकर सरकार पर नियंत्रण रख सकता है। यदि कहा जाए कि प्रजातंत्र केवल शिक्षित जनता के लिए ही है तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

4. आर्थिक समानता : जिस राज्य में आर्थिक समानता अधिक होती है वहां के लोगों के हाथ में ही राजनीतिक शक्ति आ जाती है। जिस समाज में निर्धन लोगों में अधिक मतभेद हैं वहां प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता।

5. सामाजिक समानता : यदि समाज में जाति, धर्म, रंग आदि के आधार पर व्यक्ति में भेदभाव होगा तो कुछ व्यक्ति स्वयं को उच्च और दूसरों को निम्न समझेंगे। ऐसे में समाज का विकास असंभव है और प्रजातंत्र प्रणाली का सफल होना भी कठिन है।

6. स्वतंत्र व ईमानदार प्रैस : प्रजातंत्र जनमत पर आधारित है। जनमत को बनाने और व्यक्त करने के लिए समाचार-पत्र एक बढ़िया साधन है। इसलिए ईमानदार और निष्पक्ष प्रैस का होना प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है।

7. अच्छे संगठित राजनीतिक दल : राजनीतिक दलों के बिना सफल प्रजातंत्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राजनीतिक दलों में अनेक दोष भी हैं। इसलिए राजनीतिक दलों को उचित ढंग से संगठित न किया जाए तो ये प्रजातंत्र के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं।

8. स्थानीय स्वशासन : प्रजातंत्र की सफलता स्थानीय सरकार पर निर्भर है। वास्तव में स्थानीय सरकार द्वारा नागरिक मत का उचित प्रयोग करना सीखते हैं और उनमें से कुछ नेतृत्व की शिक्षा प्राप्त करके अच्छे नेता बन सकते हैं। स्थानीय संस्थाएं नागरिक में वे गुण उत्पन्न करती हैं जो प्रजातंत्र प्रणाली को सफल बनाने में सहायक

सिद्ध होते हैं।

9. स्वतंत्र न्यायपालिका : प्रजातंत्र शासन का आधार स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व है। व्यक्तियों को जीवन विकास के लिए कुछ अधिकार और स्वतंत्रताएं राज्य की ओर से मिलती हैं। व्यक्ति इन अधिकारों का आनंद तभी उठा सकता है यदि राज्य की ओर से इनकी रक्षा के लिए सर्वोत्तम ढंग और निष्पक्ष स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना की गई हो।

10. अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व : प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जाति, भाषा या धर्म के आधार पर सब अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाए। यदि उनका प्रतिनिधि विधानमंडल में नहीं होगा तो वे सदैव असंतुष्ट रहेंगे।

निष्कर्ष : अंत में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त अवस्थाएं प्रजातंत्र के लिए उचित वातावरण उत्पन्न करती हैं। यदि कोई राज्य इन शर्तों को पूर्ण करेगा तो प्रजांतत्रीय प्रणाली अवश्य सफल होगी। जिन राज्यों में उपर्युक्त अवस्थाएं हैं, उन राज्यों में प्रजातंत्र प्रणाली अवश्य सफल होगी और किसी प्रकार की असाधारण घटनाएं भी ऐसे राज्य के लिए भय नहीं बन सकतीं।

१२.३ सारांश

अधिनायक तंत्र के अंतर्गत शासन शक्तियां एक व्यक्ति के पास होती हैं। शक्तियों को वह अपनी इच्छानुसार प्रयुक्त करता है तथा उसका हर आदेश कानून के समान होता है। ऐसे व्यक्ति ने शासन शक्ति वंशानुगत आधारों पर नहीं, अपितु अपने बल के आधार पर प्राप्त की है।

प्रजातंत्र हिन्दी भाषा का शब्द है और यह अंग्रेजी के शब्द का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी का शब्द डेमोक्रेसी यूनानी भाषा के दो शब्दों डीमोस और क्रेटिया से मिलकर बना है। डीमोस का अर्थ प्रजा और क्रेटिया का अर्थ शासन है। इस प्रकार लोकतंत्र का शाब्दिक अर्थ प्रजा अथवा लोगों का शासन है।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में सब नागरिक प्रत्यक्ष रूप में शासन के कार्यों में भाग लेते हैं। अपने देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रत्येक नागरिक कानून बनाने, सार्वजनिक नीतियों का निर्माण करने, देश का वार्षिक बजट पारित करने, नए टैक्स लगाने या पुराने टैक्स समाप्त करने आदि में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है। अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र में जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग नहीं लेती, बल्कि अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन पर नियंत्रण करती है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र उन राज्यों के लिए ही संभव है जिनकी जनसंख्या और क्षेत्रफल बहुत कम है।

प्रस्ताव अधिकार ऐसा साधन है जिसके द्वारा जनता किसी विषय के संबंध में विधानमंडल को कानून बनाने के लिए कह सकती है। साधारण शब्दों में नागरिक जिस विषय के संबंध में कानून का निर्माण करवाना चाहते हैं उस विषय के संबंध में वे एक प्रस्ताव विधानमंडल में प्रस्तुत कर दें और विधानमंडल निश्चित विधि के अनुसार उस विषय पर कानून बना देगा।

लोकमत संग्रह व जनमत संग्रह के अर्थों में कोई विशेष अंतर नहीं है। लेकिन जनमत संग्रह से भावार्थ विधानमंडल द्वारा पारित किए कानून से संबंधित लोगों की स्वीकृति या अस्वीकृति लेना है, परन्तु लोकमत संग्रह द्वारा लोगों का मत किसी कानून के विषय में नहीं प्राप्त किया जाता, बल्कि यह साधन किसी राजनीतिक विषय के संबंध में लोगों का मत जानने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

१२.४ सूचक शब्द

अधिनायक तंत्र : अधिनायक तंत्र के अंतर्गत शासन शक्तियां एक व्यक्ति के पास होती हैं। शक्तियों को वह अपनी इच्छानुसार प्रयुक्त करता है तथा उसका हर आदेश कानून के समान होता है। ऐसे व्यक्ति ने शासन शक्ति वंशानुगत आधारों पर नहीं, अपितु अपने बल के आधार पर प्राप्त की है।

प्रजातंत्र का अर्थ : प्रजातंत्र हिन्दी भाषा का शब्द है और यह अंग्रेजी के शब्द का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी का शब्द डेमोक्रेसी यूनानी भाषा के दो शब्दों डीमोस और क्रेटिया से मिलकर बना है। डीमोस का अर्थ प्रजा और क्रेटिया का अर्थ शासन है। इस प्रकार लोकतंत्र का शाब्दिक अर्थ प्रजा अथवा लोगों का शासन है।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र : प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में सब नागरिक प्रत्यक्ष रूप में शासन के कार्यों में भाग लेते हैं। अपने देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रत्येक नागरिक कानून बनाने, सार्वजनिक नीतियों का निर्माण करने, देश का वार्षिक बजट पारित करने, नए टैक्स लगाने या पुराने टैक्स समाप्त करने आदि में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है।

अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र : अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र में जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग नहीं लेती, बल्कि अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन पर नियंत्रण करती है।

जनमत संग्रह : जनमत संग्रह का अर्थ है कि कानून को अंतिम स्वीकृति देने की शक्ति जनता के पास है। जनमत संग्रह के द्वारा पारित कानूनों के विषय में अंतिम स्वीकृति जनता से ली जाती है।

प्रस्ताव अधिकार : प्रस्ताव अधिकार ऐसा साधन है जिसके द्वारा जनता किसी विषय के संबंध में विधानमंडल को कानून बनाने के लिए कह सकती है। साधारण शब्दों में नागरिक जिस विषय के संबंध में कानून का निर्माण करवाना चाहते हैं उस विषय के संबंध में वे एक प्रस्ताव विधानमंडल में प्रस्तुत कर दें और विधानमंडल निश्चित विधि के अनुसार उस विषय पर कानून बना देगा।

लोकमत संग्रह : लोकमत संग्रह व जनमत संग्रह के अर्थों में कोई विशेष अंतर नहीं है। लेकिन जनमत संग्रह से भावार्थ विधानमंडल द्वारा पारित किए कानून से संबंधित लोगों की स्वीकृति या अस्वीकृति लेना है, परन्तु लोकमत संग्रह द्वारा लोगों का मत किसी कानून के विषय में नहीं प्राप्त किया जाता, बल्कि यह साधन किसी राजनीतिक विषय के संबंध में लोगों का मत जानने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

१२.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. प्रजातंत्रीय व अधिनायकतंत्रीय सरकार की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।
२. प्रजातंत्रीय सरकार की अवधारणा के बारे में विस्तार से लिखें।
३. प्रजातंत्रीय सरकार की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
४. प्रजातंत्रीय सरकार के गुणों के बारे में चर्चा करें।
५. प्रजातंत्रीय सरकार के अवगुणों की चर्चा करें।
६. प्रजातंत्रीय सरकार के पक्ष व विपक्ष में तर्क दें।
७. प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक अवस्थाओं का वर्णन करें।

१२.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताएं

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम भारतीय संविधान के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही भारतीय संविधान के आधार, भारतीय संविधान की विशेषताएं, भारतीय संविधान की आलोचना, भारतीय संविधान की क्षमताएं आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

१३.० उद्देश्य
१३.१ परिचय
१३.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
१३.२.१ भारतीय संविधान : एक परिचय
१३.२.२ भारतीय संविधान के आधार
१३.२.३ भारतीय संविधान की विशेषताएं
१३.२.४ भारतीय संविधान की आलोचना
१३.२.५ भारतीय संविधान की क्षमताएं
१३.३ सारांश
१३.४ सूचक शब्द
१३.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
१३.६ संदर्भित पुस्तकें

१३.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

भारतीय संविधान से परिचित होना
भारतीय संविधान के आधार जानना

भारतीय संविधान की विशेषताएं जानना
भारतीय संविधान की आलोचना से परिचित होना
भारतीय संविधान की क्षमताओं के बारे में जानना

१३.१ परिचय :

भारतीय संविधान दुनिया का सबसे बड़ा संविधान है। इसमें 395 अनुच्छेद एवं 1 परिशिष्ट हैं। इसका निर्माण दुनियाभर के संविधानों से टुकड़े लेकर किया गया। कहते हैं दुनियाभर के संविधानों से जितनी अच्छी बातें मिलीं, वे सभी भारतीय संविधान में शामिल की गई हैं। लेकिन इसकी बुराई करने वालों की भी कमी नहीं है। भारतीय संविधान में लोकतंत्र की रक्षा के लिए कई प्रावधान किए गए हैं तो आवश्यकता होने पर संविधान में संशोधन के लिए भी प्रावधान हैं।

प्रस्तुत अध्याय में भारतीय संविधान का अर्थ, उसके निर्माण में प्रयुक्त स्रोत, उसकी विशेषताएं, संशोधन के प्रावधानों, उसकी आलोचना एवं संविधान की क्षमताओं के बारे में पढ़ेंगे।

१३.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

भारतीय संविधान : एक परिचय
भारतीय संविधान के आधार
भारतीय संविधान की विशेषताएं
भारतीय संविधान की आलोचना
भारतीय संविधान की क्षमताएं

१३.२.१ भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताएं :

हमारी शासन व्यवस्था का संचालन हमारे संविधान के अनुसार ही होता है। संविधान शासन-व्यवस्था को आधार प्रदान करता है। संविधान राजनीतिक व्यस्वस्था का खाका मात्र न होकर राष्ट्र की जनता की आस्थाओं और मान्यताओं की अभिव्यक्ति करना है। संविधानसभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष बीआर अंबेडकर ने स्वीकार किया था कि हमारे संविधान में यदि नवीन बात हो सकती है तो यही कि उसके पुराने प्रचलित संविधान की गलतियों को दूर कर दिया जाए और उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाए। उधार लेने में किसी तरह की साहित्यिक चोरी नहीं है। शासन और विधान के बुनियादी सिद्धांतों के बारे में किसी का कोई एकाधिकार नहीं होता।

संविधान निर्माताओं को इस बात का अहसास था कि वे भारत जैसे विशाल और वैविध्यतापूर्ण देश के लिए एक ऐसा विधान बना रहे थे जो न केवल सामाजिक समस्याओं और संकटों के भंवर में से राष्ट्र की नौका को सफलतापूर्वक खे सके वरन युग-युग तक देश का दिशासूचक बना रहे।

भारत का नया संविधान 26 नवंबर, 1949 को बनकर तैयार हुआ और 26 जनवरी, 195 को लागू हुआ। यह लिखित संविधान है और संविधान की सभी बातें इसमें मिलती हैं, परन्तु संविधान का अध्ययन केवल उस

आलेख के आधार पर करना ही उचित नहीं होगा जो 26 जनवरी 195 को लागू हुआ। आज के भारतीय संविधान का पूर्ण अध्ययन करने के लिए उसके मुख्य संवैधानिक प्रलेख के अतिरिक्त हमें कई दूसरे साधनों का भी सहारा लेना पड़ता है।

१३.२.२ भारतीय संविधान के आधार :

भारतीय संविधान के आज अग्रलिखित स्त्रोत कहे जा सकते हैं :

1. 1935 का भारत सरकार अधिनियम : हमारे संविधान के आकार, भाषा तथा विषय-सूची पर 1935 के एक्ट की गहरी छाप है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से 1935 के एक्ट की लगभग 2̂ धाराओं को ज्यों का त्यों थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके संविधान में रख लिया गया।

2. विदेशी संविधान : संविधान निर्माताओं ने बिना संकोच के विदेशी संविधानों से जो संस्थाएं और नियम अच्छे लगे ले लिए। मुख्यतया निम्न संविधानों से संस्थाएं व नियम लिए :

क. ब्रिटिश संविधान : संसदीय शासन प्रणाली ब्रिटिश की देन है। ब्रिटिश कॉमन सदन की तरह संसद की लोकसभा राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली है। भारत में इंग्लैंड की तरह की कानून व्यवस्था और एकीकृत न्यायिक व्यवस्था, एकीकृत नौकरशाही और इकहरी नागरिकता को अपनाया गया है।

ख. अमेरिकन संविधान : अमेरिकन संविधान की प्रस्तावना से भारतीय संविधान की प्रस्तावना मिलती-जुलती है। भारतीय संविधान में दिए गए मौलिक अधिकार सुप्रीम कोर्ट की शक्तियां, उपराष्ट्रपति का पद आदि अमेरिकन संविधान से मिलते हैं।

ग. कैनेडियन संविधान : कनाडा के संविधान की तरह भारत को राज्यों का संघ कहा गया है। संविधान में केंद्र और राज्य की शक्तियों का बंटवारा कैनेडियन मॉडल के आधार पर किया गया है। संघ की वैधानिक व्यवस्था पर भी कनाडा के संविधान का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है।

घ. जर्मन सिद्धांत : राष्ट्रपति को जो संकटकालीन शक्तियां दी गई हैं वे जर्मन के वाइमर संविधान से ली गई हैं।

ङ: आयरिश संविधान : राज्यनीति के निर्देशक सिद्धांतों के अलावा राज्यसभा में कला, साहित्य, संविधान, विज्ञान, सामाजिक सेवा के क्षेत्र में से प्रतिष्ठित व्यक्तियों को मनोनीत करने का विचार भी आयरलैंड के संविधान से लिया गया है।

च. दक्षिणी अफ्रीका का संविधान : संविधान में संशोधन करने की विधि तथा राज्यसभा में सदस्यों का चुनाव का तरीका दक्षिणी अफ्रीका के संविधान से लिया गया है।

छ. आस्ट्रेलिया का संविधान : भारतीय संविधान में समवर्ती सूची को शामिल किया गया है और यह नियम संविधान निर्माताओं ने आस्ट्रेलिया से लिया गया है।

3. 1948 का मसौदा संविधान : भारतीय संविधान का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत 1948 का मसौदा संविधान है जिसे डा. अंबेडकर की अध्यक्षता में मसौदा समिति ने तैयार करके 21 फरवरी, 1948 को संविधान सभा के प्रधान डा. राजेंद्र प्रसाद को प्रस्तुत किया।

4. संविधान सभा का वाद-विवाद : संविधान सभा की विभिन्न समितियों के वाद-विवाद तथा संविधान सभा के अंदर हुआ वाद-विवाद संविधान का उपयोगी स्त्रोत है तथा उच्चतम न्यायालय ने इसका उपयोग किया है।

गोपालन के अभियोग में संविधान सभा की एक रिपोर्ट का उदाहरण दिया गया था।

5. 1950 का संविधान : भारतीय शासन प्रणाली का पता हमें मुख्य रूप से उप संविधान या प्रलेख से लगता है जो संविधान सभा द्वारा बनाया गया था और 26 जनवरी, 195 को लागू हुआ था।

6. संशोधन : भारतीय संविधान में लागू होने के बाद आज तक 94 संशोधन हो चुके हैं।

7. संसद अधिनियम : संविधान की बहुत सी बातों का पता संसद द्वारा पास किए गए विभिन्न अधिनियमों से चलता है। संविधान में बहुत से ऐसे अधिनियम उपलब्ध हैं जिन्होंने संसद को विस्तार की बातें निश्चत करने का अधिकार दिया है।

8. न्यायिक निर्णय : संविधान का विकास न्यायपालिका के कई नियमों द्वारा भी हुआ है। अब तक बहुत से मुकदमों में सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने संविधान के बहुत से उपबंधों की व्याख्या की है और उनका एक निश्चित अर्थ बताया है।

9. नियम, विनियम आदेश आदि : संसद के प्रत्येक सदन को यह अधिकार है कि वह अपनी कार्यवाही को नियमित करने के लिए कार्य चलाने के नियम बनाए। इसी प्रकार राष्ट्रपति को भी अधिकार है कि वह संवैधानिक विषयों को निश्चित करने के लिए स्वयं नियम बनाए।

10. संवैधानिक विशेषज्ञों के विचार : समस्त देशों में संवैधानिक विशेषज्ञों तथा लेखकों के विचारों का आदर किया जाता है। यह विचार भी संवैधानिक कानून का एक स्रोत है। विदेशी तथा बहुत से भारतीय लेखकों ने भारतीय संविधान पर महान ग्रंथ रचे हैं। उनमें कुछ प्रसिद्ध हैं :

1. बासू, भारतीय संविधान
2. शुक्ला, भारतीय संविधान पर टिप्पणियां
3. ए. बी. लाल, भारतीय संसद

१३.२.३ भारतीय संविधान की विशेषताएं :

संविधान जीवन का वह मार्ग है जिसे राज्य ने अपने लिए चुना है। राज्य का यह जीवन मार्ग उसकी अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप होता है और प्रत्येक राज्य की परिस्थितियां भिन्न होने के कारण उसके संविधान की कुछ निजी विशेषताएं होती हैं। भारतीय संविधान की विशेषताएं निम्न हैं :

1. लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान : भारतीय संविधान लोकप्रिय प्रभुता पर आधारित संविधान है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि हम भारत के लोग.... दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज ... संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते हैं।

2. निर्मित, लिखित और सर्वाधिक व्यापक संविधान : भारत में संविधान का निर्माण विशेष समय पर विशेष संविधान सभा द्वारा किया गया और इसे लिखित रूप दिया गया। यह ब्रिटिश संविधान के विपरीत और अमेरिकी संविधान की भांति एक निर्मित और लिखित संविधान है। इसके अतिरिक्त डॉ. आइवर जैनिग्ज के शब्दों में, भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है। इसमें 395 अनुच्छेद और 1 परिशिष्ट हैं।

संविधान इतना व्यापक क्यों ? भारतीय संविधान में अनेक प्रावधानों को 1935 के भारतीय शासन अधिनियम से ज्यों का त्यों ले लिया गया। इस कारण स्वाभाविक रूप से संविधान व्यापक हो गया। इसके अन्य कारण भी थे

1. भारतीय संविधान संघात्मक है और संघ और राज्यों के बीच संबंधों का संविधान में व्यापक रूप से वर्णन किया गया है।

2. संविधान में मौलिक अधिकारों और उन पर प्रतिबंधों की व्यवस्था का वर्णन किया गया है।

3. संविधान में अल्पसंख्यकों और आंग्ल भारतीयों, अनुसूचित जातियों व जनजाति क्षेत्रों से संबंधित विशेष वर्गों के हितों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की गई है।

4. नवजात प्रजातंत्र के लिए संकट के रूप में उत्पन्न होने वाली विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए 18वें भाग में संकटकालीन प्रावधानों से संबंधित 9 अनुच्छेदों को स्थान दिया गया है।

5. संविधान की व्यापकता का सबसे बड़ा कारण यह है कि भारतीय संविधान में न केवल मूल सिद्धांतों का वर्णन, वरन प्रशासनिक प्रबंधों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि भारतीय संविधान की व्यापकता व्यर्थ नहीं वरन भारत की विशेष और अत्यंत जटिल परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम है।

3. संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य : संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि भारत एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य है।

संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न : इसका अर्थ है कि आंतरिक व बाहरी दृष्टि से भारत पर किसी विदेशी सत्ता का अधिकार नहीं है। भारत अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार आचरण कर सकता है और वह किसी भी अंतरराष्ट्रीय समझौते या संधि को मानने के लिए बाध्य नहीं।

लोकतंत्रात्मक राज्य : भारत में राजसत्ता जनता में निहित है। जनता को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार होगा, जो जनता के स्वामी न होकर सेवक होंगे।

भारत एक गणराज्य है : ब्रिटेन जैसे विश्व के कुछ ऐसे लोकतंत्रात्मक राज्य है जहां राज्य का प्रधान वंशानुगत राजा होता है लेकिन भारत का गणतंत्रात्मक इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत राज्य का सर्वोच्च अधिकारी वंश क्रमानुगत राजा न होकर जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति है। इसके साथ ही 16 मई, 1949 को संविधान सभा ने यह मान लिया कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का सदस्य बना रहे। राष्ट्रमंडल एक लचीला संगठन है और जिस समय भारत को इसकी सदस्यता प्रदान की गई, उसी समय राष्ट्रमंडलीय सम्मेलन में यह स्वीकार किया गया था कि राष्ट्रमंडल में भारत की स्थिति वैधानिक रूप में अन्य उपनिवेशों की अपेक्षा कुछ अलग है। इस प्रकार राष्ट्रमंडल का सदस्य होते हुए भी भारत संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य है।

4. समाजवादी राज्य : संविधान सभा में इस बात पर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ था कि समाजवाद को राज्य दर्शन के रूप में स्वीकार किया जाए या नहीं। अंत में यही सोचा गया था कि किसी एक विशेष दर्शन को स्वीकार करने से नवीन विवादों को जन्म मिलेगा। लेकिन इस बात पर सभी भारतीय सहमत रहे कि भारत के लिए समाजवाद का मार्ग ही उपयुक्त हो सकता है। 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में भारत को समाजवादी राज्य घोषित किया गया है।

5. धर्मनिरपेक्ष राज्य : प्राचीन भारतीय राजनीति, मुस्लिम काल के धार्मिक राज्य तथा ब्रिटिश शासनकाल की धर्म विभेद की नीति के अंतर्गत शासन में विशिष्ट धर्म को प्रमुख स्थान दिया गया था, लेकिन भारतीय संविधान के निर्माता धर्म विशेष रूप को राजनीति के साथ मिश्रित करने के दुष्परिणामों से परिचित थे। वे यह जानते थे कि धार्मिक विभेद ने देश की एकता को आघात पहुंचाया है और नवीन प्रजातंत्र की सुदृढ़ नींव समस्त प्रजाजनों के

विश्वास के आधार पर ही रखी जा सकती है। अत: उन्होंने परंपराओं के विरुद्ध जाकर भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को अपनाया। 42वें संशोधन द्वारा भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करके धर्मनिरपेक्षता को और बल प्रदान किया गया।

धर्मनिरपेक्ष राज्य का तात्पर्य यह है कि राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं और राज्य के द्वारा विभिन्न धर्मावलंबियों में कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। एम.सी. सीतलवाड़ का कहना है कि पश्चिम की उदारवादी प्रजातांत्रिक परंपरा के अनुसार धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म के विरुद्ध नहीं है, वरन वह धार्मिक मामलों में तटस्थ है।

कुछ लेखकों के द्वारा इस धर्मनिरपेक्षता के आधार पर भारत को धर्म विरोधी राज्य की संज्ञा दी गई है, परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत ही है। वास्तव में भारत मानवता के व्यापक सिद्धांतों पर आधारित एक ऐसा वास्तविक नैतिक राज्य है जिसका उद्देश्य संकीर्ण धार्मिक विवादों से दूर रहते हुए अपने सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति की ओर उन्मुख करना है। इसका उद्देश्य जहां एक ओर धार्मिक कट्टरता को निरुत्साहित करना है, वहीं इसका उद्देश्य यह भी है कि व्यक्तियों को अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए किन्हीं अन्य धर्मों का विरोध का अधिकार नहीं दिया जा सकता है।

6. कठोरता और लचीलेपन का समन्वय : संशोधन प्रणाली के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं - कठोर और लचीला। लचीला उस संविधान को कहते हैं जिसमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में कोई अंतर नहीं किया जाता और संविधान में विधि निर्माण की साधारण प्रक्रिया के आधार पर संशोधन किया जा सकता है। इसके विपरीत कठोर संविधान में संवैधानिक संशोधन के लिए साधारण कानून निर्माण से भिन्न और जटिल प्रक्रिया को अपनाया जाता है।

उपर्युक्त दृष्टि से भारतीय संविधान कठोर संविधान की श्रेणी में आता है, क्योंकि भारतीय संविधान की अधिकांश धाराओं को संशोधित करने के लिए संसद के सभी सदस्यों के बहुमत के अतिरिक्त उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत की भी आवश्यकता होती है।

लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय संविधान के संशोधन की पद्धति उतनी जटिल नहीं है जितनी कि अमेरिका या अन्य संघ राज्यों के संविधानों की संशोधन पद्धति। कुछ विषयों में तो निर्माण, वर्तमान राज्यों के पुनर्गठन और भारतीय नागरिकता के अर्थ परिवर्तन आदि कार्य संसद साधारण बहुमत से कर सकती है। इस प्रकार भारतीय संविधान न तो ब्रिटिश संविधान की तरह लचीला है और न अमेरिकी संविधान की तरह अत्यधिक कठोर।

7. संसदात्मक शासन व्यवस्था : व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक संबंध की दृष्टि से जो दो प्रकार की शासन व्यवस्थाएं होती हैं, उनमें संविधान निर्माताओं ने केंद्र और एकक राजयों में संसदात्मक शासन व्यवस्था को ही अपनाया है। इस शासन व्यवस्था के अंतर्गत शासन की वास्तविक सत्ता मंत्रिपरिषद में निहित होती है जिसे व्यवस्थापिका निर्वाचित करती है और जो व्यवस्थापिका के प्रसाद पर्यंत ही अपने पद पर रहते हैं। राष्ट्रपति और राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख होते हैं और वे अपने-अपने उत्तरदायी मंत्रियों की मंत्रणा के आधार पर ही कार्य करते हैं। डा. अंबेडकर ने संविधान सभा में कहा था, 'संसदात्मक शासन प्रणाली में शासन के उत्तरदायित्व का मूल्यांकन एक निश्चित समय के बाद तो होता ही है, इसके साथ ही दिन-प्रतिदिन भी होता रहता है।'

8. एकात्मक लक्षणों सहित संघात्मक शासन : भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार भारत राज्यों का एक संघ होगा। इस प्रकार भारत में संघात्मक शसन की स्थापना की गई है और इसमें संघात्मक शासन

के सभी लक्षण विद्यमान हैं। संविधान में शासन शक्ति एक स्थान पर केंद्रित न कर, केंद्र और राज्य सरकारों में विभाजित कर दी है जो दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं। संविधान लिखित और बहुत सीमा तक कठोर है और इसे सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गई है। उच्चतम न्यायालय को संविधान का रक्षक बनाया गया है जिसे संविधान की व्याख्या करने और केंद्र एवं राज्यों के बीच उत्पन्न संवैधानिक झगड़ों के निर्णय का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था स्थापित की गई है। किन्तु इसमें कुछ ऐसे तत्व हैं जिससे इसका झुकाव एकात्मक शासन की ओर स्पष्ट होता है, जैसे इकहरी नागरिकता, इकहरी न्यायपालिका, अखिल भारतीय सेवाएं, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति, संसद द्वारा राज्यों के नाम, क्षेत्र और सीमाओं में परिवर्तन आदि। इन लक्षणों के आधार पर प्रो. व्हीयर कहते हैं कि भारत का नया संविधान ऐसी शासन व्यवस्था को जन्म देता है जो अधिक से अधिक अर्द्ध-संघीय है। यह एक ऐसे एकात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसमें कतिपय संघीय विशेषताएं हैं न कि यह एक ऐसा संघात्मक राज्य है जिसमें कतिपय एकात्मक विशेषताएं हों।

लेकिन तथ्य यह है कि भारतीय संविधान एक ऐसी संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना करता है जिसका झुकाव एकात्मकता की ओर है।

9. संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय : भारतीय संविधान में इंग्लैंड की संसदीय संप्रभुता तथा अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता के मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। इंग्लैंड में पार्लियामेंट द्वारा निर्मित कानून को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती जबकि अमेरिका के संविधान में न्यायपालिका की सर्वोच्ता के सिद्धांत को अपनाया गया है जिसका अर्थ है कि न्यायालय संविधान का संरक्षक और अभिभावक है।

भारत में संसदात्मक व्यवस्था को अपनाकर सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है, लेकिन साथ ही संघात्मक व्यवस्था के आदर्श के अनुरूप न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने तथा उन विधियों और आदेशों को अवैध घोषित करने का अधिकार दिया गया है जो संविधान के विरुद्ध हों। दुर्गादास बसु के शब्दों में, भारतीय संविधान में अमेरिकी न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धांत एवं इंग्लैंड के संसदीय प्रभुसत्ता के सिद्धांत के बीच का मार्ग अपनाया है।

10. मौलिक अधिकार और मूल कर्तव्य : अमेरिका और आयरलैंड आदि देशों के संविधानों की तरह हमारे संविधान द्वारा ही नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए गए हैं। मौलिक अधिकारों का आशय नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकारों और स्वतंत्रताओं से है जिन्हें राज्य और सरकार के विरुद्ध भी लागू किया जा सकता है। संविधान द्वारा नागरिकों को इस प्रकार के 7 मौलिक अधिकार प्रदान किए गए थे, लेकिन अब संपत्ति का अधिकार मौलिक अधिकार नहीं रहा है और 6 मौलिक अधिकार प्राप्त हैं।

इसके अलावा 42वें संशोधन के द्वारा नागरिकों के 1 मूल कर्तव्य भी निश्चित किए गए हैं।

11. नीति निर्देशक तत्व : भारतीय संविधान के चौथे अध्यान में शासन संचालन के लिए मूलभूत सिद्धांतों का वर्णन किया गया है और उन्हें ही राज्य के नीति निर्देशक तत्व अर्थात नीति निश्चत करने वाले तत्व कहा गया है। इन तत्वों का विचार आयरलैंड के संविधान से लिया गया है। संविधान के 37वें अनुच्छेद में कहा गया है कि नीति निर्देशक तत्वों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, परन्तु तो भी ये तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं। इस प्रकार इन तत्वों को वैधानिक शक्ति तो प्राप्त नहीं है, लेकिन इन्हें राजनीतिक शक्ति अवश्य प्राप्त है।

12. स्वतंत्र न्यायपालिका और अन्य स्वतंत्र अभिकरण : संघात्मक शासन व्यवस्था में न्यायपालिका संविधान की व्याख्याता और रक्षक होने के कारण उसका स्वतंत्र होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किए गए मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता नितांत आवश्यक हो जाती है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता हेतु संविधान में अनेक विशेष व्यवस्थाएं की गई हैं।

स्वतंत्र न्यापालिका के अतिरिक्त संविधान के द्वारा अन्य स्वतंत्र अभिकरणों की भी व्यवस्था की गई है जिनमें निर्वाचन आयोग, नियंत्रक व महालेखा परीक्षक व लोक सेवा आयोग प्रमुख हैं।

13 सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का अंत और वयस्क मताधिकार का प्रारंभ : संविधान में 199 के सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को समाप्त कर वयस्क मताधिकार के आधार पर संयुक्त प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया गया है। करोड़ों व्यक्तियों को एक साथ मताधिकार प्रदान करना संविधान सभा का निश्चित रूप से एक साहसिक कार्य था।

14. एकल नागरिकता : अमेरिका और अन्य संघ राज्यों में संघ और राज्य की दोहरी नागरिकता का प्रचलन है, लेकिन भारतीय संविधान निर्माताओं का विचार था कि दोहरी नागरिकता भारत की एकता को बनाए रखने में बाधक सिद्ध हो सकती है। अत: संविधान निर्माताओं द्वारा संघ राज्य की स्थापना करते हुए भी दोहरी नागतिरकता नहीं वरन एकल नागरिकता के आदर्श को ही अपनाया गया है।

15. अल्पसंख्यक तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण की विशेष व्यवस्था : भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों को धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक हितों की रक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजाति क्षेत्रों के नागरिकों को सेवाओं, विधानसभाओं और अन्य क्षेत्रों में विशेष संरक्षण प्रदान किया गया। यह सुविधा इस दृष्टि से दी गई कि इन वर्गों की बहुत गिरी हुई स्थिति होने के कारण इन वर्गों के विकास के लिए विशेष सुविधाओं की आवश्यकता है।

16. सामाजिक समानता की स्थापना : भारतीय संविधान में सभी नागरिकों की समानता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 17 में कहा गया है कि अस्पृश्यता का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। किसी भी रूप में अस्पृश्यता का आचरण विधि के अनुसार दंडनीय होगा।

17. कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श : संविधान के नीति निर्देशक तत्वों के अध्ययन से यह नितांत स्पष्ट हो जाता है कि संविधान निर्माताओं का एक आदर्श था– आदर्श कल्याणकारी राज्य की स्थापना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियोजन की पद्धति को अपनाया जाता है और समाजवादी समाज के ढांचे की स्थापना की नीति निर्धारित की गई है।

18. एक राष्ट्रभाषा की व्यवस्था : राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए हमारे संविधान में हिंदी को देवनागरी लिपि में भारत की राष्ट्रभाषा घोषित किया गया है। इसके साथ ही संघीय सरकार के सभी कार्यालयों में संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद तक अंग्रेजी के प्रयोग की आज्ञा दे दी गई। 1965 में सहभाषा विधेयक पास कर हिन्दी के साथ अंग्रेजी को जारी रखने की अनुमति दी गई है।

19. विश्वशांति का समर्थक : संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में कहा गया है कि राज्य अंतरराष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा की उन्नति का और राष्ट्रों के बीच न्याय तथा सम्मानपूर्ण संबंधों को बनाए रखने का प्रबंध करेगा। व्यवहार के अंतर्गत भी भारत राज्य द्वारा विश्वशांति बनाए रखने की प्रत्येक संभव चेष्टा की गई है।

20. संविधान के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन असंभव : लोकतंत्र, संघ व्यवस्था, गणतंत्रीय स्वरूप, धर्मनिरपेक्षता, न्यायिक पुननिरीक्षण, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव आदि संविधान के बुनियादी ढांचे का निर्माण करते हैं और इस बुनियादी ढांचे में संशोधन नहीं किया जा सकता है।

१३.२.४ भारतीय संविधान की आलोचना :

हमारे संविधान के अनेक गुणों के बावजूद आलोचकों ने इसे विविध संविधानों की खिचड़ी और अभारतीय कहा है। कई आलोचकों ने तो यहां तक कहा है कि यह संविधान भारतीय वातावरण में अनुपयुक्त है और इसका पुनर्निरीक्षण होना चाहिए। संविधान की महत्वपूर्ण आलोचनाएं निम्न हैं :

1. अत्यधिक लंबा और जटिल : आइवर जैनिंग्स ने लिखा है कि भारतीय संविधान अत्यधिक लंबा, विस्तृत तथा दुष्परिवर्तनशील है। संविधान निश्चित रूप से लंबा और विस्तृत है, लेकिन दुष्परिवर्तनशील नहीं है। संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों की दृष्टि में संविधान के विस्तार के अनेक ठोस आधार थे। कई धाराओं का समावेश तो इसलिए किया गया था क्योंकि उनके विषय में सोचा गया कि वे आधारभूत महत्व की हैं और इस कारण उन्हें सामान्य व्यवस्थापन के स्तपर पर नहीं छोड़ना चाहिए।

2. भारतीय संविधान अवैध है : कुछ आलोचक भारतीय संविधान को अवैध मानते हैं। उनके अनुसार संविधान का निर्माण करने वाली संविधान सभा वयस्क मताधिकार के सिद्धांत पर निर्वाचित नहीं हुई थी और उसे संप्रभु संस्था भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह आरोप सच नहीं है। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 के द्वारा देश को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई थी और 15 अगस्त, 1947 को संविधान सभा ने प्रभुत्व शक्ति प्राप्त कर ली थी।

3. अभारतीय संविधान : आलोचकों का मत है कि यह संविधान अभारतीय है और अपने सिद्धांतों में न सही तो कम से कम स्वरूप में विदेशी है। बहस के दौरान संविधान सभा के एक सदस्य ने कहा कि हम वीणा अथवा सितार संगीत चाहते थे, लेकिन हमें अंग्रेजी बैंड की धुनें मिली हैं। इन आलोचनाओं के बावजूद लोकतांत्रिक पद्धति, विश्व शांति का आदर्श, धार्मिक सहिष्णुता, गौवध निषेध, मद्यनिषेध तथा पंचायती राज आदि को नितांत अभारतीय नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा अभारतीय होने पर इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी होती, जो नहीं हुई।

4. मौलिकता का अभाव : आलोचकों का मत है कि भारतीय संविधान में मौलिकता का नितांत अभाव है। अनेक स्थानों पर यह संविधान 1935 के अधिनियम की नकल बन गया है। विदेशों से काफी अनुच्छेद लिए गए हैं। श्रीधरानी ने लिखा है कि भारतीय संविधान की मौलिकता यही है कि इसमें स्वतंत्रतापूर्वक संसार के प्रायः समस्त संविधानों के श्रेष्ठतम भागों को चुन लिया गया है। विदेशी संविधानों की व्यवस्थाएं अपनाने के बावजूद हमारा संविधान बहुत अधिक मौलिक बन गया है। हमारे संविधान की संशोधन प्रक्रिया अनूठी ही है। इसमें न्यायालय के संबंध में अमेरिका व इंग्लैंड के संविधान के बीच का रास्ता अपनाया गया है।

5. भारतीय संविधान वकीलों का स्वर्ग है : संविधान में एक सदस्य ने कहा था कि यह संविधान लोगों को अधिक विवादी बनाकर न्यायालयों की ओर आकर्षित करेगा। यह संविधान तो सत्य ही वकीलों का स्वर्ग है जो विवादों के नए-नए मार्ग खोलकर हमारे योग्य वकीलों को पर्याप्त कार्य प्रदान करेगा। यह सत्य है कि यह संविधान दुर्बोध, अस्पष्ट एवं जटिल भाषा से युक्त है। भारत के सामान्य नागरिक के लिए संविधान को समझना

कठिन है और इसे विधि विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। परन्तु प्रो. पायली का कहना है कि यह आवश्यक नहीं कि संविधान की जटिलता परस्पर विवादों का कारण ही बने। किसी वैधानिक प्रलेख की जटिलता और विस्तार का लोगों के परस्पर विवादों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

6. केंद्र को आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली बनाया गया है : आलोचकों के अनुसार भारत में संविधान द्वारा अधिकांश शक्तियां केंद्रीय सरकार को सौंप दी गई हैं और राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य हो गई है। हमारे संविधान निर्माता इस बात से परिचित थे कि भारत में जब-जब केंद्रीय सत्ता दुर्बल हो गई, तब-तब भारत की एकता भंग हो गई और उसे पराधीन होना पड़ा। वे भारत में इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे, अत: उन्होंने केंद्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाया। इस प्रकार भारत में संघीय प्रणाली का विकास देश की राजनीतिक स्थिति के अनुसार हुआ है।

१३.२.५भारतीय संविधान की क्षमताएं :

हमारे संविधान में जिन उदात्त और चिरन्तन तथ्यों का निरूपण किया गया है उनसे किसी को मतभेद नहीं हो सकता। भारत का यह संविधान भारत की प्रभुसत्ता के मूल सिद्धांतों पर आधारित है तथा भारतीय जनता की वास्तविक एकता का प्रतीक है। भारतीय संविधान की क्षमताओं के बारे में अनेक प्रश्न उठाए गए हैं - क्या यह संविधान हमारे देश के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ, क्या अब समय आ गया है कि इस संविधान से विदा लेनी चाहिए? आदि। एसएल शकधन के अनुसार कोई संविधान चाहे कितने ही महान उद्देश्यों को लेकर बनाया गया हो, वह व्यावहारिक राजनीति क रचनात्मक तनावों में ही सजीव व शक्तिशाली बनता है। भारत में आजादी के बाद का इतिहास इतने घटनाचक्रों का युग रहा है कि यह कहा जा सकता है कि संविधान के लगभग हर उपलब्धता का राष्ट्रीय जीवन की वास्तविक स्थितियों की यथार्थता के साथ निबटने की क्षमता के आधार पर परीक्षण हो चुका है।

पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के शब्दों में, पच्चीस वर्षों से हमारे संविधान ने अपनी सामर्थ्य का पर्याप्त प्रमाण दिया है। इसे आंतरिक शक्ति स्वतंत्रता प्राप्ति में किए गए बलिदान और उस बुद्धिमता से प्राप्त होती है जो हमारे निर्माणकर्ताओं ने ऐसा लचीला दस्तावेज तैयार करने में प्रदर्शित की जो हमारी जनता की बदलती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम है।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्र की प्रगति तथा इसके करोड़ों नागरिकों के जीवन को सार्थक रूप देने में संविधान का समुचित योगदान रहा है। भारतीय संविधान के बाद एशिया में जो अन्य संविधान बने उन पर भारतीय संविधान का प्रचुर प्रभाव पड़ा है।

१३.३ सारांश :

संविधान शासन-व्यवस्था को आधार प्रदान करता है। संविधान राजनीतिक व्यस्वस्था का खाका मात्र न होकर राष्ट्र की जनता की आस्थाओं और मान्यताओं की अभिव्यक्ति करना है। संविधानसभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष बीआर अंबेडकर ने स्वीकार किया था कि हमारे संविधान में यदि नवीन बात हो सकती है तो यही कि उसके पुराने प्रचलित संविधान की गलतियों को दूर कर दिया जाए और उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाए। उधार लेने में किसी तरह की साहित्यिक चोरी नहीं है। शासन और विधान के बुनियादी सिद्धांतों के

बारे में किसी का कोई एकाधिकार नहीं होता।

भारत का नया संविधान 26 नवंबर, 1949 को बनकर तैयार हुआ और 26 जनवरी, 195 को लागू हुआ। यह लिखित संविधान है और संविधान की सभी बातें इसमें मिलती हैं, परन्तु संविधान का अध्ययन केवल उस आलेख के आधार पर करना ही उचित नहीं होगा जो 26 जनवरी 195 को लागू हुआ। आज के भारतीय संविधान का पूर्ण अध्ययन करने के लिए उसके मुख्य संवैधानिक प्रलेख के अतिरिक्त हमें कई दूसरे साधनों का भी सहारा लेना पड़ता है।

भारतीय संविधान लोकप्रिय प्रभुता पर आधारित संविधान है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि हम भारत के लोग.... दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज ... संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते हैं।

भारत में संविधान का निर्माण विशेष समय पर विशेष संविधान सभा द्वारा किया गया और इसे लिखित रूप दिया गया। यह ब्रिटिश संविधान के विपरीत और अमेरिकी संविधान की भांति एक निर्मित और लिखित संविधान है। इसके अतिरिक्त डॉ. आइवर जैनिग्ज के शब्दों में, भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है। इसमें 395 अनुच्छेद और 1 परिशिष्ट हैं।

आइवर जैनिंग्स ने लिखा है कि भारतीय संविधान अत्यधिक लंबा, विस्तृत तथा दुष्परिवर्तनशील है। संविधान निश्चित रूप से लंबा और विस्तृत है, लेकिन दुष्परिवर्तनशील नहीं है। संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों की दृष्टि में संविधान के विस्तार के अनेक ठोस आधार थे। कई धाराओं का समावेश तो इसलिए किया गया था क्योंकि उनके विषय में सोचा गया कि वे आधारभूत महत्व की हैं और इस कारण उन्हें सामान्य व्यवस्थापन के स्तपर पर नहीं छोड़ना चाहिए।

कुछ आलोचक भारतीय संविधान को अवैध मानते हैं। उनके अनुसार संविधान का निर्माण करने वाली संविधान सभा वयस्क मताधिकार के सिद्धांत पर निर्वाचित नहीं हुई थी और उसे संप्रभु संस्था भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह आरोप सच नहीं है। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 के द्वारा देश को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई थी और 15 अगस्त, 1947 को संविधान सभा ने प्रभुत्व शक्ति प्राप्त कर ली थी।

आलोचकों का मत है कि यह संविधान अभारतीय है और अपने सिद्धांतों में न सही तो कम से कम स्वरूप में विदेशी है। बहस के दौरान संविधान सभा के एक सदस्य ने कहा कि हम वीणा अथवा सितार संगीत चाहते थे, लेकिन हमें अंग्रेजी बैंड की धुनें मिली हैं। इन आलोचनाओं के बावजूद लोकतांत्रिक पद्धति, विश्व शांति का आदर्श, धार्मिक सहिष्णुता, गौवध निषेध, मद्यनिषेध तथा पंचायती राज आदि को नितांत अभारतीय नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा अभारतीय होने पर इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी होती, जो नहीं हुई।

आलोचकों का मत है कि भारतीय संविधान में मौलिकता का नितांत अभाव है। अनेक स्थानों पर यह संविधान 1935 के अधिनियम की नकल बन गया है। विदेशों से काफी अनुच्छेद लिए गए हैं। श्रीधरानी ने लिखा है कि भारतीय संविधान की मौलिकता यही है कि इसमें स्वतंत्रतापूर्वक संसार के प्राय: समस्त संविधानों के श्रेष्ठतम भागों को चुन लिया गया है। विदेशी संविधानों की व्यवस्थाएं अपनाने के बावजूद हमारा संविधान बहुत अधिक मौलिक बन गया है। हमारे संविधान की संशोधन प्रक्रिया अनूठी ही है। इसमें न्यायालय के संबंध में अमेरिका व इंग्लैंड के संविधान के बीच का रास्ता अपनाया गया है।

संविधान में एक सदस्य ने कहा था कि यह संविधान लोगों को अधिक विवादी बनाकर न्यायालयों की ओर

आकर्षित करेगा। यह संविधान तो सत्य ही वकीलों का स्वर्ग है जो विवादों के नए-नए मार्ग खोलकर हमारे योग्य वकीलों को पर्याप्त कार्य प्रदान करेगा। यह सत्य है कि यह संविधान दुर्बोध, अस्पष्ट एवं जटिल भाषा से युक्त है। भारत के सामान्य नागरिक के लिए संविधान को समझना कठिन है और इसे विधि विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। परन्तु प्रो. पायली का कहना है कि यह आवश्यक नहीं कि संविधान की जटिलता परस्पर विवादों का कारण ही बने। किसी वैधानिक प्रलेख की जटिलता और विस्तार का लोगों के परस्पर विवादों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

१३.४ सूचक शब्द :

संविधान : संविधान शासन-व्यवस्था को आधार प्रदान करता है। संविधान राजनीतिक व्यस्वस्था का खाका मात्र न होकर राष्ट्र की जनता की आस्थाओं और मान्यताओं की अभिव्यक्ति करना है। संविधानसभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष बीआर अंबेडकर ने स्वीकार किया था कि हमारे संविधान में यदि नवीन बात हो सकती है तो यही कि उसके पुराने प्रचलित संविधान की गलतियों को दूर कर दिया जाए और उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाए। उधार लेने में किसी तरह की साहित्यिक चोरी नहीं है। शासन और विधान के बुनियादी सिद्धांतों के बारे में किसी का कोई एकाधिकार नहीं होता।

भारतीय संविधान : भारत का नया संविधान 26 नवंबर, 1949 को बनकर तैयार हुआ और 26 जनवरी, 195 को लागू हुआ। यह लिखित संविधान है और संविधान की सभी बातें इसमें मिलती हैं, परन्तु संविधान का अध्ययन केवल उस आलेख के आधार पर करना ही उचित नहीं होगा जो 26 जनवरी 195 को लागू हुआ। आज के भारतीय संविधान का पूर्ण अध्ययन करने के लिए उसके मुख्य संवैधानिक प्रलेख के अतिरिक्त हमें कई दूसरे साधनों का भी सहारा लेना पड़ता है।

लोकप्रिय प्रभुसत्ता व संविधान : भारतीय संविधान लोकप्रिय प्रभुता पर आधारित संविधान है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि हम भारत के लोग.... दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज ... संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते हैं।

निर्मित, लिखित और सर्वाधिक व्यापक संविधान : भारत में संविधान का निर्माण विशेष समय पर विशेष संविधान सभा द्वारा किया गया और इसे लिखित रूप दिया गया। यह ब्रिटिश संविधान के विपरीत और अमेरिकी संविधान की भांति एक निर्मित और लिखित संविधान है। इसके अतिरिक्त डॉ. आइवर जैनिग्ज के शब्दों में, भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है। इसमें 395 अनुच्छेद और 1 परिशिष्ट हैं।

कठोरता और लचीलेपन का समन्वय : संशोधन प्रणाली के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं - कठोर और लचीला। लचीला उस संविधान को कहते हैं जिसमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में कोई अंतर नहीं किया जाता और संविधान में विधि निर्माण की साधारण प्रक्रिया के आधार पर संशोधन किया जा सकता है। इसके विपरीत कठोर संविधान में संवैधानिक संशोधन के लिए साधारण कानून निर्माण से भिन्न और जटिल प्रक्रिया को अपनाया जाता है।

अत्यधिक लंबा और जटिल : आइवर जैनिंग्स ने लिखा है कि भारतीय संविधान अत्यधिक लंबा, विस्तृत तथा दुष्परिवर्तनशील है। संविधान निश्चित रूप से लंबा और विस्तृत है, लेकिन दुष्परिवर्तनशील नहीं है। संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों की दृष्टि में संविधान के विस्तार के अनेक ठोस आधार थे। कई धाराओं का समावेश

तो इसलिए किया गया था क्योंकि उनके विषय में सोचा गया कि वे आधारभूत महत्व की हैं और इस कारण उन्हें सामान्य व्यवस्थापन के स्तपर पर नहीं छोड़ना चाहिए।

भारतीय संविधान अवैध है : कुछ आलोचक भारतीय संविधान को अवैध मानते हैं। उनके अनुसार संविधान का निर्माण करने वाली संविधान सभा वयस्क मताधिकार के सिद्धांत पर निर्वाचित नहीं हुई थी और उसे संप्रभु संस्था भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह आरोप सच नहीं है। भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 के द्वारा देश को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई थी और 15 अगस्त, 1947 को संविधान सभा ने प्रभुत्व शक्ति प्राप्त कर ली थी।

अभारतीय संविधान : आलोचकों का मत है कि यह संविधान अभारतीय है और अपने सिद्धांतों में न सही तो कम से कम स्वरूप में विदेशी है। बहस के दौरान संविधान सभा के एक सदस्य ने कहा कि हम वीणा अथवा सितार संगीत चाहते थे, लेकिन हमें अंग्रेजी बैंड की धुनें मिली हैं। इन आलोचनाओं के बावजूद लोकतांत्रिक पद्धति, विश्व शांति का आदर्श, धार्मिक सहिष्णुता, गौवध निषेध, मद्यनिषेध तथा पंचायती राज आदि को नितांत अभारतीय नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा अभारतीय होने पर इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी होती, जो नहीं हुई।

मौलिकता का अभाव : आलोचकों का मत है कि भारतीय संविधान में मौलिकता का नितांत अभाव है। अनेक स्थानों पर यह संविधान 1935 के अधिनियम की नकल बन गया है। विदेशों से काफी अनुच्छेद लिए गए हैं। श्रीधरानी ने लिखा है कि भारतीय संविधान की मौलिकता यही है कि इसमें स्वतंत्रतापूर्वक संसार के प्रायः समस्त संविधानों के श्रेष्ठतम भागों को चुन लिया गया है। विदेशी संविधानों की व्यवस्थाएं अपनाने के बावजूद हमारा संविधान बहुत अधिक मौलिक बन गया है। हमारे संविधान की संशोधन प्रक्रिया अनूठी ही है। इसमें न्यायालय के संबंध में अमेरिका व इंग्लैंड के संविधान के बीच का रास्ता अपनाया गया है।

भारतीय संविधान वकीलों का स्वर्ग है : संविधान में एक सदस्य ने कहा था कि यह संविधान लोगों को अधिक विवादी बनाकर न्यायालयों की ओर आकर्षित करेगा। यह संविधान तो सत्य ही वकीलों का स्वर्ग है जो विवादों के नए-नए मार्ग खोलकर हमारे योग्य वकीलों को पर्याप्त कार्य प्रदान करेगा। यह सत्य है कि यह संविधान दुर्बोध, अस्पष्ट एवं जटिल भाषा से युक्त है। भारत के सामान्य नागरिक के लिए संविधान को समझना कठिन है और इसे विधि विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। परन्तु प्रो. पायली का कहना है कि यह आवश्यक नहीं कि संविधान की जटिलता परस्पर विवादों का कारण ही बने। किसी वैधानिक प्रलेख की जटिलता और विस्तार का लोगों के परस्पर विवादों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

१३.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. भारतीय संविधान के बारे में विस्तार से लिखें।
२. भारतीय संविधान की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
३. भारतीय संविधान के गुणों के बारे में चर्चा करें।
४. भारतीय संविधान की आलोचना की चर्चा करें।

१३.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।

भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के निर्धारक तत्व, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप, भारतीय राजनीति का माफियाकरण आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

१४.० उद्देश्य
१४.१ परिचय
१४.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
१४.२.१ राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ
१४.२.२ भारतीय राजनीतिक व्यवस्था
१४.२.३ भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के निर्धारक तत्व
१४.२.४ भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप
१४.२.५ भारतीय राजनीति का माफियाकरण
१४.३ सारांश
१४.४ सूचक शब्द
१४.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
१४.६ संदर्भित पुस्तकें

१४.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

- राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ समझना
- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था से परिचित होना

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के निर्धारक तत्वों की जानकारी लेना
भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप समझना
भारतीय राजनीति के माफियाकरण से परिचित होना

१४.१ परिचय :

किसी भी राज्य या राष्ट्र के शासन को राजनीतिक व्यवस्था से अलग करके नहीं देखा जा सकता। राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल, चुनाव तंत्र, लोकमत की अभिव्यक्ति के साधन, विभिन्न सांप्रदायिक व गैर-सांप्रदायिक गुटों तथा नौकरशाही, अभिजात्य वर्ग आदि शामिल किए जाते हैं। देश का वर्तमान एवं भविष्य उसकी राजनीतिक व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। अत: जितनी अच्छी राजनीतिक व्यवस्था होगी उस देश का वर्तमान एवं भविष्य उतने ही अच्छे होंगे।

प्रस्तुत अध्याय में हम भारत में राजनीतिक दल बनाने की प्रक्रिया, उसके लिए संविधान आदि में व्यवस्था, राज व्यवस्था के निर्धारक तत्व, राजव्यवस्था का स्वरूप तथा भारतीय राजनीति का माफियाकरण आदि पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

१४.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ
भारतीय राजनीतिक व्यवस्था
भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के निर्धारक तत्व
भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप
भारतीय राजनीति का माफियाकरण

१४.२.१ राजनीतिक व्यवस्था-एक परिचय :

राजनीतिक प्रक्रिया का घनिष्ट संबंध व्यवस्था के स्वरूप से रहा है। राजनीति की प्रक्रिया का संबंध अनेक वर्गों और संगठनों से रहता है- राजनीतिक दल, दबाव समूह, हित समूह, चुनाव तंत्र, लोकमत की अभिव्यक्ति के साधन, सांप्रदायिक और गैर सांप्रदायिक गुटों, बुद्धिजीवियों, नौकरशाही और अभिजात्यवर्ग आदि-आदि से। ये ही वर्ग और संगठन देश विशेष की राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। राजनीतिक प्रक्रिया का सामाजिक ढांचे और मूल्यों को बदलने में बड़ा हाथ होता है और राजनीतिक व्यवस्था जनता की राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने को प्रेरित करती है।

राजनीतिक व्यवस्था से अभिप्राय :

राजनीतिक व्यवस्था सामान्यत: व्यवस्थाओं की सीमाओं के पार, पर्यावरण से तथा परस्पर अंत: क्रिया करने वाली उन संरचनाओं, प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं का समुच्चीकरण है जिसे राजनीतिक अंत:क्रियाओं की इकाई या व्यवस्था कहा जा सकता है। इस व्यवस्था का निर्माण सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले उन व्यक्तियों की क्रियाओं द्वारा होता है जो समाज के लिए नीति के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से किसी प्रकार संबद्ध हों।

व्यवस्था शब्द में व्यापक संरचनाएं, मूल्य, आचार आदि आ जाते हैं। राज–व्यवस्था समाज व्यवस्था की उपव्यवस्था है।

१४.२.२ भारतीय राजनीतिक व्यवस्था :

कुछ लोग भारतीय संविधान को ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का पर्याय मान बैठे हैं और अन्य विद्वान भारतीय राज–व्यवस्था को अपनी निर्माण अवस्था में मान रहे हैं। वस्तुत: भारतीय राज–व्यवस्था न तो संविधान मात्र है और न ही निर्माणाधीन। राज व्यवस्था का उसी दिन निर्माण हो चुका था जिस दिन भारत की संविधान निर्मात्री सभा ने उद्देश्य प्रस्ताव और संविधान की प्रस्तावना पर अपनी स्वीकृति दे दी थी। संविधान की प्रस्तावना के अनुकूल ही राज–व्यवस्था को ढलना है न कि प्रतिकूल। राज व्यवस्था न तो पदों का विन्यास होता है और न कोरा संवैधानिक कानून। भारत की राजनीति नित नए मोड़ ले रही है और नित नए आयाम उजागर हो रहे हैं और उनसे राज व्यवस्था का स्वरूप भी अवश्य ही निखर रहा है।

१४.२.३ भारतीय राज व्यवस्था के निर्धारक तत्व :

1. भारतीय संविधान : भारत का लिखित संविधान देश की जनता और समस्त विविधतापूर्ण संस्कृति वाले लोगों को जोड़ता है। संविधान वयस्क मताधिकार की व्यवस्था करके जनता को शासन कार्यों में सक्रिय भागीदार बनाता है। संविधान यह स्पष्ट कर देता है कि संसदात्मक और संघात्मक शासन–पद्धतियों का ही विकास इस देश में होगा। शासन के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने का अधिकार इस देश की जनता में निहित माना गया है।

2. संविधान की प्रस्तावना: संविधान की प्रस्तावना संविधान का कानूनी भाग नहीं है। प्रस्तावना के द्वारा संविधान निर्माताओं ने हमारी राज–व्यवस्था के बुनियादी आदर्शों, आस्थाओं और प्रेरणाओं की वाणी प्रदान की है। राज व्यवस्था शरीर है तो प्रस्तावना उसकी आत्मा।

3. ब्रिटिश विरासत : भारतीय राज–व्यवस्था पर अंग्रेजी शासन का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। अंग्रेजी शासन में महत्वपूर्ण राजनीतिक और विकास संबंधी निर्णय सरकारी ढंग से किए जाते थे। ब्रिटिश काल में आईसीएस अधिकारी शासन के महत्वपूर्ण स्तंभ थे। नई व्यवस्था में भी सारी आर्थिक व राजनीतिक गतिविधियों का संचालन सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है। अत: नई व्यवस्था में नौकरशाही का अभूतपूर्व विस्तार ब्रिटिश विरासत ही कहा जा सकता है।

4. एकीकरण की समस्या : हमारे राष्ट्र निर्माताओं के सामने बुनियादी समस्या राजनीतिक केंद्र बिन्दु की स्थापना और विविधता को एक सूत्र में संग्रहण कर राष्ट्र का निर्माण ही उनकी चिंता का विषय था। राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या ने ही केंद्रीय राज–व्यवस्था की नींव डाली।

5. समायोजन और सहमति के सिद्धांत : कांग्रेस के नेता यह जानते थे कि अभी बहुत दिनों तक कांग्रेस का एकछत्र शासन रहेगा। अत: देश की एकता और स्थिरता के लिए राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सभी गुटों को साथ लेकर समझौते की भावना के निर्णय किए जाने चाहिए। विभाजन से वे समझ चुके थे कि बहुमत की ओर से फैसला लादना एक नए लोकतंत्र के लिए अच्छा न रहेगा।

6. आधुनिकीकरण : आधुनिकता से हमारा समाज प्रभावित हुआ और समाज के आधुनिकीकरण से राज–व्यवस्था के स्वरूप में निखार आया। नई शिक्षा, शासकीय नौकरियां, वयस्क मताधिकार और व्यवस्था के विस्तार

ने पुरातन जात-पात पर आधारित समाज को बदला। चुनावों के फलस्वरूप सभी जातियां और उनके समूह राज-व्यवस्था में सक्रिय भागीदार बन गए।

7. धर्म : धर्म के आधार पर भारत का विभाजन हुआ और उसके बाद भी देश में सिक्ख, पारसी, जैन, ईसाई, बौद्ध धर्मों के अलावा इस्लाम के अनुयायी विद्यमान हैं। अत: राज-व्यवस्था के स्वरूप को धर्मनिरपेक्ष घोषित करना अपरिहार्य था।

8. जाति : हेरल्ड गोल्ड के अनुसार, राजनीति का आधार होने की बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व है। जातियां अपने संस्था बल के आधार पर संगठित होने लगी हैं, निर्वाचन के परिणामों को प्रभावित करने लगी हैं तथा राजनीतिक दलों का आधार तैयार करती हैं। राजनीतिक दलों को अपने प्रत्याशी चुनने में यह देखना पड़ता है कि किस जाति का कितना संख्या बल है और जातिगत नेताओं का कितना राजनीतिक प्रभाव है।

9. क्षेत्रीयता : क्षेत्रीय विवाद राजनीतिक-व्यवस्था को प्रभावित करते हें। क्षेत्रीय समस्याएं राजनीतिक आंदोलनों को जन्म देती हैं। राज्यों के बीच नदी-पानी-विवाद, सीमा-विवाद आदि समस्याएं क्षेत्रीय संकीर्णता का परिणाम कही जा सकती हैं।

10. भाषा : एक लिंक भाषा राजनीतिक-व्यवस्था के विभिन्न तत्वों और अंगों को जोड़ती है। लिंक भाषा के अभाव में राज-व्यवस्था में असंगठन की कमजोर भावनाएं उभरती हैं। एक भाषा एक राष्ट्र का बोध कराती है।

१४.२.४ भारतीय राजव्यवस्था का स्वरूप :

1. प्रधानमंत्री व्यवस्था : जिस प्रकार अमेरिका में कांग्रेस की तुलना में राष्ट्रपति सत्ता और राजनीति का केंद्रबिन्दु है उसी प्रकार भारत में संसद की तुलना में प्रधानमंत्री सत्ता और राजनीति का मुख्य बिन्दु कहा जा सकता है। भूतकाल में नेहरू के नेतृत्व ने प्रधानमंत्री को राजसत्ता का केंद्र बनाया तो इंदिरा गांधी की समाजवादी नीतियों में इसमें और वृद्धि की।

2. सिद्धांतत: समाजवादी व्यवस्था : संविधान निर्माताओं ने भारत के संविधान में समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद जैसे किसी विशिष्ट राजनीतिक दर्शन का अनुयायी नहीं बनाया, किन्तु धीरे-धीरे भारतीय राज-व्यवस्था का विचारदर्शन समाजवादी-व्यवस्था का हो गया। आज भारत में सरकार पंचवर्षीय परियोजनाओं द्वारा लोकतांत्रिक समाजवाद की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर है।

3. व्यवहार में पूंजीवादी अर्थतंत्र : स्वतंत्रता के बाद के वर्षों के दौरान राजनीतिक नेताओं ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति अपनाई जिसका अर्थ था एक नियोजित और विनियामक अर्थव्यवस्था। बाद के वर्षों में राजकीय विनियमन, भूमि सुधारों, सार्वजनिक क्षेत्र, बैंक राष्ट्रीयकरण और निजी क्षेत्र में हस्तक्षेप करने के अन्य उपाय अपनाए गए।

4. संघात्मक व्यवस्था का एकात्मवादी रूप : संविधान द्वारा भारत में संघात्मक ढांचे की स्थापना की गई, परन्तु इसका झुकाव एकात्मक की ओर रखा गया और व्यावहारिक राजनीति के अनेक तत्वों के कारण एकात्मकता की ओर उसकी यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ गई।

5. धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था : संविधान में धर्म निरपेक्ष शब्द का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है तथापि धर्मनिरपेक्षता भारतीय राज-व्यवस्था का मुख्य गुण बन गया है। राजनीति में हिस्सा लेने का आधार धर्म नहीं है और न धर्म के आधार पर शासन में ही कोई भेदभाव किया जा सकता है।

6. लोकतंत्रात्मक व्यवस्था : भारतीय राज व्यवस्था में शासन सूत्र जनता के हाथ में है। राजनीतिक शक्ति पर किसी वर्ग विशेष का अधिकार नहीं है। राज व्यवस्था में जनता को अपनी इच्छानुसार अपने शासक और अपनी राजनीतिक व्यवस्था चुनने की आजादी है और लोगों को आत्मविकास के समान अवसर उपलब्ध करवाए गए हैं।

7. खुली राजनीतिक व्यवस्था : राजनीतिक व्यवस्था पर कोई प्रतिबंध या परिसीमाएं नहीं हैं। भारत में पश्चिमी देशों की विशेषताओं को अंगीकार करने में भी आनाकानी की जहां आर्थिक नियोजन का सिद्धांत सोवियत रूस से सीखा गया, वहां कल्याणकारी राज्य का दृष्टिकोण ब्रिटेन से अपनाया गया।

8. परंपरा और आधुनिकता का मिश्रण : भारत में चुनाव व्यवस्था आधुनिक है जबकि चुनावों पर जाति और धर्म का प्रभाव परंपरागत है। संघवाद का सिद्धांत परंपरागत है, किन्तु केंद्रीयभूत संघ का विचार आधुनिक है। संसदात्मक शासन व्यवस्था का विचार परंपरागत है जबकि नीति निर्देशक सिद्धांत आधुनिक हैं।

9. दल-बदल : दल बदल से अभिप्राय है दलगत संबंध अथवा निष्ठा में परिवर्तन। भारतीय राज व्यवस्था में संसद या विधानमंडल का सदस्य कोई भी अपनी दलगत आस्थाओं और संबंधों में परिवर्तन कर सकता है। किसी विधायक का अपने दल का परित्याग कर दूसरे दल में जा मिलना, नया दल बना लेना या निर्दलीय स्थिति अपना लेना आदि आम बात हो गई हैं।

10. अस्थिरता और अव्यवस्था की राजनीति : अस्थिरता और अव्यवस्था की राजनीति भारतीय राज व्यवस्था का उभरता स्वरूप है। राजनीतिक व्यवस्था में हिंसात्मक घटनाएं, जन आंदोलन, जुलूस, रैली, हड़ताल आदि आम बात हो गई है।

11. नौकरशाही पर निर्भरता : भारतीय राज-व्यवस्था को बनाए रखने में प्रशासनतंत्र का बड़ा हाथ है। राजनीतिक परिवर्तन के समय नौकरशाही देश को स्थिरता प्रदान करती है। राजनीतिक नेताओं को उच्च स्तरीय नीति-निर्माण में नौकरशाही का विशिष्ट परामर्श प्राप्त होता है।

12. सरकार ही केंद्र बिन्दु : भारत में सरकार के चारों ओर ही सारी राजनीति घूमती है। रजनी कोठारी के अनुसार विरोध का अर्थ सरकार का विरोध है चाहे वह दल के भीतर हो या बाहर, चाहे सरकारी दल कांग्रेस हो या अन्य पार्टी। सन् 1967 तक जितने भी आंदोलन हुए वे सब सत्तारूढ़ दल के विरोध में थे।

13. परंपरावादी और आधुनिक दबाव समूहों का संगम : राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों और हित समूहों का अभ्युदय एवं उन्नयन कोई नूतन तथ्य नहीं है। सदैव ही सब प्रकार के समाज एवं शासन में दबाव समूह विद्यमान रहे हैं।

14. अनुत्तरदायी प्रतिपक्ष : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रतिपक्ष की सदैव यह विशेषता रही है कि वह अनुत्तरदायी आचरण करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान बैठता है। विरोधी दल संवैधानिक साधनों की बजाय गैर-संवैधानिक साधनों से सरकार को गिराकर अपनी सरकार बनाने की ताक में लगे रहते हैं।

15. विविधता में एकता : भारतीय राज व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्व हैं देश की विशालता, प्राचीनता, जाति, भाषा, धर्म और संस्कृतिगत विविधता। भारत की राजनीति में प्रांतीय और वर्गगत मांगों ने राष्ट्रीय राज-व्यवस्था के सामने नई समस्याएं खड़ी की हैं। कभी-कभी राज्य के भीतर विशिष्ट क्षेत्रों के अलगाव के लिए आंदोलन उठ रहे हैं। इस विविधता में भी राष्ट्रीय एकता की भावना विकसित हुई है और एकता के निर्माण में राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य हाथ रहा है।

16. न्यापालिका स्वरूप और भूमिका : न्यायपालिका का निर्माण समाज के उच्च मध्य वर्ग के सदस्यों

से हुआ है। वे बहुत कुछ एक छोटे सामाजिक समूह से ही आते हैं। न्यायमूर्ति वीआर कृष्ण अय्यर के शब्दों में, हमारी न्यायपालिका के कर्मियों का चुनाव कैसे किया जाता है? वकीलों से – जो अधिकतर मध्यवर्ग अथवा भू–स्वामी वर्ग से आते हैं।

17. गुटबंदी : कांग्रेस को अपने संगठन के भीतर सदैव ही गुटबंदी को सहन करना पड़ा है। प्रारंभ में समाजवादी गुट कांग्रेस में प्रभावशाली था। बाद में सिंडीकेट और यंग टर्क जैसे गुटों का निर्माण हुआ। जनसंघ में भी गुटबंदी के कारण कुछ ही समय पूर्व मधोक गुट को अलग होना पड़ा। डीएमके जैसे दल भी विभाजित हो चुके हैं।

18. सत्ता के गैर–संवैधानिक सूत्र : हमारी राज व्यवस्था में सत्ता के संवैधानिक सूत्र हैं संसद और मंत्रिमंडल। पर कभी–कभी गैर–संवैधानिक सूत्र भी विकसित हो जाते हैं। आपातकाल में नीति संबंधी निर्णय मंत्रिमंडल नहीं लेता था, मंत्रिमंडल को तो मात्र निर्णयों की सूचना दी जाती थी। जनता पार्टी के शासन में जयप्रकाश नारायण का काफी प्रभाव था।

निष्कर्ष : भारत में नई व्यवस्था का निर्माण हो रहा है और पुरातन व्यवस्था जिसमें हर जाति या समूह के कार्य, अधिकार व मान–मर्यादा निश्चि थी, नष्ट हो गई और उसके बजाय हजारों–लाखों समूहों व समुदायों को सरकार, चुनाव, राजनीतिक दल और शासन के अधिकारी वर्ग में शामिल होने का मौका मिला है।

१४.२.५ भारतीय राजनीति का माफियाकरण :

राजनीतिवादी डा. अमरेश अवस्थी ने कहा था कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था उस अंतिम स्थिति की ओर बढ़ी जा रही है जहां न केवल हमारे प्रजातंत्र का अंत होगा बल्कि भारतीय राज्य का भी अंत भी संभव होगा। परिस्थितियां नहीं बदलीं तो दस वर्षों में कानून के शासन के स्थान पर बंदूक का शासन स्थापित हो जाएगा। उन्होंने इन बातों पर विशेष ध्यान आकर्षित कराया :

1. संसदीय प्रजातंत्र के स्थान पर लोक लुभावनकारी जनतंत्र
2. राजनीति में बढ़ी हुई हिंसा
3. देश में धीरे–धीरे चल रही विघटन की प्रक्रिया
4. नैतिक मूल्यों का ह्रास
5. राजनीति का अपराधीकरण।

राजनीति में आज अपराध गिरोहों और माफिया का जोर साफ दिखाई देता है। राजनीतिक स्थिति का जायजा लेते हुए डा. अवस्थी ने कहा कि देश में जनता के द्वारा शासन के स्थान पर जनता के नाम पर शासन की स्थापना होती जा रही है।

निष्कर्ष : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को आर्थिक दृष्टि से नए कीर्तिमान करने होंगे, महंगाई रोकनी होगी और बेरोजगारों के लिए काम जुटाना होगा। लोकतंत्र में सुदृढ़ सरकार का निर्माण निश्चित ही एक शुभ लक्षण है।

१४.३ सारांश :

राजनीतिक व्यवस्था सामान्यत: व्यवस्थाओं की सीमाओं के पार, पर्यावरण से तथा परस्पर अंत: क्रिया करने वाली उन संरचनाओं, प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं का समुच्चीकरण है जिसे राजनीतिक अंत:क्रियाओं की इकाई या

व्यवस्था कहा जा सकता है। इस व्यवस्था का निर्माण सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले उन व्यक्तियों की क्रियाओं द्वारा होता है जो समाज के लिए नीति के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से किसी प्रकार संबद्ध हों। व्यवस्था शब्द में व्यापक संरचनाएं, मूल्य, आचार आदि आ जाते हैं। राज-व्यवस्था समाज व्यवस्था की उपव्यवस्था है।

कुछ लोग भारतीय संविधान को ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का पर्याय मान बैठे हैं और अन्य विद्वान भारतीय राज-व्यवस्था को अपनी निर्माण अवस्था में मान रहे हैं। वस्तुत: भारतीय राज-व्यवस्था न तो संविधान मात्र है और न ही निर्माणाधीन। राज व्यवस्था का उसी दिन निर्माण हो चुका था जिस दिन भारत की संविधान निर्मात्री सभा ने उद्देश्य प्रस्ताव और संविधान की प्रस्तावना पर अपनी स्वीकृति दे दी थी। संविधान की प्रस्तावना के अनुकूल ही राज-व्यवस्था को ढलना है न कि प्रतिकूल। राज व्यवस्था न तो पदों का विन्यास होता है और न कोरा संवैधानिक कानून। भारत की राजनीति नित नए मोड़ ले रही है और नित नए आयाम उजागर हो रहे हैं और उनसे राज व्यवस्था का स्वरूप भी अवश्य ही निखर रहा है।

भारत का लिखित संविधान देश की जनता और समस्त विविधतापूर्ण संस्कृति वाले लोगों को जोड़ता है। संविधान वयस्क मताधिकार की व्यवस्था करके जनता को शासन कार्यों में सक्रिय भागीदार बनाता है। संविधान यह स्पष्ट कर देता है कि संसदात्मक और संघात्मक शासन-पद्धतियों का ही विकास इस देश में होगा। शासन के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने का अधिकार इस देश की जनता में निहित माना गया है।

संविधान की प्रस्तावना संविधान का कानूनी भाग नहीं है। प्रस्तावना के द्वारा संविधान निर्माताओं ने हमारी राज-व्यवस्था के बुनियादी आदर्शों, आस्थाओं और प्रेरणाओं की वाणी प्रदान की है। राज व्यवस्था शरीर है तो प्रस्तावना उसकी आत्मा।

भारतीय राज-व्यवस्था पर अंग्रेजी शासन का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। अंग्रेजी शासन में महत्वपूर्ण राजनीतिक और विकास संबंधी निर्णय सरकारी ढंग से किए जाते थे। ब्रिटिश काल में आईसीएस अधिकारी शासन के महत्वपूर्ण स्तंभ थे। नई व्यवस्था में भी सारी आर्थिक व राजनीतिक गतिविधियों का संचालन सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है। अत: नई व्यवस्था में नौकरशाही का अभूतपूर्व विस्तार ब्रिटिश विरासत ही कहा जा सकता है।

हमारे राष्ट्र निर्माताओं के सामने बुनियादी समस्या राजनीतिक केंद्र बिन्दु की स्थापना और विविधता को एक सूत्र में संग्रहण कर राष्ट्र का निर्माण ही उनकी चिंता का विषय था। राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या ने ही केंद्रीय राज-व्यवस्था की नींव डाली।

भारत में नई व्यवस्था का निर्माण हो रहा है और पुरातन व्यवस्था जिसमें हर जाति या समूह के कार्य, अधिकार व मान-मर्यादा निश्चि थी, नष्ट हो गई और उसके बजाय हजारों-लाखों समूहों व समुदायों को सरकार, चुनाव, राजनीतिक दल और शासन के अधिकारी वर्ग में शामिल होने का मौका मिला है।

१४.४ सूचक शब्द :

राजनीतिक व्यवस्था : राजनीतिक व्यवस्था सामान्यत: व्यवस्थाओं की सीमाओं के पार, पर्यावरण से तथा परस्पर अंत: क्रिया करने वाली उन संरचनाओं, प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं का समुच्चीकरण है जिसे राजनीतिक अंत:क्रियाओं की इकाई या व्यवस्था कहा जा सकता है। इस व्यवस्था का निर्माण सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले उन व्यक्तियों की क्रियाओं द्वारा होता है जो समाज के लिए नीति के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से किसी

प्रकार संबद्ध हों। व्यवस्था शब्द में व्यापक संरचनाएं, मूल्य, आचार आदि आ जाते हैं। राज-व्यवस्था समाज व्यवस्था की उपव्यवस्था है।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था : कुछ लोग भारतीय संविधान को ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का पर्याय मान बैठे हैं और अन्य विद्वान भारतीय राज-व्यवस्था को अपनी निर्माण अवस्था में मान रहे हैं। वस्तुत: भारतीय राज-व्यवस्था न तो संविधान मात्र है और न ही निर्माणाधीन। राज व्यवस्था का उसी दिन निर्माण हो चुका था जिस दिन भारत की संविधान निर्मात्री सभा ने उद्देश्य प्रस्ताव और संविधान की प्रस्तावना पर अपनी स्वीकृति दे दी थी। संविधान की प्रस्तावना के अनुकूल ही राज-व्यवस्था को ढलना है न कि प्रतिकूल। राज व्यवस्था न तो पदों का विन्यास होता है और न कोरा संवैधानिक कानून। भारत की राजनीति नित नए मोड़ ले रही है और नित नए आयाम उजागर हो रहे हैं और उनसे राज व्यवस्था का स्वरूप भी अवश्य ही निखर रहा है।

भारतीय संविधान : भारत का लिखित संविधान देश की जनता और समस्त विविधतापूर्ण संस्कृति वाले लोगों को जोड़ता है। संविधान वयस्क मताधिकार की व्यवस्था करके जनता को शासन कार्यों में सक्रिय भागीदार बनाता है। संविधान यह स्पष्ट कर देता है कि संसदात्मक और संघात्मक शासन-पद्धतियों का ही विकास इस देश में होगा। शासन के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने का अधिकार इस देश की जनता में निहित माना गया है।

संविधान की प्रस्तावना: संविधान की प्रस्तावना संविधान का कानूनी भाग नहीं है। प्रस्तावना के द्वारा संविधान निर्माताओं ने हमारी राज-व्यवस्था के बुनियादी आदर्शों, आस्थाओं और प्रेरणाओं की वाणी प्रदान की है। राज व्यवस्था शरीर है तो प्रस्तावना उसकी आत्मा।

ब्रिटिश विरासत : भारतीय राज-व्यवस्था पर अंग्रेजी शासन का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। अंग्रेजी शासन में महत्वपूर्ण राजनीतिक और विकास संबंधी निर्णय सरकारी ढंग से किए जाते थे। ब्रिटिश काल में आईसीएस अधिकारी शासन के महत्वपूर्ण स्तंभ थे। नई व्यवस्था में भी सारी आर्थिक व राजनीतिक गतिविधियों का संचालन सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है। अत: नई व्यवस्था में नौकरशाही का अभूतपूर्व विस्तार ब्रिटिश विरासत ही कहा जा सकता है।

एकीकरण की समस्या : हमारे राष्ट्र निर्माताओं के सामने बुनियादी समस्या राजनीतिक केंद्र बिन्दु की स्थापना और विविधता को एक सूत्र में संग्रहण कर राष्ट्र का निर्माण ही उनकी चिंता का विषय था। राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या ने ही केंद्रीय राज-व्यवस्था की नींव डाली।

समायोजन और सहमति के सिद्धांत : कांग्रेस के नेता यह जानते थे कि अभी बहुत दिनों तक कांग्रेस का एकछत्र शासन रहेगा। अत: देश की एकता और स्थिरता के लिए राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सभी गुटों को साथ लेकर समझौते की भावना के निर्णय किए जाने चाहिए। विभाजन से वे समझ चुके थे कि बहुमत की ओर से फैसला लादना एक नए लोकतंत्र के लिए अच्छा न रहेगा।

आधुनिकीकरण : आधुनिकता से हमारा समाज प्रभावित हुआ और समाज के आधुनिकीकरण से राज-व्यवस्था के स्वरूप में निखार आया। नई शिक्षा, शासकीय नौकरियां, वयस्क मताधिकार और व्यवस्था के विस्तार ने पुरातन जात-पात पर आधारित समाज को बदला। चुनावों के फलस्वरूप सभी जातियां और उनके समूह राज-व्यवस्था में सक्रिय भागीदार बन गए।

१४.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के बारे में विस्तार से लिखें।
२. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
३. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के गुणों के बारे में चर्चा करें।
४. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना की चर्चा करें।

१४.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

भारत में प्रमुख राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों की विचारधारा एवं कार्यक्रम

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम भारत के प्रमुख राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दलों के बारे में चर्चा करेंगे। साथ ही राजनीतिक दल की परिभाषा, भारत के राजनीतिक दलों की पृष्ठभूमि, भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, कांग्रेस की नीतियां, भारतीय जनता पार्टी की स्थापना, भाजपा का सामाजिक आधार, भाजपा की नीतियां, भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना, साम्यवादी दलों की नीतियां, भारत के क्षेत्रीय दल, क्षेत्रीय दलों की विशेषता, क्षेत्रीय दलों की स्थापना का आधार, क्षेत्रीय दलों की स्थापना व भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दल आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

१५.० उद्देश्य
१५.१ परिचय
१५.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
१५.२.१ राजनीतिक दल की परिभाषा
१५.२.२ भारत के राजनीतिक दलों की पृष्ठभूमि
१५.२.३ भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण
१५.२.४ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना
१५.२.५ कांग्रेस की नीतियां
१५.२.६ भारतीय जनता पार्टी की स्थापना
१५.२.७ भाजपा का सामाजिक आधार
१५.२.८ भाजपा की नीतियां
१५.२.९ भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना
१५.२.१० साम्यवादी दलों की नीतियां
१५.२.११ भारत के क्षेत्रीय दल

१५.२.१२ क्षेत्रीय दलों की विशेषता
१५.२.१३ क्षेत्रीय दलों की स्थापना का आधार
१५.२.१४ क्षेत्रीय दलों की स्थापना
१५.२.१५ भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दल
१५.३ सारांश
१५.४ सूचक शब्द
१५.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
१५.६ संदर्भित पुस्तकें

१५.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

राजनीतिक दल की परिभाषा जानना
भारत के राजनीतिक दलों की पृष्ठभूमि का पता लगाना
भारतीय राजनीतिक दलों के वर्गीकरण की जानकारी लेना
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का अध्ययन करना
कांग्रेस की नीतियों की जानकारी लेना
भारतीय जनता पार्टी की स्थापना के बारे में जानना
भाजपा के सामाजिक आधार का पता लगाना
भाजपा की नीतियों के बारे में जानकारी लेना
भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना का पता लगाना
साम्यवादी दलों की नीतियों से परिचित होना
भारत के क्षेत्रीय दलों की जानकारी लेना
क्षेत्रीय दलों की विशेषताओं का पता लगाना
क्षेत्रीय दलों की स्थापना का आधार जानना
भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दलों की जानकारी लेना

१५.१ परिचय :

भारत में अनेक राजनीतिक दल हैं। उनमें से कुछ केवल राज्यों तक सीमित हैं तो कुछ का अस्तित्व पूरे राष्ट्र में है। मुख्य राष्ट्रीय दल के रूप में भाजपा व कांग्रेस को जाता जाता है तो क्षेत्रीय राजनीतिक दल हर राज्य में बदल जाते हैं। राष्ट्रीय दल जहां राष्ट्रीय मुद्दों को लेकर राजनीति करते हैं तो क्षेत्रीय दलों की नीतियां संकुचित विचारधारा एवं क्षेत्रीय मुद्दों पर निर्भर करती है। वर्तमान में भारत में किसी भी राष्ट्रीय दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण उसे क्षेत्रीय दलों का सहारा लेकर सरकार बनानी पडती है। ऐसे में क्षेत्रीय दलों की भूमिका भी काफी अहम हो जाती है।

प्रस्तुत अध्याय में हम राजनीतिक दलों की परिभाषा, उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उनका वर्गीकरण, कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी व क्षेत्रीय दलों के बारे में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

१५.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

राजनीतिक दल की परिभाषा
भारत के राजनीतिक दलों की पृष्ठभूमि
भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना
कांग्रेस की नीतियां
भारतीय जनता पार्टी की स्थापना
भाजपा का सामाजिक आधार
भाजपा की नीतियां
भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना
साम्यवादी दलों की नीतियां
भारत के क्षेत्रीय दल
क्षेत्रीय दलों की विशेषता
क्षेत्रीय दलों की स्थापना का आधार
क्षेत्रीय दलों की स्थापना
भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दल

१५.२.१ राजनीतिक दल की परिभाषा :

भारत में राजनीतिक दलों का अध्ययन करने का प्रयास जटिल तथा संभ्रांति है। उनकी बढ़ती संख्या, उतार-चढ़ाव, जोड़-तोड़, मिलन-जुदाई, अनेक बहुमुखी आधार, उद्देश्य, कार्यक्रम तथा कार्यप्रणाली ने भारत की राजनीतिक व्यवस्था को सजीव परन्तु जटिल बना दिया है। भारतीय समाज के बहुलवादी स्वरूप तथा विकास के असमान रूप से यह जटिलता और भी बढ़ी है। इन सबके बीच कांग्रेस दल एक वट वृक्ष की भांति खड़ा है जिसके चारों ओर पौधे उगे हुए हैं, पर उनमें से कोई बढ़ नहीं रहा है।

राजनीतिक दल ऐसे नागरिकों का संगठित समूह है जिनका एक जैसा राजनीतिक दृष्टिकोण होता है और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए सरकार को नियंत्रित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जब देश में सरकार को नियंत्रित करने का कार्य जनता करती है तो इसके लिए राजनीतिक दल आवश्यक बन जाते हैं। दल एक सरकार से विभिन्न समूहों से युक्त समाज और मतदाताओं के रूप में कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच एक कड़ी है। दल का मुख्य उद्देश्य अन्य मतों और नीतियों को प्रमुख बनाना है। इसके लिए राज्य में व्यवस्थापिका पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। चुनाव लड़ना और यथासंभव सीटें जीतना राजनीतिक दल का मुख्य कार्य बन जाता है।

१५.२.२ भारत में राजनीतिक दलों की पृष्ठभूमि :

भारत में राजनीतिक दलों का उद्‌भव और इतिहास राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ा हुआ है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कांग्रेस का जन्म राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में हुआ। उसके बाद मुस्लिम लीग, फारवर्ड ब्लाक, साम्यवादी दल और स्वराज्यदल आदि बने। बाद में हिन्दू महासभा का गठन हुआ और सांप्रदायिक राजनीति के माहौल में यह एक राजनीतिक दल में परिवर्तित हो गई। प्रारंभ में कांग्रेस भी गर्मदल और नरमदल में विभक्त हो गई। 1919 और 1935 के अधिनियमों के क्रियान्वयन हेतु अनेक प्रांतीय राजनीतिक दल बने, जैसे मद्रास में जस्टिस पार्टी, बंगाल में कृषक लोक प्रजा पार्टी। किन्तु ये दल बहुत शीघ्र विलुप्त हो गए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग, अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ, अखिल भारतीय हिन्दू महासभा आदि महत्वपूर्ण दल थे। इन दलों का प्रभाव संविधानसभा के निर्माण पर भी था। आजादी के बाद महात्मा गांधी की इच्छा थी कि कांग्रेस का राजनीतिक रूप समाप्त कर उसके स्थान पर जनता में रचनात्मक कार्य करने के लिए लोक सेवक संघ की स्थापना की जाए। उनका कहना था कि जो लोग संसद या सरकारी पदों के इच्छुक हैं उन्हें कांग्रेस छोड़ अपना अलग राजनीतिक दल बनाना चाहिए। लेकिन कांग्रेस नेताओं ने इस विचार को नितांत अव्यावहारिक माना, कांग्रेस में आम निर्वाचनों में भाग लिया और अन्य नए दलों के साथ सत्ता की राजनीति में उसका स्थान तुलनात्मक दृष्टि से सर्वोच्च हो गया।

१५.२.३ भारतीय राजनीतिक दलों का वर्गीकरण :

1. राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल
2. क्षेत्रीय या राज्यस्तरीय दल
3. स्थानीय किन्तु जातीय सांप्रदायिक दल
4. तदर्थ दल

1. राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल : राष्ट्रीय या अखिल भारतीय दल वे हैं जिनकी संसद तथा लोकसभा एवं राज्य-विधानमंडलों में पर्याप्त सदस्य संख्या है तथा जिनको पर्याप्त मत प्राप्त हुए हैं। ऐसे दल दो प्रकार के हैं - बिना विचारधारा के और विचारधारा पर आधारित दल। बिना विचारधारा वाले दलों में कांग्रेस और संगठन कांग्रेस को लिया जा सकता है। विचारधारा से अभिप्राय है किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक दर्शन में विश्वास और प्रतिबद्धता व्यक्त करना। दोनों कांग्रेस दलों को वैचारिक दृष्टि से तटस्थ दल कहा जा सकता है।

विचारधारा में विश्वास करने वाले राष्ट्रीय दलों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है - दक्षिणपंथी और वामपंथी। दक्षिणपंथी दल जहां यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं वहीं वामपंथी दल आर्थिक और सामाजिक ढांचे में आमूल-चूल परिवर्तन चाहते हैं। भारतीय जनता पार्टी, स्वतंत्र-दल, जनसंघ और भारतीय लोकदल, लोकदल आदि को दक्षिणपंथी विचारधारा वाला दल कहा जा सकता है क्योंकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में इनके दृष्टिकोण ब्रिटिश अनुदारवादी दल से मिलते-जुलते हैं। वामपंथी दो प्रकार के हैं - उदार और उग्र। उदार दलों में सभी समाजवादी दलों को लिया जा सकता है तथा उग्र वामपंथी दलों में सभी प्रकार के साम्यवादी दलों को स्थान दिया जा सकता है। उदारवादी दल मार्क्सवादी, गांधीवाद और फेबियनवादी सिद्धांतों में विश्वास करते हैं जबकि साम्यवादी दल क्रांतिकारी साधनों में विश्वास करते हैं। समस्त प्रकार के अखिल भारतीय दलों का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष है। उनकी सदस्यता सभी धर्मों और जातियों के लिए खुली है।

2. क्षेत्रीय या राज्यस्तरीय दल : ये वे दल हैं जिनका प्रभाव राज्य की सीमा तक ही है। इनमें उड़ीसा की उत्कल कांग्रेस, तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम तथा नागालैंड में नागालैंड यूनाइटेड फ्रंट प्रमुख हैं। अपने-अपने प्रदेशों में प्रादेशिक दल शक्तिशाली हैं।

3. स्थानीय किन्तु जातीय सांप्रदायिक दल : कतिपय दल विशेष जाति या संप्रदाय तक ही सीमित हैं। केरल की मुस्लिम लीग, पंजाब का अकाली दल और बिहार की झारखंड पार्टी ऐसे ही दलों में शामिल किए जा सकते हैं।

4. तदर्थ दल : भारत में ऐसे भी दल हैं जो बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन्हें छोटे-छोटे गुट कहा जा सकता है। ऐसे दलों में केरल, कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, हरियाणा कांग्रेस, जनता पार्टी, रामराज्य परिषद, लोकतांत्रिक दल आदि को याद किया जा सकता है। ऐसे दल कब बन जाते हैं और कब अस्त हो जाते हैं इसका पता लगाना कठिन है। ये विभिन्न दलों से निकले असंतुष्ट नेताओं द्वारा निर्मित गुट हैं।

१५.२.४ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई थी। राष्ट्रीय आंदोलन तथा स्वतंत्रता संग्राम में कांग्रेस की भूमिका इतनी अधिक महत्वपूर्ण थी कि राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास तथा कांग्रेस के इतिहास में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। देश की आजादी के बाद केंद्रों तथा राज्य सरकारों की स्थापना इस दल ने की थी, लेकिन यह अपनी एकता को स्थिर न रख सका और इसका कई बार विभाजन हुआ। प्रथम विभाजन 1969 में राष्ट्रपति चुनाव के समय हुआ और सत्तारूढ कांग्रेस व संगठन कांग्रेस नामक दो दल बने। दूसरा विभाजन 1978 में हुआ। उस समय देश में जनता पार्टी की सरकार बनी तथा कांग्रेस (आर) विपक्षी दल के रूप में कार्य कर रहा था। इंदिरा गांधी ने प्रयत्न किया कि कांग्रेस (आर) उनकी इच्छानुसार कार्य करे। जब वे अपने मंतव्य में सफल नहीं हुई तो उन्होंने 2 जनवरी, 1978 को कांग्रेस (आई) नामक दल स्थापित कर लिया। इस फूट के कारण दूसरा दल जो अस्तित्व में आया वह कांग्रेस (एस) था। 198 के लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस (आई) को आशातीत विजय प्राप्त हुई। अक्टूबर 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या के बाद राजीव गांधी इस दल के अध्यक्ष बने। इसी साल हुए चुनावों में राजीव गांधी के नेतृत्व में इस दल को सफलता मिली। लेकिन नवंबर, 1989 में इस दल को बुरी तरह पराजय मिली। मई-जून 1991 के चुनावों में भी यह दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त न कर सका था, परन्तु सरकार इस दल की ही बनी थी, क्योंकि इसे लोकसभा में सबसे अधिक सीटें मिली थीं। 23 अप्रैल, 1996 को 11वीं लोकसभा के चुनावों के अवसर पर चुनाव आयोज ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अपने नाम के साथ (आई) शब्द प्रयुक्त करने की मनाही कर दी क्योंकि इस नाम से कोई पंजीकरण नहीं था।

१५.२.५ कांग्रेस की नीतियां व कार्यक्रम :

कांग्रेस अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों के विषय में समय-समय पर प्रस्ताव पारित करती रही है। सितंबर-अक्टूबर, 1999 में 13वीं लोकसभा के चुनावों के अवसर पर जारी घोषणा पत्र में इस दल के कार्यक्रम व नीतियां निम्न हैं :

1. लोकतंत्र में विश्वास : कांग्रेस ने आजादी के बाद बार-बार अपना घोषणापत्र जारी किया और बार-बार लोकतंत्र में विश्वास को दोहराया। भारत को लोकतंत्रीय आधार प्रदान करने में इस दल का बहुत बड़ा योगदान

है।

2. धर्म निरपेक्षता : कांग्रेस में विभिन्न धर्मों एवं वर्गों के लोग सम्मिलित हैं। इस दल ने अपने घोषणा पत्र में सांप्रदायिकता के विरुद्ध तथा धर्म निरपेक्षता को शक्तिशाली बनाने के लिए राष्ट्रीय एकता उत्पन्न कराने के लिए अपील की थी। इस दल का विश्वास है कि धर्म में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

3. समाजवाद में विश्वास : 1955 में कांग्रेस ने समाजवादी ढांचे के आदर्श को अपना उद्देश्य निश्चित किया था। कांग्रेस अब भी आदर्श से संबंधित है तथा भारत को समाजवादी दिशा प्रदान करने के पक्ष में है।

4. अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा : यह दल अल्पसंख्यकों के शैक्षिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए वचनबद्ध है। इस दल का यह विश्वास है कि अल्पसंख्यकों को सैनिक तथा असैनिक सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। पार्टी ने अल्पसंख्यकों के लिए आयोग भी गठित किया।

5. कुशल तथा स्वच्छ प्रशासन : इस दल ने अपने घोषणापत्र में यह कहा था कि यह दल सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थओं में कुशल तथा स्वच्छ प्रशासन देने के लिए वचनबद्ध है। इस दल ने आश्वासन दिया था कि लोगों को कुशल तथा स्वच्छ प्रशासन दिया जाएगा और करों की चोरी, तस्करी व अन्य आर्थिक अपराधों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जाए।

6. कृषि : यह दल चाहता है **:**

1. कृषि का आधुनिकीकरण
2. छोटे किसानों को कम ब्याज पर ऋण
3. गांवों में क्षेत्रीय बैंक व अन्य वित्तीय संस्थाओं का गठन
4. पांच एकड़ तक भूमि का आयकर माफ
5. गांवों में कृषि आधारित उद्योग लगाना
6. सस्ते मूल्य पर अच्छे बीज व खाद देना
7. फसलों का बीमा करने की कार्रवाई
8. अनाज उत्पादन में पूर्ण आत्मनिर्भरता
9. सिंचाई सुविधाओं का विस्तार
1. किसानों का उपज का उचित मूल्य देना।

7. औद्योगिक नीति : कांग्रेस लघु, मध्यम तथा बड़े उद्योगों के संतुलित विकास में विश्वास रखती है। यह भारत में औद्योगिकरण की गति तेज करने, उद्योगों का आधुनिकीकरण करना चाहता है। यह बहुराष्ट्रीय कंपनियों को नियमबद्ध करने के पक्ष में है।

8. रोजगार : रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए यह दल ग्रामीण कार्यक्रमों का विस्तार करना चाहता है तथा प्रत्येक परिवार के कम से कम एक सदस्य को रोजगार देने की नीति को प्रयोग में लाने का इच्छुक है। यह दल शहरी विकास और औद्योगिक विकास में अत्यधिक वृद्धि करना चाहता है।

9. सार्वजनिक क्षेत्र : इस दल ने सार्वजनिक क्षेत्र का सदैव समर्थन किया है। इसके साथ-साथ इसने निजी क्षेत्र के अस्तित्व का भी समर्थन किया है। इस दल की सरकार ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नीति को ग्रहण किया है।

10. श्रमिकों की स्थिति में सुधार : यह दल श्रमिकों की स्थिति को उच्च बनाने, उचित मजदूरी देने, जीवन

के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान करने, पुरुष और स्त्री श्रमिकों को एक समान कार्य के लिए एक समान वेतन देने, बंधक श्रम को समाप्त करने तथा श्रमिकों को सुविधाएं देने के पक्ष में होने का दावा करता है।

11. शिक्षा नीति : कांग्रेस गणित व विज्ञान को अधिक महत्व देती है क्योंकि इन विषयों को आज के तकनीकी युग में अधिक महत्व है।

12. अनुसूचित जातियों व जनजातियों का कल्याण : कांग्रेस अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा समाज के अन्य कमजोर वर्गों के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए वचनबद्ध है। यह दल कबायली क्षेत्रों के लोगों तथा आदिवासियों के विकास के लिए विशेष योजनाएं लागू करना चाहता है।

13. स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण : कांग्रेस का यह उद्देश्य है कि सभी के लिए स्वास्थ्य व परिवार कल्याण का एक विशेष स्तर प्राप्त किया जाए। इसके लिए यह ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारंभिक स्वास्थ्य देखभाल केंद्रों की अधिक से अधिक स्थापना करना चाहता है तथा दो बच्चों वाले परिवार का आदर्श लोकप्रिय बनाना चाहता है।

14. राजकोषीय नीति : यह दल कम आय वाले घरों पर करों का भार कम करने तथा अमीर लोगों पर अधिक कर लगाने की नीति का समर्थक है। करों की चोरी को रोकने के लिए यह दल आर्थिक अपराधियों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई करना चाहता है।

15. विदेश नीति : इसकी विदेश नीति के मुख्य लक्षण निम्न हैं :

1. गुट निरपेक्षता
2. अंतरराष्ट्रीय सहयोग विकसित करना
3. संयुक्त राष्ट्र का समर्थन
4. उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद का विरोध
5. नस्लवाद व रंगभेद की नीति का विरोध
6. पड़ोसी देशों से मैत्रीपूर्ण संबंध
7. राष्ट्रमंडल की सदस्यता जारी रखना
8. अंतरराष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान

निष्कर्ष :

इसमें संदेह नहीं है कि इस दल ने कुछ नीतियों को वास्तविक रूप भी दिया है, परन्तु समूचे रूप में यह कहा जा सकता है कि यह दल अपने शासन काल के दौरान अपनी नीतियों को पूर्ण रूप से लागू नहीं कर सका। 1984 में लोकसभा के चुनावों में इसे तीन चौथाई स्थान प्राप्त हुए, लेकिन 1989 के चुनावों के बाद इसे विपक्ष में बैठना पड़ा। मई 1991 में हुए चुनावों में भी इसे स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। इसकी सीटें अन्य से अधिक होने के कारण पी.वी. नरसिम्हाराव के नेतृत्व में सरकार बनी। परन्तु 1996 में हुए चुनावों में इसे मात्र 141 स्थान प्राप्त हुए थे। इस दल के समर्थन से एचडी देवगौड़ा तथा इंद्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा की सरकार बनी थी। 12वीं लोकसभा के लिए 1998 में हुए चुनावों में भी इसे केवल 141 स्थान प्राप्त हुए और इसे विरोधी दल के रूप में मान्यता दी गई। 1999 में 13वीं लोकसभा के चुनाव में इसे पहले से भी कम 114 सीटें ही प्राप्त हुई जो उसका सबसे बुरा प्रदर्शन रहा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इतने लंबे समय तक सत्ता में रहने के बाद भी यह दल अपने घोषणा पत्र में शामिल कई नीतियों को हकीकत के धरातल पर साकार नहीं कर सका।

१५.२.६ भारतीय जनता पार्टी :

दल का जन्म : 1952 के साधारण चुनावों से एक साल पहले भारतीय जनसंघ नामक एक राजनीतिक दल स्थापित हुआ था। इसकी स्थापना में महान हिन्दू नेता श्यामा प्रसाद मुखर्जी का विशेष योगदान था। यह दल 1977 तक भारतीय राजनीति में सक्रिय रहा। इस दल के सदस्यों का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साथ भी बहुत गहरा संबंध था। इस जत्थेबंदी को प्राय: हिन्दुओं की जत्थेबंदी समझा जाता था। इनका संबंध इतना गहरा था कि जनसंघ दल के सभी नेता आरएसएस के भी सदस्य थे तथा जनसंघ को आरएसएस का राजनीतिक अंग माना जाता था। 1977 में इस दल में फूट पड़ गई। 4 अप्रैल, 198 को जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव द्वारा यह निर्णय लिया कि जनता पार्टी के सदस्य आरएसएस अथवा किसी अन्य जत्थेबंदी के सदस्य नहीं हो सकते। यह निर्णय भूतपूर्व जनसंघ के उन सदस्यों को स्वीकार नहीं था जो जनता पार्टी में शामिल हो चुके थे। इसलिए इस निर्णय पर विचार करने के लिए उन सदस्यों ने अपने समर्थकों का सम्मेलन 5-6 अप्रैल, 198 को नई दिल्ली में किया। इस सम्मेलन में जनता पार्टी से संबंध तोड़ने तथा एक नए राजनीतिक दल की स्थापना करने का निर्णय लिया गया। इस निर्णयानुसार 6 अप्रैल, 198 को भारतीय जनता पार्टी नामक राजनीतिक दल अस्तित्व में आया। पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी को इस नए राजनीतिक दल का प्रधान चुना गया। कमल का फूल इसका चुनाव निशान बना तथा इसके ध्वज में हरा व केसरी रंग को शामिल किया गया।

१५.२.७ भारतीय जनता पार्टी का सामाजिक आधार :

भारतीय जनता पार्टी राष्ट्रवादी दल है। नि:संदेह इस पार्टी में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्यों का प्रभुत्व रहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस पार्टी का सामाजिक आधार केवल राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तक ही सीमित है। आरंभ में इस पार्टी को अल्पसंख्यकों का समर्थन न के बराबर प्राप्त था, क्योंकि यह पार्टी अल्पसंख्यकों के तुष्टिकरण की नीति की विरोधी है। मुसलमान और इसाईयों का इसको समर्थन बहुत कम प्राप्त है। पर हरिजनों और जन-जातियों तथा कबीलों में इस पार्टी ने अपनी मजबूत पकड़ बना ली है। मई, 1982 में होने वाले उपचुनावों और 1987 में हरियाणा विधानसभा के चुनाव में इसने सुरक्षित स्थान जीतकर यह प्रमाणित कर दिया है कि अनुसूचित जातियों और पिछड़े लोगों में इसका अमिट प्रभाव है।

सरकारी कर्मचारी और शिक्षित वर्ग भारतीय जनता पार्टी के महान समर्थक हैं। श्रमिकों में इसका समर्थन बढ़ता जा रहा है। भारतीय मजदूर संघ, जिसकी सदस्यता 2 लाख है, भारतीय जनता पार्टी का समर्थक है। मध्यम वर्ग के व्यापारी भी इसके बड़े समर्थक हैं।

भारतीय जनता पार्टी की विचारधारा :

भारतीय जनता पार्टी ने स्वर्गीय लोकनायक जयप्रकाश नारायण के समय क्रांति के सपनों को साकार करने और राजनीति को सत्ता का खेल न बनाने का संकल्प लिया है। भाजपा के वरिष्ठ नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा है कि हमारी पार्टी राष्ट्रीय लोकतंत्र, गांधीवाद, समाजवाद और धर्म निरपेक्षता में विश्वास करती है और इन सिद्धांतों पर चलकर रचनात्मक और आंदोलनात्मक कार्यक्रम अपनाएगी और देश में जन जागृति का अभियान चलाएगी।

लोकसभा के चुनाव के अवसर पर भारतीय जनता पार्टी का 55 पृष्ठों का घोषणा पत्र पार्टी अध्यक्ष लाल

कृष्ण आडवाणी तथा पार्टी की तरफ से प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार अटल बिहारी वाजपेयी ने 3 फरवरी, 1998 को जारी किया। घोषणा पत्र में कहा गया कि शुचिता, सुरक्षा, स्वदेशी, सामाजिक समरता और हिन्दुत्व ये पांच अवधारणाएं हैं जो भारतीय जनता पार्टी के मूल विषय और वैचारिक स्तंभ होंगे। इनसे पार्टी को एक योग्य प्रधानमंत्री के द्वारा एक स्थिर सरकार प्रदान करने में दिग्दर्शन प्राप्त होगा। इन सिद्धांतों में राष्ट्रीय सुरक्षा, सुशासन, राष्ट्रीय एकता और अखंडता, लोकतंत्र, यथार्थवादी, पंथ निरपेक्षता, लोगों की दरिद्रता दूर करने, सभी के लिए आर्थिक उन्नति के अवसर प्रदान करने, महिलाओं के साथ न्याय, केंद्र-राज्यों के बीच सद्भावनापूर्ण संबंध, सार्वजनिक जीवन में शुचिता, संस्थानों को पुन: बहाल करने, टकराव के स्थान पर आम सहमति तथा सहयोग की राजनीति तथा आखिरी, परन्तु अत्यंत महत्वपूर्ण भारत की प्रतिष्ठा, छवि और शक्ति को अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में ऊंचा उठाने के प्रति हमारी प्रतिबद्धता के दर्शन होंगे। हिन्दुत्व अर्थात सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हमें स्वराज्य से सुराज के युग में ले जाएगा। भाजपा एक राष्ट्र, एक जन तथा एक संस्कृति में विश्वास रखती है। पार्टी प्रतिस्पर्धात्मक, सांप्रदायिकता, तुष्टिकरण और जातिवाद की राजनीति को समाप्त करने के लिए कृत संकल्प है। पार्टी ने पहली बार स्वतंत्र और संपूर्ण वैकल्पिक सरकार देने का वायदा करते हुए स्वदेश और स्वधर्म की नीति अपनाने का संकल्प लिया है।

१५.२.८ भाजपा की नीतियां एवं कार्यक्रम :

13वीं लोकसभा का चुनाव भारतीय जनता पार्टी ने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के घटक दल के रूप में लड़ा। सितंबर-अक्टूबर 1999 में 24 दलों के सहयोग से बने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन ने अपना संयुक्त चुनाव घोषणा पत्र जारी किया। इस घोषणा पत्र के अनुसार भारतीय जनता पार्टी की महत्वपूर्ण नीतियों एवं कार्यक्रमों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :

1. मौलिक सिद्धांत : इस दल के कुछ ऐसे मौलिक सिद्धांत हैं जिनके आधार पर ही दल की नीतियां व कार्यक्रम निश्चित किए गए थे -

1. राष्ट्रीय एकता तथा अखंडता, 2. धर्म-निरपेक्षता, 3. लोकतंत्र, 4. गांधीवादी समाजवाद, 5. सिद्धांतों पर आधारित राजनीति और 6. आर्थिक राजनीतिक विकेंद्रीकरण।

2. केंद्र तथा राज्यों का संतुलन : यह दल केंद्र तथा राज्यों में शक्तियों का उचित संतुलन कायम करने के पक्ष में है। यह दल चाहता है कि राज्यों को अत्यधिक शक्तियां दी जाएं ताकि राज्य अपने निश्चित अधिकार में स्वतंत्रता सहित कार्य कर सकें। साथ ही यह केंद्र को भी शक्तिशाली बनाने के पक्ष में है।

3. राष्ट्रीय एकता तथा सकारात्मक धर्म-निरपेक्षता : भारतीय जनता पार्टी देश की एकता और अखंडता को किसी भी अवस्था में नष्ट नहीं होने देना चाहता। इस दल को सकारात्मक धर्म निरपेक्षता पर अटूट विश्वास है। मतलब यह सभी धर्मों की शिक्षाओं तथा नैतिक मूल्यों का सम्मान करता है।

4. पार्टी का आर्थिक कार्यक्रम : इस दल के आर्थिक कार्यक्रम की मुख्य विशेषताएं हैं :

1. काम के अधिकार को मौलिक अधिकार बनाना।
2. किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य देने की व्यवस्था करना।
3. कृषि के लिए सिंचाई सुविधाओं का विस्तार करना।
4. किसानों को बीज-खाद तथा कृषि औजार कम मूल्य पर देने का प्रबंध करना।

5. कृषि पर आधारित उद्योगों का विकास।

6. बिक्री कर तथा चुंगी कर को समाप्त करना।

7. दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के लिए घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहित करना।

8. सार्वजनिक क्षेत्र को लाभदायक बनाना।

9. श्रमिकों को औद्योगिक एकाधिकारों के प्रबंध में सहभागी बनाना।

1. श्रमिकों की कम से कम वेतन सीमा निश्चित करना।

5. गांधीवादी समाजवाद : गांधी ने आर्थिक शक्तियों का विकेंद्रीयकरण करने पर जोर दिया था तथा धनी लोगों की संपत्ति के बारे में न्यासिता प्रणाली का सिद्धांत दिया था। यह दल क्रांतिकारी साधनों द्वारा नहीं बल्कि गांधीवादी सिद्धांतों के अनुसार समाजवादी स्थापित करना चाहता है।

6. भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंदोलन : भाजपा राजनीतिक तथा प्रशासकीय भ्रष्टाचार के विरुद्ध जोरदार आंदोलन के पक्ष में है। यह दल चाहता है कि भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए कठोर कार्रवाई की जाए तथा बड़े-बड़े अधिकारियों के विरुद्ध लगाए जाने वाले भ्रष्टाचार के दोषों का निरीक्षण करने के लिए लोकपाल तथा जन आयुक्त की संस्थाएं स्थापित की जाएं।

7. उद्योग और श्रम : यह दल चाहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक उत्पादक तथा लाभदायक बनाया जाए तथा निजी क्षेत्र को सामाजिक हितों के कानूनों द्वारा नियमित किया जाए। विदेशी कंपनियों तथा बड़े उद्योगों के क्षेत्र को निर्धारित करना इस दल का महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। यह दल घरेलू उद्योगों तथा कृषि पर आधारित उद्योगों को प्रोत्साहित करना चाहता है। यह दल श्रमिकों को व्यापारिक संघ बनाने का अधिकार देना चाहता है।

8. अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित कबीलों के लिए : इस दल का विचार है कि अस्पृश्यता विरोधी कानून विद्यमान तो हैं परन्तु उनको कठोरता से लागू नहीं किया गया। ऐसे कानूनों को कठोरता से लागू करवाना इस दल का महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। यह दल चाहता है कि व्यर्थ भूमि का विभाजन करते समय अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित कबीलों के लोगों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

9. जनसंचार के माध्यम : यह दल प्रेस की स्वतंत्रता के पक्ष में है। यह दल चाहता है कि भारतीय संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता का वर्णन स्पष्ट तथा विशेष रूप से होना चाहिए। यह दल जनसंचार के साधनों को सरकारी नियंत्रण से मुक्त रखना चाहता है। इस मन्तव्य के लिए यह दल एक ऐसा स्वायत निगम बनाना चाहता है जो स्वतंत्रतापूर्वक जनसंचार के सभी साधनों का प्रबंध कर सके।

10. चुनाव प्रणाली में सुधार : यह दल वर्तमान चुनाव प्रणाली से संतुष्ट नहीं है। यह दल चाहता है कि विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा गत चुनाव में से प्राप्त की गई वोटों के अनुपात में सरकार द्वारा राजनीतिक दलों को वित्तीय सहायता दी जाए।

11. सुरक्षा : भाजपा देश की सुरक्षा को सबसे महत्वपूर्ण मानती है और देश की सुरक्षा के लिए अधिक से अधिक तैयारी करने के पक्ष में है। यह दल चाहता है कि भारतीय सेना को आधुनिक हथियार दिए जाएं। परन्तु इसके साथ ही यह दल इस बात पर भी जोर देता है कि हथियारों का अधिक से अधिक उत्पादन देश में ही किया जाए। हथियारों संबंधी आत्मनिर्भरता प्राप्त करना, इस दल का एक निशाना है। यह दल चाहता है कि हथियारों की खरीद करने में विदेशी एजेंसी का कोई हाथ नहीं होना चाहिए।

12. विदेश नीति : यह दल गुट-निरपेक्षता की नीति का समर्थक है, परन्तु यह दल चाहता है कि गुट

निरपेक्षता की नीति को उचित अर्थों में लागू किया जाए। साम्राज्यवाद, नस्लवाद तथा उपनिवेशवाद की विरोधता इस दल की विदेश नीति के मुख्य लक्षण हैं। यह दल पड़ोसी देशों के साथ शांति, मित्रता तथा सहयोग की नीति अपनाने का इच्छुक है।

निष्कर्ष :

भारतीय जनता पार्टी का अधिक प्रभाव हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार तथा पंजाब आदि में है। दक्षिणी राज्यों में इस पार्टी का प्रभाव कम है। 1984 में लोकसभा चुनावों में यह पार्टी केवल दो स्थानों पर जीत प्राप्त कर सकी थी, लेकिन 1989 के चुनावों में इस दल ने लोकसभा में 88 स्थानों पर विजय प्राप्त की। इस दल के समर्थन पर ही राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार बन सकी थी। दसवीं लोकसभा में 1991 में इस दल को 119 स्थान प्राप्त हुए थे। अप्रैल-मई 1996 में 11वीं लोकसभा के चुनावों में इसने बहुत बढ़िया प्रदर्शन कर 161 स्थानों पर विजय का परचम लहराया। मार्च 1998 में 12वीं लोकसभा के चुनावों में जनता ने इस पार्टी में सर्वाधिक विश्वास जताया और इसने 182 सीटें प्राप्त की। सितंबर 1999 में 13वीं लोकसभा के चुनावों में इस पार्टी को पुनः सबसे अधिक 182 स्थान प्राप्त हुए तथा इस दल के नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार बनी।

१५.२.९ भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)

जन्म : जब भारत गुलाम था तो 1924 में साम्यवादी दल की स्थापना हुई थी। आजादी के बाद भारतीय राजनीति में अपना स्थान बनाने का प्रयास किया लेकिन दल में एकता नहीं थी। इसमें कुछ ऐसे लोग थे जो कांग्रेस को प्रगतिशील दल समझते थे और नेहरू के समाजवादी जयघोषों पर विश्वास था। ऐसे व्यक्तियों को वामपक्षीय कहा जाता था। दूसरा गुट कांग्रेस को उद्योगपतियों, जागीरदारों और पूंजीपतियों का दल मानता था। यह फूट 1962 में स्पष्ट रूप से सामने आ गई। जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो साम्यवादी दल को आंतरिक विरोध का सामना करना पड़ा। दांए पक्षीय नेताओं ने चीन के आक्रमण का विरोध किया लेकिन दल की यह कार्रवाई वामपंथियों को उचित न लगी। अंत में 1964 में वामपंथियों ने साम्यवादी दल से अपने संबंध तोड़ लिए और एक दल का निर्माण किया जिसे भारत का साम्यवादी (मार्क्सवादी) दल कहा जाता है।

१५.२.१० नीतियां एवं कार्यक्रम :

1. धर्म निरपेक्ष शक्तियों का गठबंधन : मार्क्सवादी दल का मत है कि देश में कांग्रेस आई के कुशासन को समाप्त करने के लिए धर्म-निरपेक्ष शक्तियों का एकत्र होना आवश्यक है। इसलिए इसने अपने घोषणा पत्र में ऐसी शक्तियों का गठबंधन बनाने की प्रेरणा दी थी जो सांप्रदायिकता के विरुद्ध और धर्म निरपेक्षता का समर्थक थीं।

2. संविधान में संशोधन : यह दल संविधान में निम्न संशोधन करना चाहता था :

1. लोगों को अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को बुलाने का अधिकार हो।
2. संविधान में निवारक नजरबंदी की व्यवस्थाएं समाप्त की जाएं।
3. संविधान में संकटकालीन व्यवस्थाओं को निलंबित किया जाए।
4. राज्यों को अधिक शक्तियां प्रदान की जाएं तथा अवशिष्ट शक्तियां भी राज्यों को ही देने की व्यवस्था

की जाए।

3. भूमि सुधारों को लागू करना : इस दल का विचार है कि ग्रामीण जनसंख्या के 4 प्रतिशत लोगों के पास भूमि नहीं है तथा कुछ लोगों के पास बहुत अधिक जमीन है। यह दल जमीन का समान वितरण तथा मजदूरों व किसानों के कर्ज माफ करने के पक्ष में है।

4. श्रमिकों तथा कर्मचारियों के लिए : यह दल औद्योगिक तथा कृषि श्रमिकों के साथ-साथ कर्मचारियों की आर्थिक स्थिति को अच्छा बनाना इस दल के कार्यक्रम में शामिल है।

5. आर्थिक नीतियां : यह दल चाहता है :

1. बड़े उद्योगों तथा निजी व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया जाए।
2. जागीरदारी व्यवस्था पूर्ण रूप से समाप्त की जाए।
3. श्रमिकों व कमजोरों को सहायता दी जाए।
4. व्यर्थ भूमि को भूमिहीन किसानों में बांट दिया जाए।
5. मजदूरों को बोनस तथा बीमा इत्यादि की सुविधाएं दी जाएं।
6. तालाबंदी, छंटनी तथा मजदूरी रोकने आदि की व्यवस्थाओं को समाप्त किया जाए।

6. लोकतंत्र विरोधी कानून हटाना : यह दल उन कानूनों को तुरंत हटाने की मांग करता है जो मौलिक अधिकारों की अवहलेना करते हैं तथा जो लोकतंत्र विरोधी हैं।

7. अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित कबीलों के लिए : यह दल चाहता है कि अनुसूचित जातियों व कबीलों का शोषण रोकने के लिए सरकार कठोर कार्रवाई करे।

8. केंद्र-राज्य संबंध : इस दल का विश्वास है कि केंद्र के केंद्रवाद की नीति के कारण राज्यों की स्थिति बहुत प्रभावहीन तथा केंद्र की स्थिति बहुत शक्तिशाली बन गई है। इसलिए ये राज्यों को अधिक शक्तियां देने के पक्ष में है।

9. अल्पसंख्यकों के लिए : यह दल अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए विशेष रूप से जागृत है। यह दल हिन्दू पुनर्स्थापन तथा कट्टर उग्र राष्ट्रवाद के अल्पसंख्यकों के हितों को सुरक्षित रखने का इच्छुक है।

10. विदेश नीति : मार्क्सवादी दल गुट-निरपेक्षता की नीति का समर्थक है। परन्तु यह दल चाहता है कि भारत साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध हो तथा समाजवादी देशों के साथ मित्रता स्थापित करे। यह दल नस्लवाद तथा बस्तीवाद का विरोधी है।

निष्कर्ष : भारत के साम्यवादी दल की अपेक्षा मार्क्सवादी साम्यवादी दल का प्रभाव क्षेत्र अधिक विशाल है। पश्चिमी बंगाल, केरल और त्रिपुरा में इसका विशेष प्रभाव है। 1996 में इस दल को मात्र 32 सीटें प्राप्त हुई। यह दल संयुक्त मोर्चा सरकार बनाने में सहायक था, लेकिन स्वयं सरकार में शामिल नहीं हुआ। 1998 में भी इसे मात्र 32 तथा 1999 में मात्र 33 स्थानों पर जीत मिली। 21 में असम, केरल, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल तथा पांडिचेरी की विधानसभाओं के चुनावों में मार्क्सवादियों को जीत मिली।

१५.२.११ राज्यस्तरीय राजनीतिक दल :

पंजाब में अकाली दल, कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस, आंध्र प्रदेश में तेलगुदेशम, तमिलनाडु में द्रविड मुन्नेत्र कड़गम व अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के प्रभाव के बाद यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि क्या भारत में क्षेत्रीय

पार्टियां ही पनपेंगी? क्षेत्रीय पार्टियां नई नहीं हैं। देश में बंगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस जैसे क्षेत्रीय दलों तथा विशाल हरियाणा पार्टी, गणतंत्र परिषद, संपूर्ण महाराष्ट्र एकीकरण, महागुजरात जनता परिषद, शिव सेना जैसी क्षेत्रीय पार्टियों का भी उतार-चढ़ाव देखा है।

सन 1967 में पंजाब से लेकर पश्चिम बंगाल तक तथा बाद में मध्य प्रदेश व उड़ीसा में जो सरकार बनी उन्हें संयुक्त विधायक दल का नाम दिया गया, परन्तु उन दलों की बड़ी शक्ति क्षेत्रीय पार्टियां ही थीं, भले ही वह राव वीरेंद्र सिंह की विशाल हरियाणा पार्टी हो, चौधरी चरणसिंह का भारतीय क्रांतिदल हो, उड़ीसा के राजाओं की गणतंत्र परिषद या अजय मुखर्जी की बंगाल कांग्रेस हो।

१५.२.१२ क्षेत्रीय और राज्यस्तरीय दलों की विशेषता :

1. क्षेत्रीय दलों का वर्चस्व सन 1967 के आम चुनावों के बाद बढ़ने लगा।
2. स्तरीय दल आमतौर से राज्यस्तरीय हैं।
3. इन दलों की प्रमुख मांग राज्य स्वायतता है।
4. इनकी प्रमुख प्रतिस्पर्द्धा कांग्रेस से रही है।
5. इन दलों की संकुचित अपील और आधार होते हैं।

१५.२.१३ क्षेत्रीय दलों की सफलता का मूल आधार : शक्तिशाली नेतृत्व :

वैसे यह कहना भी गलत नहीं होगा कि उचित नेतृत्व ही क्षेत्रीय दलों की सफलता का आधार है। उदाहरण के लिए तमिलनाडु का डीएमके नाम से क्षेत्रीय नहीं है क्योंकि द्रविड़ संस्कृति एक समय सारे भारत में फैली थी। परन्तु तमिलनाडु से सबसे अधिक सामिप्य रखने वाले केरल भाषी भी स्वयं को द्रविड़ नहीं मानते। इसी कारण वहां दोनों द्रविड़ पार्टियां कोई प्रभाव नहीं डाल पाईं। इनकी सफलता का कारण था - एक निजी पहचान कायम रखने के लिए अपने क्षेत्र के लिए विशेष व्यवहार उपलब्ध कराने का आग्रह तथा एक नेता विशेष की छवि। यही बात अन्य क्षेत्रीय दलों के साथ है। बंगला कांग्रेस की धुरी अजय मुखर्जी की लोकप्रियता थी तो उत्कल कांग्रेस का आधार बीजू पटनायक का व्यक्तित्व था। भारतीय क्रांति दल हो या लोकदल, दोनों के आगे बढ़ने का कारण चौधरी चरणसिंह की लोकप्रियता ही थी।

१५.२.१४ केंद्र-राज्य विवाद से ही क्षेत्रीय दलों की स्थापना :

भारत जैसे विशाल देश में केंद्रीयकरण की सफलता की संभावनाएं कम हैं। विभिन्न क्षेत्रों की समस्याएं, रहन-सहन के ढंग, सामाजिक मान्यताएं और भौगोलिक यथार्थ इस बात को अनिवार्य बना देते हैं कि उनके साथ अलग-अलग ढंग से विचार किया जाए। संविधान में यह बात मान ली गई कि केंद्र व राज्यों में अलग-अलग दलों की सरकारें बन सकती हैं। फिर भी केंद्र व राज्यों में विवादों के ऐसे मुद्दे आए जिसने क्षेत्रीय दलों की स्थापना की। डीएमके के शक्ति संचय का कारण केंद्र और राज्य में हिन्दी भाषा को लेकर विवाद है तो अकाली दल की स्थापना का आधार राज्यों को अधिक स्वायतता की मांग थी। एक बार सत्ता में आने के बाद सभी प्रादेशिक दलों ने केंद्र विरोधी दल अपनाया और केंद्र-राज्य विवादों को जन्म दिया।

१५.२.१५ भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दल :

भारत में तीन प्रकार के क्षेत्रीय दल हैं। पहले वे हैं जो वास्तव में जाति, धर्म, क्षेत्र या सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन पर आधारित हैं इनमें डीएमके, अकाली दल, शिवसेना, नेशनल कांफ्रेंस तथा उत्तर-पूर्व के कुछ आदिवासी संगठन हैं। दूसरे वे हैं जो किसी समस्या विशेष को लेकर अथवा सदस्यों की क्षुब्धता के कारण राष्ट्रीय दलों से अलग होकर बने हैं। इनमें भारतीय क्रांति दल, बंगला कांग्रेस, विशाल हरियाणा, उत्कल कांग्रेस तथा केरल कांग्रेस आदि प्रमुख हैं। तीसरे वे दल हैं जो विचारधारा तथा लक्ष्यों के आधार पर तो राष्ट्रीय दल हैं परन्तु उनका समर्थन केवल कुछ लक्ष्यों तथा कुछ मामलों में केवल कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित है। इस प्रकार के दल फारवर्ड ब्लॉक, सोशलिस्ट यूनिटी सेंटर, मुस्लिम लीग आदि शामिल हैं।

अकाली दल :

अकाली दल केवल पंजाब तक सीमित है। गुरुद्वारों को परंपरानिष्ठ सिख समुदाय के अधिकार क्षेत्र में लाने के लिए एक सुधार समूह के रूप में अकाली दल का सर्वप्रथम गठन किया गया। 1925 में अकाली प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा गुरुद्वारों को वयस्क मताधिकार द्वारा सिख समुदाय में से चुनी हुई एक समिति के अधिकार क्षेत्र में लाने में सफल हुए। समितियों के सौ से अधिक गुरुद्वारों पर नियंत्रण तथा उनकी दान संपत्ति ने पंजाब में अकाली दल की स्थिति को पर्याप्त शक्तिशाली बना दिया। धार्मिक दृष्टि से यह पंथ की सुरक्षा के लिए बना है। राजनीतिक दृष्टि से अपने संविधान के अनुसार यह एक ऐसे वातावरण के निर्माण के लिए बनाई गई जिसमें सिख राष्ट्रीय अभिव्यक्ति को पूरी संतुष्टि प्राप्त हो सके।

अकाली दल के चुनाव घोषणा पत्र में दावा किया गया है कि अकाली दल आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक न्याय के आधार पर खड़ा राजनीतिक दल है जिसका उद्देश्य अधिनायकवाद का विरोध और व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करना है। यह दल पंजाबी और अन्य संबंधित क्षेत्रों में गुरुमुखी भाषा और लिपि के अधिकाधिक प्रयोग का विशेष समर्थक है।

अकाली दल मुख्यतया पंजाब के कृषकों का राजनीतिक दल है। इसने भूमि सुधार कानूनों की क्रियान्विति, कृषि के आधुनिकीकरण, कृषकों को फसलों का उचित मूल्य दिलवाने और खाद के दाम कम करवाने की बात की है। अब अकालीदल कथित अनावश्यक भूमि सुधारों का विरोध करता है और शहरी संपति की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिए तत्पर है। इसी प्रकार किसानों को उचित न्यूनतम कीमत दिलवाने, 1 एकड़ तक की भूमि पर राजस्व छूट, सिंचाई की अधिक सुविधाएं, गांवों को बिजली, सस्ते दामों पर खाद, कृषकों को बैंकों और अन्य संस्थाओं से ऋण आदि की सुविधाओं के लिए यह दल विशेष रूप से प्रयासरत है।

पंजाब में रहने वाले हिन्दू, हरिजन और एक सीमा तक शहरी सिख अकाली दल को समर्थन नहीं देते। इसी कारण अकाली दल अकेले विधानसभा में बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता।

द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम और अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम :

तमिलनाडु राज्य में द्रविड़ कड़गम एक स्थानीय द्रविड़ आंदोलन की राजनीतिक शक्ति का प्रतीक है। इसकी मूल जड़ें जस्टिस पार्टी दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ में थी जो एक गैर ब्राह्मण आंदोलन था। पेरियर के नाम से प्रसिद्ध ई. व. रामास्वामी नाइकर ने राजनीति को तमिल रूप देने का कार्यक्रम शुरू किया और तमिलनाडु में एक नए राज्य द्रविड़स्तान बनाने की मांग रखी। 1944 में पेरियर ने द्रविड़ कड़गम नाम से जस्टिस पार्टी का पुनर्निमाण किया और स्वतंत्र द्रविड़स्तान की प्राप्ति अपना एक लक्ष्य रखा। इसने तमिल समुदाय को एक पूर्ण इकाई के रूप

में राजनीतिक गतिविधियों द्वारा ऊंचा उठाने के लिए प्रोत्साहित किया। यह ब्राह्मण व धर्म विरोधी दल था।

पेरियर के मुख्य समर्थक व द्रविड़ कड़गम के एक समूह के नेता सीएन अन्नादुराई ने 1949 में एक नए दल द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम का गठन किया जो पेरियर की प्रजातंत्र विरोधी नीति के खिलाफ था। जल्द ही इस दल को तमिल राजनीति में विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया।

अन्ना डीएमके : डीएमके के अध्यक्ष करूणानिधि और कोषाध्यक्ष एमजी रामचंद्रन के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने पर 1972 में रामचंद्रन ने डीएमके से अलक होकर अन्ना डीएमके का निर्माण किया। इसका प्रभाव क्षेत्र तमिलनाडु और पांडिचेरी में है। अपनी स्थापना के समय से ही अन्ना डीएमके मूल नीति यथासंभव केंद्र के शासक दल के साथ सहयोग करने की रही है।

तमिलनाडु के दोनों क्षेत्रीय दलों की राज्य में नीति एक सी है तथा दोनों ही अखिल भारतीय संदर्भ में केंद्र में सत्तारूढ़ दलों- चाहे कांग्रेस हो या जनता पार्टी, साथ देते रहे हैं या देने के इच्छुक रहे हैं।

नेशनल कांफ्रेंस :

इस दल की मूल जड़ 193 के दशक में वाचनालय दल के रूप में थी। शेख मोहम्मद अब्दुल्ला इस छोटे से दल के राजनीतिक वाद-विवादों का नेतृत्व करते रहे। शीघ्र ही यह दल अखिल जम्मू व कश्मीर मुस्लिम कांग्रेस बन गया। विभाजन के समय नेशनल कांफ्रेंस के नेता जेल में थे। भारतीय संघ में कश्मीर के विलय के बाद शेख अब्दुल्ला प्रधानमंत्री बने। उन्होंने भारतीय संविधान सभा पर अनुच्छेद 37 को स्वीकार करने पर जोर डाला, जिसके अंतर्गत जम्मू व कश्मीर के भारत के साथ विशेष संबंध स्थापित किए गए।

केंद्रीय सरकार के साथ कश्मीर के मामलों के एकीकरण की प्रक्रिया का शेख अब्दुल्ला व उनके दल ने विरोध किया। इससे इन्हें अगस्त, 1953 में कैद व नजरबंद कर दिया गया। जनवरी, 1964 में मुख्यमंत्री सादिक ने नेशनल कांफ्रेंस कश्मीर स्वतंत्रता के सबसे पुराने दल के उन्मूलन पर अध्यक्षता की। भूतपूर्व प्रधान बक्शी गुलाम मुहम्मद ने स्वयं अपने नेतृत्व में नेशनल कांफ्रेंस को पुनर्जीवित करने का निर्णय लिया।

मुस्लिम लीग :

196 में स्थापित यह दल देश के विभाजन के बाद भारत से लगभग समाप्त हो गया। 197 के लगभग यह पहले केरल और फिर तमिलनाडु में सक्रिय हो गया। 1977 में इसने दो सीटें जीतीं। केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तर भारत के कुछ राज्यों में यह दल अपने प्रभाव के सचेष्ट है। 1981-82 में लीग के नेता मोहम्मद कोया केरल के मुख्यमंत्री भी रह चुके हैं। केवल केरल में इसका अच्छा प्रभाव है।

तेलगू देशम :

1983 के आंध्र विधानसभा के चुनावों से 9-1 माह पूर्व इस दल की स्थापना की गई। आंध्र प्रदेश कांग्रेस का गढ़ रहा है और तेलगूदेशम की स्थापना कांग्रेस शासन की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई है। इसकी स्थापना में फिल्मी अभिनेता एनटी रामाराव की मुख्य भूमिका रही है। इसके गठन में प्रदेश के कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों का हाथ है जिनकी राजनीतिक आकांक्षाएं किसी से छिपी नहीं हैं। इसी सिलसिले में ईनाडु समाचार पत्र के संस्थापक रामूजीराव का नाम चर्चित हो गया। रामूजीराव और उनके साथियों ने कई वर्षों से पूरे आंध्र प्रदेश में क्षेत्रीय भावनाओं पर आधारित सूचना तंत्र की स्थापना की थी जिसके आधार पर वे किसी भी समय क्षेत्रीय दल का गठन कर सकते थे क्योंकि वे समझ चुके थे कि कांग्रेस के शासन से प्रदेश के लोग क्षुब्ध हैं, लेकिन कोई विकल्प न होने के कारण जनता मजबूर थी।

केरल अन्य राज्यों की तुलना में बहुत छोटा है पर यहां बहुत सी क्षेत्रीय पार्टियां हैं। कांग्रेस के नाम पर चार – कांग्रेस आई, कांग्रेस एस, केरल कांग्रेस मणिगुट व केरल कांग्रेस जोजेफ गुट हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के नाम पर दो और मुस्लिम लीग के नाम पर भी दो पार्टियां हैं। कर्नटक में देवराज अर्स ने कांग्रेस की गतिविधियों से निराश होकर क्रांति रंगा की स्थापना की।

मेघालय में दो क्षेत्रीय पार्टियां प्रमुख हैं – आल पार्टी हिल लीडर्स कांफ्रेंस तथा हिल स्टेट पिपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी, मेघालय की दोनों क्षेत्रीय पार्टियां स्थानीय स्वायतता की मांग तो करती हैं, लेकिन देश की अखंडता का विरोध नहीं करती। मणिपुर में मणिपुर हिल यूनियन, कूकी नेशनल एसेंबली और मणिपुर जनमुक्ति सेना आदि प्रमुख क्षेत्रीय दल हैं। त्रिपुरा में एक प्रमुख क्षेत्रीय दल त्रिपुरा उपजाति युवा समिति है। मिजोरम में भी कई क्षेत्रीय दल हैं जिनमें पिपुल्स कांफ्रेंस तथा मिजो यूनियन पार्टी उल्लेखनीय है। लाल डेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट वहां हिंसा में लिप्त है।

निष्कर्ष :

कम्युनिस्ट पार्टी ने पश्चिमी बंगाल तथा त्रिपुरा में कांग्रेस ई को छोड़कर सब गुटों को समाप्त कर दिया और असम व बिहार पर भी अपना प्रभाव क्षेत्र फैला दिया। केरल में उसकी स्थिति मजबूत है। इसका अर्थ है कि अखिल भारतीय संगठन व नीतियां होते हुए भी मार्क्सवादी दल क्षेत्रीय रह गया है।

यह सही है कि भारत के राजनीतिक नेतृत्व में धीरे–धीरे फेरबदल आ रहा है। पर यह क्षेत्रीय न होकर आर्थिक–सामाजिक है। एनटी रामाराव यदि अर्थ संपन्न परन्तु सत्ताविहीन कम्मा जाति के प्रतीक बनकर न आते तो क्या उनको जो बहुमत मिला–मिल सकता था। तेलंगाना में रेड्डी के प्रभुत्व के बावजूद कांग्रेस को काफी समर्थन मिला। तमिलनाडु का हिंदी विरोध हो या असम की विदेशियों की समस्या हो, मूल कारण आर्थिक सुविधाओं के संरक्षण व बंटवारे का सवाल है। पंजाब का जाट सिख भी यह अनुभव करता है कि धन उसके पास है, उसके पास संख्या बल भी है, पर सिख के नाम पर मौर किसी और के बंध जाता है। सेना में अवसरों की कमी उसके लिए पंथ की रक्षा से ज्यादा महत्वपूर्ण है। प्रश्न है इन समस्याओं के हल का विश्वास पैदा करने का।

१५.३ सारांश :

भारत में राजनीतिक दलों का अध्ययन करने का प्रयास जटिल तथा संभ्रांति है। उनकी बढ़ती संख्या, उतार–चढ़ाव, जोड़–तोड़, मिलन–जुदाई, अनेक बहुमुखी आधार, उद्देश्य, कार्यक्रम तथा कार्यप्रणाली ने भारत की राजनीतिक व्यवस्था को सजीव परन्तु जटिल बना दिया है। भारतीय समाज के बहुलवादी स्वरूप तथा विकास के असमान रूप से यह जटिलता और भी बढ़ी है। इन सबके बीच कांग्रेस दल एक वट वृक्ष की भांति खड़ा है जिसके चारों ओर पौधे उगे हुए हैं, पर उनमें से कोई बढ़ नहीं रहा है।

राष्ट्रीय या अखिल भारतीय दल वे हैं जिनकी संसद तथा लोकसभा एवं राज्य–विधानमंडलों में पर्याप्त सदस्य संख्या है तथा जिनको पर्याप्त मत प्राप्त हुए हैं। ऐसे दल दो प्रकार के हैं – बिना विचारधारा के और विचारधारा पर आधारित दल। बिना विचारधारा वाले दलों में कांग्रेस और संगठन कांग्रेस को लिया जा सकता है। विचारधारा से अभिप्राय है किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक दर्शन में विश्वास और प्रतिबद्धता व्यक्त करना। दोनों कांग्रेस दलों को वैचारिक दृष्टि से तटस्थ दल कहा जा सकता है।

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई थी। राष्ट्रीय आंदोलन तथा स्वतंत्रता संग्राम में कांग्रेस की भूमिका इतनी अधिक महत्वपूर्ण थी कि राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास तथा कांग्रेस के इतिहास में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। देश की आजादी के बाद केंद्रों तथा राज्य सरकारों की स्थापना इस दल ने की थी, लेकिन यह अपनी एकता को स्थिर न रख सका और इसका कई बार विभाजन हुआ।

1952 के साधारण चुनावों से एक साल पहले भारतीय जनसंघ नामक एक राजनीतिक दल स्थापित हुआ था। इसकी स्थापना में महान हिन्दू नेता श्यामा प्रसाद मुखर्जी का विशेष योगदान था। यह दल 1977 तक भारतीय राजनीति में सक्रिय रहा। इस दल के सदस्यों का राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साथ भी बहुत गहरा संबंध था। इस जत्थेबंदी को प्राय: हिन्दुओं की जत्थेबंदी समझा जाता था। इनका संबंध इतना गहरा था कि जनसंघ दल के सभी नेता आरएसएस के भी सदस्य थे तथा जनसंघ को आरएसएस का राजनीतिक अंग माना जाता था। 1977 में इस दल में फूट पड़ गई। 4 अप्रैल, 1988 को जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव द्वारा यह निर्णय लिया कि जनता पार्टी के सदस्य आरएसएस अथवा किसी अन्य जत्थेबंदी के सदस्य नहीं हो सकते। यह निर्णय भूतपूर्व जनसंघ के उन सदस्यों को स्वीकार नहीं था जो जनता पार्टी में शामिल हो चुके थे। इसलिए इस निर्णय पर विचार करने के लिए उन सदस्यों ने अपने समर्थकों का सम्मेलन 5-6 अप्रैल, 1988 को नई दिल्ली में किया। इस सम्मेलन में जनता पार्टी से संबंध तोड़ने तथा एक नए राजनीतिक दल की स्थापना करने का निर्णय लिया गया। इस निर्णयानुसार 6 अप्रैल, 1988 को भारतीय जनता पार्टी नामक राजनीतिक दल अस्तित्व में आया। पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी को इस नए राजनीतिक दल का प्रधान चुना गया। कमल का फूल इसका चुनाव निशान बना तथा इसके ध्वज में हरा व केसरी रंग को शामिल किया गया।

जब भारत गुलाम था तो 1924 में साम्यवादी दल की स्थापना हुई थी। आजादी के बाद भारतीय राजनीति में अपना स्थान बनाने का प्रयास किया लेकिन दल में एकता नहीं थी। इसमें कुछ ऐसे लोग थे जो कांग्रेस को प्रगतिशील दल समझते थे और नेहरू के समाजवादी जयघोषों पर विश्वास था। ऐसे व्यक्तियों को वामपक्षीय कहा जाता था। दूसरा गुट कांग्रेस को उद्योगपतियों, जागीरदारों और पूंजीपतियों का दल मानता था। यह फूट 1962 में स्पष्ट रूप से सामने आ गई। जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो साम्यवादी दल को आंतरिक विरोध का सामना करना पड़ा। दांए पक्षीय नेताओं ने चीन के आक्रमण का विरोध किया लेकिन दल की यह कार्रवाई वामपंथियों को उचित न लगी। अंत में 1964 में वामपंथियों ने साम्यवादी दल से अपने संबंध तोड़ लिए और एक दल का निर्माण किया जिसे भारत का साम्यवादी (मार्क्सवादी) दल कहा जाता है।

१५.४ सूचक शब्द :

राजनीतिक दल : राजनीतिक दल ऐसे नागरिकों का संगठित समूह है जिनका एक जैसा राजनीतिक दृष्टिकोण होता है और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए सरकार को नियंत्रित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जब देश में सरकार को नियंत्रित करने का कार्य जनता करती है तो इसके लिए राजनीतिक दल आवश्यक बन जाते हैं। दल एक सरकार से विभिन्न समूहों से युक्त समाज और मतदाताओं के रूप में कार्य करने वाले व्यक्तियों के बीच एक कड़ी है। दल का मुख्य उद्देश्य अन्य मतों और नीतियों को प्रमुख बनाना है। इसके लिए राज्य में व्यवस्थापिका पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। चुनाव लड़ना और यथासंभव सीटें जीतना राजनीतिक दल का मुख्य कार्य बन जाता है।

राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष दल : राष्ट्रीय या अखिल भारतीय दल वे हैं जिनकी संसद तथा लोकसभा एवं राज्य-विधानमंडलों में पर्याप्त सदस्य संख्या है तथा जिनको पर्याप्त मत प्राप्त हुए हैं। ऐसे दल दो प्रकार के हैं - बिना विचारधारा के और विचारधारा पर आधारित दल। बिना विचारधारा वाले दलों में कांग्रेस और संगठन कांग्रेस को लिया जा सकता है। विचारधारा से अभिप्राय है किसी विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक दर्शन में विश्वास और प्रतिबद्धता व्यक्त करना। दोनों कांग्रेस दलों को वैचारिक दृष्टि से तटस्थ दल कहा जा सकता है।

१५.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. भारतीय राजनीतिक दलों के बारे में विस्तार से लिखें।
२. भारतीय राजनीतिक दलों की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।
३. भारतीय राजनीतिक दलों के गुणों के बारे में चर्चा करें।
४. भारतीय राजनीतिक दलों की आलोचना की चर्चा करें।

१५.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।
भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।
मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।
राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।
दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।
राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।
ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।

भारत में चुनावी प्रक्रिया

लेखक : प्रो. मदनलाल गोयल
पुनरीक्षक : प्रो. बी. के. कुठियाला
एस. आई. एम. शैली में परिवर्तन :

अध्याय संरचना :

इस अध्याय में हम भारत में चुनावी प्रक्रिया के बारे में चर्चा करेंगे। इसके तहत चुनावों का महत्व, चुनाव और चुनाव आयोग, चुनाव आयोग की रचना, चुनाव आयोग के कार्य, चुनाव आयोग का महत्व, चुनाव प्रणाली के मुख्य दोष और चुनाव प्रणाली में सुधार के सुझाव आदि विषयों का अध्ययन किया जाएगा।

अध्याय की संरचना इस प्रकार होगी :

१६.० उद्देश्य
१६.१ परिचय
१६.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति
१६.२.१ चुनावों का महत्व
१६.२.२ चुनाव और चुनाव आयोग
१६.२.३ चुनाव आयोग की रचना
१६.२.४ चुनाव आयोग के कार्य
१६.२.५ चुनाव आयोग का महत्व
१६.२.६ चुनाव प्रणाली के मुख्य दोष
१६.२.७ चुनाव प्रणाली में सुधार के सुझाव
१६.३ सारांश
१६.४ सूचक शब्द
१६.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
१६.६ संदर्भित पुस्तकें

१६.० उद्देश्य :

इस अध्याय के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

चुनावों का महत्व जानना
चुनाव और चुनाव आयोग के बारे में जानकारी लेना
चुनाव आयोग की रचना समझना
चुनाव आयोग के कार्य जानना
चुनाव आयोग का महत्व समझना
चुनाव प्रणाली के मुख्य दोषों का पता लगाना
चुनाव प्रणाली में सुधार के सुझावों का अध्ययन करना

१६.१ परिचय :

स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव लोकतंत्र की बुनियाद होते हैं। चुनावों के माध्यम से किसी राज्य व राष्ट्र की जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है। ये प्रतिनिधि विधानमंडलों में विधायक के रूप में तथा संसद में सांसदों के रूप में राज्य एवं देश की नीतियां व कानून बनाते हैं। इसलिए चुनाव प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए कि जनता स्वच्छ छवि वाले एवं देश व राज्यहित में काम करने वालों को अपना प्रतिनिधि बनाकर विधानमंडल व संसद में भेज सके। भारत दुनिया का सबसे बडा लोकतंत्र होने के कारण यहां चुनावों की अहमियत और भी बढ जाती है।

इस अध्याय में हम चुनावों का महत्व, चुनाव और चुनाव आयोग, चुनाव आयोग की रचना, चुनाव आयुक्त व कर्मचारी, चुनाव आयोग के कार्य, चुनाव आयोग का महत्व, चुनाव प्रणाली में दोष व चुनाव प्रणाली में सुधार के सुझावों पर चर्चा करेंगे।

१६.२ विषय वस्तु की प्रस्तुति :

इस अध्याय में के बारे में चर्चा करेंगे। अध्याय में विषय वस्तु की प्रस्तुति निम्न प्रकार से होगी :

चुनावों का महत्व
चुनाव और चुनाव आयोग
चुनाव आयोग की रचना
चुनाव आयोग के कार्य
चुनाव आयोग का महत्व
चुनाव प्रणाली के मुख्य दोष
चुनाव प्रणाली में सुधार के सुझाव

१६.२.१ भारत में चुनाव का महत्व :

चुनाव ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और किसी हद तक उन पर नियंत्रण भी रखती है। चुनावों के महत्व अथवा चुनावों कार्य निम्न हैं :

1. जनता अपने शासकों का चयन करती है : निर्वाचन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मतदाता अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं। निर्वाचन के माध्यम से ही संसद और विधानमंडलों का गठन होता है, सरकार बनती है और राष्ट्रपति का निर्वाचन संभव हो पाता है। राष्ट्रपति राज्यपालों तथा उच्चम व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों

की नियुक्ति करता है और इस तरह शासन का सारा ढांचा खड़ा हो पाता है।

2. जनता शासकों पर नियंत्रण रखती है : विजयी प्रत्याशियों को अगले चुनावों में जनता से पुन: वोट मांगने होंगे, इसलिए उन्हें यह बताना पड़ेगा कि उनकी क्या उपलब्धियां रही हैं।

3. चुनाव कई खास मुद्दों को लेकर लड़े जाते हैं : राजनीतिक दल अपने घोषणा पत्र में ऐसी बातें रखते हैं जिससे पार्टी को सभी वर्गों का समर्थन मिल सके।

4. सरकार का वैधीकरण हो जाता है : चुनावों के माध्यम से सरकार को कानूनी मान्यता मिलती है। यही कारण है कि क्रांति के बाद शासकों की पहली घोषणा यही होती है कि देश में शीघ्र ही स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराए जाएंगे।

5. चुनाव सरकार के लोकतंत्रीय स्वरूप को प्रकट करते हैं : लोकतंत्र को जनता का शासन कहते हैं, परन्तु वास्तविकता यही है कि शासन के कार्यों में जनता की सांझेदारी बहुत सीमित है।

6. हिंसक क्रांति का भय समाप्त हो जाता है : मताधिकार नागरिकों के हृदय में शासन के प्रति निष्ठा और भक्ति की भावना उत्पन्न करता है।

१६.२.२ चुनाव और चुनाव आयोग :

प्रजातंत्र की सफलता स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों पर ही निर्भर करती है और इस संबंध में निर्वाचन तंत्र का विशेष महत्व है। स्वतंत्र निर्वाचन तंत्र के महत्व को स्वीकारते हुए भारतीय संविधान के एक पृथक अध्याय में चुनाव से संबंधित संपूर्ण व्यवस्था की गई है।

संविधान के अनुच्छेद 324 में चुनावों की व्यवस्था के लिए चुनाव आयोग का उल्लेख किया गया है। चुनाव राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति पद तथा संसद और विधानसभा आदि के लिए होंगे। चुनाव आयोग में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा ऐसे अन्य चुनाव आयुक्त होंगे जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करे। जब इस प्रकार कोई अन्य आयुक्त नियुक्त किया गया हो तो मुख्य चुनाव आयुक्त चुनाव आयोग में सभापति की भांति कार्य करेगा। राष्ट्रपति चुनाव आयुक्त के परामर्श पर आवश्यक क्षेत्रीय आयुक्तों की नियुक्ति करेगा।

चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल तथा सेवा शर्तें राष्ट्रपति नियमानुसार निश्चित करेगा। मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति के बाद उसके सेवाकाल की शर्तों में उसके हितों के विरुद्ध कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकेगा। मुख्य चुनाव आयुक्त को केवल उसी प्रकार पदच्युत किया जा सकता है जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को।

चुनाव आयोग के कहने पर राष्ट्रपति या संबंधित राज्य के राज्यपाल चुनाव संबंधी कर्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक कर्मचारी देंगे। चुनाव आयोग से तात्पर्य मुख्य चुनाव आयुक्त व क्षेत्रीय चुनाव आयुक्त आदि कर्मचारियों से है।

१६.२.३ चुनाव आयोग की रचना :

चुनाव आयोग की रचना का वर्णन संविधान के अनुच्छेद 324 में किया गया है। इसके अनुसार एक मुख्य चुनाव आयुक्त व कुछ चुनाव आयुक्त होंगे जिनकी संख्या राष्ट्रपति निर्धारित करेगा। चुनाव आयुक्तों और क्षेत्रीय आयुक्तों के कार्यकाल तथा सेवाकाल संबंधी शर्तें और कार्यविधि संसद द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार राष्ट्रपति

द्वारा निश्चित की जाती है।

1 अक्टूबर, 1993 को केंद्र सरकार ने दो नए चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति कर चुनाव आयोग को तीन सदस्यीय बनाने का महत्वपूर्ण कदम उठाया। इस पर गतिरोध को दूर करने के इरादे से सर्वोच्च न्यायालय ने 15 नवंबर, 1993 को अपने आदेश में कहा कि आयोग के कामकाज पर मुख्य चुनाव आयुक्त का पूरा नियंत्रण रहेगा तथा दो अन्य चुनाव आयुक्त कर्मचारियों तथा बाहरी जेसियों को कोई निर्देश नहीं दे सकते। 14 जुलाई 1995 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपना ऐतिहासिक निर्णय सुनाते हुए टीएन शेषन व अन्य दोनों चुनाव आयुक्तों को एक समान दर्जा देने की व्यवस्था संबंधी राष्ट्रपति के अध्यादेश को वैध ठहराया। इसमें मुख्य चुनाव आयुक्त टीएन शेषन का दावा रद्द हो गया कि वह चुनाव आयोग में सर्वोच्च हैं। इसके साथ ही सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 1993 के अंतरिम आदेश को वापस ले लिया। जून, 21 को मुख्य चुनाव आयुक्त एमएस गिल के अवकाश ग्रहण करने के बाद चुनाव आयोग के सदस्य जेएम लिंगदोह को मुख्य चुनाव आयुक्त नियुक्त किया गया।

नियुक्ति : अनुच्छेद 324 (2) के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त, अन्य चुनाव आयुक्तों तथा क्षेत्रीय चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा संसद निर्मित कानून की धाराओं के अनुसार करेगा। व्यवहार में मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति मंत्रिमंडल की सलाह पर करता है।

योग्यताएं : इस संबंध में कोई कानून नहीं बनाया गया है।

कार्यकाल : चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा निश्चित किया जाएगा। वर्तमान कानून के अनुसार मुख्य चुनाव आयुक्त 6 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है।

पद से हटाने की विधि : मुख्य चुनाव आयुक्त को उसी प्रकार हटाया जा सकता है जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को। उसे राष्ट्रपति तभी हटा सकता है जब उसके विरुद्ध दुराचार तथा अक्षमता का आरोप सिद्ध हो जाए और दोनों संसदों से इस बारे में दो तिहाई बहुमत प्राप्त हो जाए।

सेवा शर्तें : संविधान के अनुसार चुनाव आयुक्त, अन्य चुनाव आयुक्तों तथा क्षेत्रीय चुनाव आयुक्तों का वेतन तथा अन्य सेवा संबंधी शर्तें राष्ट्रपति द्वारा इस संबंध में बनाए गए कानून के अनुसार निश्चित की जाती है, परन्तु संविधान में यह व्यवस्था भी की गई है कि इनकी नियुक्ति के बाद सेवा शर्तों में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता जिससे उनको हानि होती हो।

चुनाव आयोग के कर्मचारी : संविधान के अनुसार आयोग अपने कार्यों को पूरा करने के लिए राष्ट्रपति तथा राज्यपालों से आवश्यक कर्मचारियों की मांग कर सकता है और उनकी व्यवस्था उनका ही काम है।

१६.२.४ चुनाव आयोग के कार्य :

1. चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन : चुनाव आयोग का पहला काम चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन होता है। संसद द्वारा पारित परिसीमन आयोग अधिनियम 1952 में प्रावधान है कि दस वर्ष में होने वाली प्रत्येक जनगणना के बाद निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त ही इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त इनमें दो सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते हैं। जनता द्वारा व्यक्तिगत या संगठित रूप से आयोग के सम्मुख सुझाव आपत्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं।

2. मतदाता सूचियां तैयार करना : चुनाव आयोग द्वारा चुनाव से पूर्व मतदाता सूचियां तैयार करवाई जाती

हैं और इसके संपन्न होने पर ही चुनाव होते हैं।

3. विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना : राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करने के लिए आयोग द्वारा कोई आधार निश्चित किया जाता है। वर्तमान नियम के अनुसार राष्ट्रीय दलों के रूप में किसी दल की मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है जब उसे आम चुनावों में कम से कम चार राज्यों में चार प्रतिशत मत मिले हों।

4. आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करना : आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करता है। यदि किसी चुनाव चिह्न के प्रश्न पर दो दलों के बीच विवाद हो जाए तो आयोग से उसे निष्पक्ष ढंग से निपटाने की अपेक्षा की जाती है।

5. अर्द्ध-न्यायिक कार्य : आयोग को कुछ अर्द्ध-न्यायिक कार्य भी सौंपे गए हैं जिनमें दो उल्लेखनीय हैं : अनुच्छेद 13 के अंतर्गत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों को अयोग्यताओं के संबंध में परामर्श कर सकता है तथा 192वें अनुच्छेद के अंतर्गत राज्य विधानमंडल के सदस्यों के संबंध में यह अधिकार राज्यपालों को दिया गया है।

6. राज्य विधानमंडलों के लिए चुनाव करना : चुनाव आयोग सभी राज्यों के विधानमंडलों के चुनाव की व्यवस्था करता है। वर्तमान में केवल 5 राज्यों में विधानमंडल के दो सदन - विधानसभा और विधान परिषद हैं। अन्य सभी राज्यों में केवल विधानसभाएं हैं।

7. संसद के चुनाव कराना : चुनाव आयोग संसद के दोनों सदनों - लोकसभा और राज्यसभा के चुनावों की व्यवस्था करता है। लोकसभा का सामान्य कार्यकाल 5 वर्ष है, लेकिन उसे इससे पहले भी भंग कर दिया जाता है, तब चुनाव आयोग मध्यावधि चुनाव कराता है। राज्यसभा के एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष के पश्चात रिटायर हो जाते हैं। इसलिए राज्यसभा के एक तिहाई सदस्यों का चुनाव आयोग द्वारा प्रत्येक दो वर्ष के पश्चात करवाया जाता है।

8. राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के लिए चुनाव कराना : चुनाव आयोग राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव करवाता है। राष्ट्रपति के चुनाव में संसद के दोनों सदनों के सदस्य भाग लेते हैं। आयोग मतदाता सूची तैयार करवाने से लेकर विजयी प्रत्याशी की घोषणा तक का पूरा काम करता है।

9. राजनीतिक दलों का पंजीकरण : प्रत्येक राजनीतिक दल का चुनाव आयोग के पास पंजीकरण अनिवार्य है। चुनाव आयोग ने राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दलों के अतिरिक्त 682 राजनीतिक दलों का पंजीकरण अपने पास किया हुआ है।

10. चुनाव चिह्न देना : राजनीतिक दलों तथा आजाद उम्मीदवारों को चुनाव चिह्न चुनाव आयोग द्वारा दिए जाते हैं। राष्ट्रीय व क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त दलों के चुनाव चिह्न सुरक्षित व स्थायी होते हैं।

11. चुनाव कर्मचारियों पर नियंत्रण : चुनाव करवाने के लिए केंद्र व राज्य सरकारों द्वारा चुनाव कार्य के लिए दिए गए कर्मचारियों पर चुनाव आयोग का नियंत्रण होता है।

12. पर्यवेक्षकों की नियुक्ति : निष्पक्ष और स्वतंत्र चुनाव करवाने के लिए आयोग पर्यवेक्षकों की नियुक्ति करता है।

13. चुनाव संबंधी व्यवहार संहिता निर्धारित करना : चुनाव व्यवहार संहिता जारी कर उसके पालन के लिए चुनाव आयोग आवश्यक दिशा-निर्देश जारी करता हे। इसके उल्लंघन के आरोपों की जांच आयोग द्वारा की जाती है। 1991 के चुनाव आयोग ने हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के मुख्य सचिवों से पूछा कि

चुनाव प्रक्रिया से जुड़े वरिष्ठ अधिकारियों का स्थानांतरण किन कारणों से किया गया।

14. मतदान केंद्र स्थापित करना : चुनाव के समय कितने मतदान केंद्रों की स्थापना आवश्यक है, इसका निर्णय चुनाव आयोग ही करता है।

15. सदस्यों की अयोग्यता संबंधी विवादों के संबंध में सलाह देना : संविधान में विधानमंडल व संसद सदस्यों संबंधी कुछ अयोग्यताएं निश्चित की गई हैं। यदि संसद के लिए निर्वाचित किसी सदस्य की योग्यता के संबंध में कोई विवाद उत्पन्न हो जाए तो उस विवाद का निर्णय राष्ट्रपति चुनाव आयोग की सलाह से करता है। यही प्रक्रिया विधानमंडलों में अपनाई जाती है।

16. चुनाव क्षेत्र में पुन: मतदान : यदि किसी चुनाव क्षेत्र में या किसी मतदान केंद्र पर भ्रष्ट तरीकों से कोई गड़बड़ी होती है तो चुनाव आयोग वहां पुन: मतदान के आदेश दे सकता है।

17. चुनाव सुधारों के सुझाव : चुनाव आयोग समय-समय पर चुनाव सुधारों की सिफारिशें करता है।

१६.२.५ चुनाव आयोग का महत्व :

भारत का चुनाव आयोग जनता के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण संस्था है। इतने बड़े देश में चुनावों का प्रबंध करना कोई मामूली बात नहीं है। भारत में लोकतंत्र की सफलता स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों पर आधारित है और इसके लिए चुनाव आयोग ही बधाई का पात्र कहा जा सकता है कि चुनाव निष्पक्ष व स्वतंत्र होते आए हैं।

१६.२.६ चुनाव प्रणाली में मुख्य दोष :

आज प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का युग है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है और वे प्रतिनिधि ही शासन चलाते हैं। इस प्रकार प्रजातंत्र में चुनावों का होना अनिवार्य है परन्तु चुनाव में उम्मीदवार और उनके समर्थक ईमानदारी, नैतिकता तथा शुद्धता से काम नहीं लेते तथा अपने को सफल बनाने के लिए बहुत से भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। किसी भी देश में लोकतंत्र को जीवित व सफल रखने के लिए यह बात भी आवश्यक है कि वहां चुनाव उचित ढंग से हों और भ्रष्टाचार की उनमें लेशमात्र भी बात न हो। भारत की चुनाव प्रणाली में निम्न दोष हैं :

1. राजनीतिक दलों को प्राप्त जनसमर्थन और स्थानों के अनुपात में गंभीर अंतर : भारत में साधारण बहुमत की जो निर्वाचन पद्धति अपनाई गई है उसके अंतर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से वह उम्मीदवार निर्वाचित घोषित होता है जिसे सबसे अधिक मत मिले हों, चाहे पराजित उम्मीदवारों को मिले मतों का योग उससे कितना ही अधिक हो। इससे उस दल को सरकार बनाने का अवसर मिल जाता है जिसे देश के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं होता।

2. चुनावों में धन की बढ़ती भूमिका : चुनावों में एक अत्यधिक गंभीर दोष चुनावों में धन की बढ़ती भूमिका के रूप में सामने आया है। हालांकि चुनाव में उम्मीदवार द्वारा किए जाने वाले व्यय की सीमा तय की गई है, लेकिन आमतौर पर उसका पालन नहीं होता। चुनावों में खर्च होने वाले धन को देख कोई साधारण व्यक्ति चुनाव लड़ने की सोच भी नहीं सकता। 1999 में लोकसभा चुनाव में 845 करोड़ रुपये से अधिक खर्च हुआ।

3. वोट खरीदा जाना : चुनाव में वोट खरीदे व बेचे जाते हैं। वैसे ऐसा करना अपराध है। लेकिन धनवान उम्मीदवार गरीब लोगों के मत खरीद लेता है और निर्वाचित हो जाता है।

4. सरकारी साधनों का प्रयोग : सत्तारूढ़ दल चुनाव जीतने के लिए सरकारी मशीनरी का प्रयोग करता

है जिससे चुनाव निष्पक्ष रूप से नहीं होते।

5. अनपढ़ता : भारत में अभी तक काफी मतदाता अनपढ़ हैं। चतुर और कपटी उम्मीदवार चुनाव के समय जोशीले नारे लगाकर, झूठा प्रचार करके मतदाताओं को फंसा लेते हैं और उनके वोट प्राप्त कर लेते हैं।

6. चुनाव में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग कर मतदान केंद्रों पर कब्जा: इसे सीमित करने के लिए त्रिविध उपाय किए जाने के साथ यह बढ़ती चल रही है। चुनाव में बाहुबल व हिंसा प्रयोग की सबसे अधिक प्रवृत्ति तो बिहार में है। इसके बाद उत्तरप्रदेश, हरियाणा, पं. बंगाल, जम्मू कश्मीर तथा विविध महानगरों का झोपड़ पट्टी क्षेत्र आता है। चुनाव में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग धन की बढ़ती हुई भूमिका की तुलना से भी अधिक चिंताजनक स्थिति है।

7. जाली मतदान : बल प्रयोग और मतदान केंद्रों पर जुड़ी एक स्थिति जाली मतदान है और आठवीं लोकसभा में जाली मतदान पिछले सभी रिकार्ड तोड़ गया। इस बात में सच्चाई है और लोकतंत्र के लिए चिंताजनक बात यह है कि जाली मतदान व्यापक रूप से संगठित स्तर पर होता है।

8. निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या : एक समस्या निर्दलीय उम्मीदवारों की बड़ी संख्या पैदा करती है। इससे चुनाव व्यवस्था करने में कठिनाई पैदा होती है और समस्त चुनाव दृश्य को धुंधला कर देती है। आजाद उम्मीदवार कई बार तो मखौल में चुनाव लड़ते हैं और कई बार वे चुनाव मैदान से हटने के लिए प्रमुख उम्मीदवार से धनराशि भी प्राप्त करते हैं।

9. मतदाताओं की अनुपस्थिति : अधिकांश मतदाता चुनावों में रुचि नहीं लेते और मतदान केंद्रों तक पहुंचने की तकलीफ भी नहीं करते। मतदान न करने का अर्थ है अपने अधिकार का उपयोग न करना और लोकतंत्रीय व्यवस्था को धोखा देना। अक्सर देखने में आता है कि मुश्किल से 6 प्रतिशत मतदात ही अपने मत का उपयोग करते हैं। अधिकतर मतदाताओं की अनुपस्थिति से चुनाव-संबंधी भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा मिलता है और प्राय: जाली मतदान भी होता देखा गया है।

10. प्रशासनिक तंत्र का दुरुपयोग : भारतीय चुनाव व्यवस्था की एक गंभीर त्रुटि शासक दल और मंत्रियों द्वारा दलीय लाभों के लिए प्रशासनिक तंत्र के दुरुपयोग के रूप में सामने आई है। जैसे ही चुनाव की घोषणा होती है, केंद्रीय और राज्य सरकार का ध्यान विविध संगठित वर्गों को अनेकानेक रियायतें देने की ओर चला जाता है। चुनाव के अवसर पर अक्सर राजनीतिक लाभ के लिए विकास व अन्य योजनाओं की घोषणा करते हैं। कर्मचारियों के वेतन-भत्ते बढ़ा दिए जाते हैं तथा सरकारी भवनों व वाहनों का दुरुपयोग किया जाता है।

11. निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक दबाव : निर्वाचन अधिकारियों पर राजनीतिक व अन्य दबाव और इसके फलस्वरूप उनके भ्रष्ट आचरण को अपनाए जाने के भी कुछ उदाहरण सामने आए हैं। इसके तहत मतदाता सूचियों में गड़बड़ी, मंत्रियों का चुनाव में हस्तक्षेप व प्रतिपक्षी उम्मीदवारों के नामाकंन पत्र भारी संख्या में रद्द करना आदि शामिल हैं।

12. निर्वाचन याचिकाओं पर निर्णय में अत्यधिक विलंब : निर्वाचन याचिका में बहुत अधिक खर्च होता है तथा विवादों का शीघ्र निपटारा नहीं हो पाता। यह चिंतनीय है कि जब तक याचिका का निर्णय होता है, तब तक तो लोकसभा और विधानसभा का कार्यकाल ही समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त व्यक्ति अपने पद पर बना ही रहता है।

१६.२.७ चुनाव प्रणाली में सुधार के सुझाव :

1. निष्पक्षता : चुनाव निष्पक्ष ढंग से हाने चाहिए। सत्तारूढ़ दल को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और न ही अपने दल के हित में सरकारी मशीनरी का प्रयोग करना चाहिए।

2. धन के प्रभाव को कम करना : इसके लिए पब्लिक फंड बनाना चाहिए तथा उम्मीदवारों की धन से सहायता करनी चाहिए।

3. आनुपातिक चुनाव प्रणाली : प्राय: सभी गैर कांग्रेसी दल वर्तमान में एक सदस्यीय चुनाव क्षेत्र प्रणाली से संतुष्ट नहीं हैं और भाजपा व अन्य दल आनुपातिक चुनाव प्रणाली के पक्ष में हैं।

4. सांप्रदायिकता की समाप्ति : जाति, धर्म इत्यादि के नाम पर वोट मांगने वाले उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर देना चाहिए।

5. नैतिकता : चुनावों में नैतिकता का प्रयोग किया जाना चाहिए। एक-दूसरे पर कीचड़ नहीं उछालना चाहिए और न ही झूठे वायदे करने चाहिए।

6. राष्ट्रवाद की भावना : मतदाताओं तथा उम्मीदवारों में स्थानीय भावनाओं के स्थान पर राष्ट्रीय भावनाओं का समावेश होना चाहिए।

7. उचित कानून : चुनाव में भ्रष्टाचार व अन्य दोषों को दूर करने के लिए सरकार को उचित कानून बनाने चाहिए। चुनाव के दिनों में किए जाने वाले खर्च पर भी पूरी निगरानी रखी जानी चाहिए और गलत प्रचार करने वाले उम्मीदवारों के लिए भी उचित कदम उठाए जाएं।

8. यह व्यवस्था होनी चाहिए कि चुने जाने वाले प्रत्येक उम्मीदवार को एक निश्चित वोट संख्या प्राप्त करना आवश्यक है।

9. जनता में जागृति उत्पन्न की जाए ताकि लोग धर्म, भाषा, जाति आदि के आधार पर वोट न दें।

1. मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति लोकसभा में विपक्ष के नेता, भारत के मुख्य न्यायाधीश और राज्यसभा अध्यक्ष की सलाह से की जानी चाहिए।

11. प्रत्येक राजनीतिक पार्टी के लिए चुनाव के बाद हिसाब-किताब प्रकाशित करना जरूरी होना चाहिए।

12. राजनीतिक दलों के संगठनात्मक चुनाव समयबद्ध होने चाहिए और जो दल चुनाव नहीं करवाते आयोग को उनकी मान्यता रद्द कर देनी चाहिए।

13. ऐसा कानून होना चाहिए कि कोई कंपनी किसी पार्टी को एक बार में एक लाख से अधिक तथा कोई व्यक्ति राजनीतिक कार्यों के लिए 1 हजार से अधिक चंदा न दे सके।

14. चुनाव आयोग ने सिफारिश की कि चुनाव के संपन्न हो जाने के प्रश्चात चुनाव व्यय का गलत ब्यौरा देने वाले उम्मीदवारों को जुर्माने के साथ 6 महीने से एक वर्ष का कारावास दिया जाना चाहिए।

15. सरकार को कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसके कारण मतदाता सूची में निरंतर संशोधन होता रहे। अगर किसी व्यक्ति की मृत्यु की सूचना नगरपालिका या गांव के अधिकारियों तक पहुंचती है तो ऐसी सूचना को चुनाव कार्यालय में पहुंचाने की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

16. अगर कोई व्यक्ति मताधिकार का प्रयोग नहीं करता तो उस पर जुर्माना लगाना चाहिए।

17. राजनीतिक अस्थिरता की समाप्ति के लिए मतदाताओं को संगठित व सशक्त राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों के पक्ष में मतदान करना चाहिए जिससे शासन में स्थिरता आएगी।

चुनाव सुधार के लिए गठित समिति के सुझाव : 9 जनवरी 199 को चुनाव प्रणाली की समीक्षा तथा चुनाव सुधार के लिए सर्वदलीय बैठक बुलाई गई थी। बैठक में आम सहमति न होने के कारण इस विषय पर विचार करने के लिए एक समिति गठित की गई। इस समिति ने चुनाव प्रणाली में सुधार के लिए मुख्य निम्न सुझाव दिए :

1. किसी भी निर्वाचन क्षेत्र का चुनाव सिर्फ मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल के उम्मीदवार की मृत्यु होने पर रद्द किया जाए अन्यथा नहीं।

2. चुनाव रद्द करने का आदेश मतदान शुरू होने से पहले ही दिया जाए न कि परिणाम घोषित होने के बाद।

3. समिति ने लोकसभा और विधानसभा का चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार की न्यूनतम आयु सीमा 21 वर्ष तथा राज्यसभा और विधान परिषदों के लिए 25 वर्ष करने का सुझाव दिया है।

4. किसी रिक्त सीट पर उपचुनाव 6 महीने में करा देना चाहिए। लेकिन सीट रिक्त होने के एक वर्ष के अंदर आम चुनाव होने वाले हों तो उपचुनाव नहीं कराया जाना चाहिए।

5. समिति ने बहु सदस्यीय चुनाव आयोग का सुझाव दिया है। चुनाव आयोग के तीन सदस्य होने चाहिए।

6. मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायल के न्यायाधीश तथा विपक्षी पार्टी से सलाह-मशविरा करने के बाद की जानी चाहिए। यदि विपक्ष का नेता नहीं हो तो लोकसभा में विपक्ष के सबसे बड़े दल के नेता से सलाह की जा सकती है।

7. मुख्य चुनाव आयुक्त और दोनों चुनाव आयुक्तों के बारे में ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि अवकाश ग्रहण करने के बाद उन्हें सरकार में किसी पद अथवा राज्यपाल पद पर नियुक्त न किया जा सके।

8. मुख्य चुनाव आयुक्तों का न्यूनतम कार्यकाल पांच वर्ष निर्धारित करने अथवा पद पर बने रहने की उनकी आयु 65 वर्ष निर्धारित करने की सिफारिश समिति ने की है और इन आयुक्तों पर जो व्यवस्था पहले प्रभावी होगी, वही लागू होगी। समिति का मत है कि चुनाव आयोग के सदस्य किसी भी दशा में 65 वर्ष की आयु तक और अधिकतम 1 वर्ष की कार्यावधि के लिए ही पद पर बने रह सकेंगे।

9. चुनाव कार्य में लगे अधिकारियों का तबादला सिर्फ चुनाव आयोग की सिफारिश पर ही किया जाना चाहिए।

1. समिति ने 1989 की जनगणना के अनुसार निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन करने की सिफारिश की है।

१६.३ सारांश :

चुनाव ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और किसी हद तक उन पर नियंत्रण भी रखती है। निर्वाचन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मतदाता अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं। निर्वाचन के माध्यम से ही संसद और विधानमंडलों का गठन होता है, सरकार बनती है और राष्ट्रपति का निर्वाचन संभव हो पाता है। राष्ट्रपति राज्यपालों तथा उच्चम व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है और इस तरह शासन का सारा ढांचा खड़ा हो पाता है। विजयी प्रत्याशियों को अगले चुनावों में जनता से पुन: वोट मांगने होंगे, इसलिए उन्हें यह बताना पड़ेगा कि उनकी क्या उपलब्धियां रही हैं।

चुनाव आयोग की रचना का वर्णन संविधान के अनुच्छेद 324 में किया गया है। इसके अनुसार एक मुख्य

चुनाव आयुक्त व कुछ चुनाव आयुक्त होंगे जिनकी संख्या राष्ट्रपति निर्धारित करेगा। चुनाव आयुक्तों और क्षेत्रीय आयुक्तों के कार्यकाल तथा सेवाकाल संबंधी शर्तें और कार्यविधि संसद द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा निश्चित की जाती है।

भारत का चुनाव आयेाग जनता के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण संस्था है। इतने बड़े देश में चुनावों का प्रबंध करना कोई मामूली बात नहीं है। भारत में लोकतंत्र की सफलता स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों पर आधारित है और इसके लिए चुनाव आयोग ही बधाई का पात्र कहा जा सकता है कि चुनाव निष्पक्ष व स्वतंत्र होते आए हैं। आज प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का युग है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है और वे प्रतिनिधि ही शासन चलाते हैं। इस प्रकार प्रजातंत्र में चुनावों का होना अनिवार्य है परन्तु चुनाव में उम्मीदवार और उनके समर्थक ईमानदारी, नैतिकता तथा शुद्धता से काम नहीं लेते तथा अपने को सफल बनाने के लिए बहुत से भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। किसी भी देश में लोकतंत्र को जीवित व सफल रखने के लिए यह बात भी आवश्यक है कि वहां चुनाव उचित ढंग से हों और भ्रष्टाचार की उनमें लेशमात्र भी बात न हो।

१६.४ सूचक शब्द :

चुनाव : चुनाव ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और किसी हद तक उन पर नियंत्रण भी रखती है।

शासकों का चयन : निर्वाचन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मतदाता अपने प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं। निर्वाचन के माध्यम से ही संसद और विधानमंडलों का गठन होता है, सरकार बनती है और राष्ट्रपति का निर्वाचन संभव हो पाता है। राष्ट्रपति राज्यपालों तथा उच्चम व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है और इस तरह शासन का सारा ढांचा खड़ा हो पाता है।

शासकों पर नियंत्रण : विजयी प्रत्याशियों को अगले चुनावों में जनता से पुन: वोट मांगने होंगे, इसलिए उन्हें यह बताना पड़ेगा कि उनकी क्या उपलब्धियां रही हैं।

चुनाव आयोग : चुनाव आयोग की रचना का वर्णन संविधान के अनुच्छेद 324 में किया गया है। इसके अनुसार एक मुख्य चुनाव आयुक्त व कुछ चुनाव आयुक्त होंगे जिनकी संख्या राष्ट्रपति निर्धारित करेगा। चुनाव आयुक्तों और क्षेत्रीय आयुक्तों के कार्यकाल तथा सेवाकाल संबंधी शर्तें और कार्यविधि संसद द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा निश्चित की जाती है।

चुनाव आयोग का महत्व : भारत का चुनाव आयेाग जनता के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण संस्था है। इतने बड़े देश में चुनावों का प्रबंध करना कोई मामूली बात नहीं है। भारत में लोकतंत्र की सफलता स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों पर आधारित है और इसके लिए चुनाव आयोग ही बधाई का पात्र कहा जा सकता है कि चुनाव निष्पक्ष व स्वतंत्र होते आए हैं।

चुनाव प्रणाली में दोष : आज प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का युग है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है और वे प्रतिनिधि ही शासन चलाते हैं। इस प्रकार प्रजातंत्र में चुनावों का होना अनिवार्य है परन्तु चुनाव में उम्मीदवार और उनके समर्थक ईमानदारी, नैतिकता तथा शुद्धता से काम नहीं लेते तथा अपने को सफल बनाने के लिए बहुत से भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। किसी भी देश में लोकतंत्र को जीवित व सफल रखने के लिए यह बात भी आवश्यक है कि वहां चुनाव उचित ढंग से हों और भ्रष्टाचार की उनमें लेशमात्र भी बात न हो।

१६.५ स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न :

१. भारत में चुनाव प्रक्रिया के बारे में विस्तार से लिखें।

२. भारत में चुनाव प्रक्रिया की विभिन्न विशेषताओं के बारे में चर्चा करें।

३. भारत में चुनाव प्रक्रिया की आलोचना की चर्चा करें।

१६.६ संदर्भित पुस्तकें :

एडमिनिस्ट्रेटिव थ्योरिज एंड मैनेजमेंट थॉट : शाप्रू।

भारत का संविधान एक परिचय : शर्मा।

मॉडर्न पॉलीटिकल एनालिसिस : दाहल स्टाइन रिपनर।

राजनीति विज्ञान : एक सैद्धांतिक अध्ययन : डा. ए. के. वर्मा।

दि बुलेट्स एंड बैलेट्स : दि पार्लियामेंट्री इलेक्शन्स इंन इंडिया : डा. ए. के. वर्मा।

राजनीति शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना : डा. विरेंद्र शर्मा।

ऑल इंडिया पॉलीटिकल पार्टिज : ओ. पी. रेल्हन।